ईशावास्योपनिषद्

भगवान्श्री रजनीश

संकलन :

मा योग भक्ति

सम्पादन :

स्वामी निकलंक भारती

जीवन जागृति केन्द्र प्रकाशन

प्रकाशक :

ईश्वरलाल नारायणजी शाह
अंग साधु ईश्वर समर्पण
मंत्री, जीवन-जागृति-केन्द्र,
३१, इब्रायम, मोहल्ला,
भगवान भवन, मस्जिद बन्दर रोड,
बम्बई-९.   फोन : ३२१०८५

●

संस्करण
प्रथम दिसम्बर '७१
द्वितीय सितम्बर ७३
प्रतियाँ : ५०००,

●

मूल्य : रुपये १५.००
पन्द्रह रुपये

●

मुद्रक :
अमरनाथ मलीक,
इंडिया पब्लीशिंग हाऊस,
२५१, कामदार चेंबर,
सायन–पूर्व,
बम्बई–२२.



माउण्ट आबू (राजस्थान) में ४ अप्रैल से १० अप्रैल, १९७१ तक आयोजित साधना-शिविर में ईशावास्योपनिषद् पर भगवान्श्री के तेरह अमृत प्रवचन।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है।

ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

ईशावास्योपनिषद् का यह महावाक्य कई अर्थों में अनूठा है। एक तो इस अर्थ में कि ईशावास्य उपनिषद् इस महावाक्य पर शुरू भी होता है और पूरा भी। जो भी कहा जाने वाला है, जो भी कहा जा सकता है, वह इस सूत्र में पूरा आ गया है। जो समझ सकते हैं उनके लिए ईशावास्य आगे बढ़ाने की कोई भी जरूरत नहीं है। जो नहीं समझ सकते हैं शेष पुस्तक उनके लिए ही कही गयी है। इसीलिए साधारणत: 'ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का पाठ, जो कि पुस्तक के अन्त में होता है, इस पहले वचन के ही अन्त में है। जो जानते हैं, उनके हिसाब से बात पूरी हो गयी। जो नहीं जानते हैं उनके लिए सिर्फ शुरू होती है।

इसलिए भी यह महावाक्य बहुत अद्‌भुत है कि पूरब और पश्चिम के सोचने के ढंग का भेद इस महावाक्य से स्पष्ट होता है। दो तरह के तर्क, दो तरह की लॉजिक-सिस्टम्स विकसित हुई हैं दुनिया में—एक यूनान में, एक भारत में। यूनान में जो तर्क की पद्धति विकसित हुई उससे पश्चिम के सारे विज्ञान का जन्म हुआ और भारत में जो विचार की पद्धति विकसित हुई उससे धर्म का जन्म हुआ। दोनों में कुछ बुनियादी भेद हैं। और सबसे पहला भेद यह है कि पश्चिम में, यूनान ने जो तर्क की पद्धति विकसित की, उसकी समझ है कि निष्कर्ष, (Conclusion) हमेशा अन्त में मिलता है। साधारणत: ठीक मालूम होती है बात। हम खोजेंगे सत्य को, तो खोज पहले होगी, विधि पहले होगी, प्रक्रिया पहले होगी, निष्कर्ष तो अन्त में हाथ आयेगा। इसलिए यूनानी चिन्तन पहले सोचेगा, खोजेगा, अन्त मे निष्कर्ष देगा। भारत ठीक उल्टा सोचता है। भारत कहता है, जिसे हम खोजने जा रहे हैं वह सदा से मौजूद है। वह हमारी खोज के बाद में प्रकट नही होता, हमारी खोज के पहले ही मौजूद है। जिस सत्य का उद्‌घाटन होगा वह सत्य, हम नही थे तब भी था। हमने जब नही खोजा था, तब भी था। हम

जब नहीं जानते थे, तब भी उतना ही था, जितना कि जब हम जान लेंगे, तब होगा। खोज से सत्य सिर्फ हमारे अनुभव में प्रकट होता है। सत्य निर्मित नहीं होता। सत्य हमसे पहले मौजूद है। इसलिए भारतीय तर्कणा पहले निष्कर्ष को बोल देती है फिर प्रक्रिया की बात करती है—पहले निष्कर्ष, फिर प्रक्रिया। यूनान में पहले प्रक्रिया, फिर खोज, फिर निष्कर्ष।

यहाँ एक बात और ख्याल में ले लेनी चाहिए। जो लोग सोच-विचार करके सत्य को पायेंगे उनके लिए यूनान की तर्क-पद्धति ठीक मालूम पड़ेगी। सोचना-विचारना ऐसे है जैसे एक छोटे से दिये को लेकर महा-अंधकार से घिरी हुई रात्रि में कुछ खोजने को निकले। रात है गहरी, अँधेरा है बहुत, दिये की रोशनी बहुत कम, दो-चार कदमों तक पड़ती है। कुछ दिखायी पड़ता है, बहुत-कुछ अनदिखा रह जाता है। जो दिखायी पड़ता है उसके बाबत जो भी निष्कर्ष लिये जाते है वह अस्थायी (Tentative) होंगे। थोड़ी देर बाद कुछ और भी दिखायी पड़ेगा, जिसके दिखायी पड़ने के बाद निष्कर्ष को बदलना जरूरी होगा। फिर थोड़ी देर बाद कुछ और दिखायी पड़ेगा, और निष्कर्ष को पुनः बदलना जरूरी होगा। इसलिए पश्चिम का विज्ञान, चूँकि यूनान के तर्क को मान कर चलता है, उसका कोई भी निष्कर्ष अन्तिम नहीं हो सकता। उसके सभी निष्कर्ष अस्थायी, कामचलाऊ, अभी जितना जानते हैं उस पर आधारित हैं। कल जो जाना जायगा उससे बदलाहट हो जायेगी। इसलिए पश्चिम का कोई भी सत्य निरपेक्ष (Absolute) नहीं है। पूर्ण नहीं है। सभी सत्य अपूर्ण हैं और यह बड़े मजे की बात है कि सत्य अपूर्ण हो नहीं सकता। जो भी अपूर्ण होगा वह असत्य ही होगा। और जिसे हमें कल बदलना पड़ेगा वह असल मे आज भी सत्य नहीं है, सिर्फ मालूम पड़ता है। जिसे हमें कभी भी नहीं बदलना पड़ेगा वही सत्य हो सकता है। इसलिए पश्चिम में जिसे वे सत्य कहते है, वह केवल आज जितना हम जानते है उस जानने पर निर्भर असत्य है जो कि कल के जानने से रूपान्तरित होगा, परिवर्तित होगा।

भारत की पद्धति सत्य को दिया लेकर खोजने की नहीं है। भारत की पद्धति ऐसी है जैसे अँधेरी रात हो, गहन अंधकार हो और बिजली कौंध जाय। बिजली कौंधे और सभी कुछ एक साथ (Simultaneously) दिखायी पड़ जाय। थोड़ा पहले दिखायी पड़े, थोड़ा बाद में दिखायी पड़े, फिर थोड़ा बाद मे दिखायी पड़े, ऐसा नहीं—एकदम से उद्घाटित (Revealation) हो जाय, सब एकदम से उघड़ जाय। सब रास्ते जो दूर क्षितिज तक फैले हुए हैं, सभी कुछ जो है, बिजली की कौंध में इकट्ठा दिखायी पड़ जाय। फिर उसमें बदलने का कोई

जानना न रह जायगा, क्योंकि पूरा ही जान लिया गया। पश्चिम में—जिसे वे तर्क (Logic) कहते हैं, वह विचार के द्वारा सत्य की खोज है। भारत में हम जिसे अनुभूति कहते हैं, प्रज्ञा (Intuition) कहते हैं वह बिजली की कौंध की तरह सारी चीजों को एक साथ प्रकट कर जाने वाली है। इसलिए सत्य पूरा का पूरा जैसा है वैसा ही प्रतिफलित होता है। फिर उसमें कुछ परिवर्तन करने का उपाय नहीं रह जाता। इसलिए महावीर ने जो कहा है, उसमें बदलने की कोई जगह नहीं है। कृष्ण ने जो कहा है, उसमें बदलने की कोई जगह नहीं है। बुद्ध ने जो कहा है, उसमें बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कभी कभी पश्चिम के लोग चिन्ता और विचार में पड़ जाते हैं कि महावीर को हुए पच्चीस सौ साल हुए, क्या उनकी बात अभी भी सही है ? ठीक है उनका पूछना। क्योंकि पच्चीस सौ साल में अगर दिये से हम सत्य को खोजते हों तो पच्चीस हजार बार बदलाहट हो जानी चाहिए। रोज नये तथ्य आविष्कृत होंगे और पुराने तथ्य को हमें रूपांतरित करना पड़ेगा। लेकिन महावीर, कृष्ण या बुद्ध के सत्य रिवीलीशन्स हैं। दिया लेकर खोजे गये नहीं—निर्विचार की कौंध, निर्विचार की बिजली की चमक में देखे गये, जाने गये और उघाड़े गये सत्य हैं। जो सत्य महावीर ने जाना उसमे महावीर एक-एक कदम सत्य को नही जान रहे हैं, अन्यथा पूर्ण सत्य कभी भी नही जाना जा सकेगा। महावीर पूरे के पूरे सत्य को एक साथ जान रहे हैं।

इस महावाक्य से मैं आपको यह कहना चाहता हूँ कि इस छोटे-से दो वचनो के महावाक्य मे पूरब की प्रज्ञा ने जो भी खोजा है वह सब का सब इकट्ठा मौजूद है। वह पूरा-का-पूरा मौजूद है। इसलिए भारत मे हम कहते हैं निष्कर्ष पहले, प्रक्रिया बाद मे। पहले घोषणा कर देते हैं सत्य क्या है, फिर वह सत्य कैसे जाना जा सकता है, वह सत्य कैसे जाना गया है, वह सत्य कैसे समझाया जा सकता है, उसके विवेचन मे पडते हैं। यह घोषणा है। जो घोषणा से ही पूरी बात समझ ले, उनके लिए शेष किताब बेमानी है। पूरे उपनिषद् में अब और कोई नयी बात नही कही जायेगी। लेकिन बहुत-बहुत मार्गों से इसी बात को पुनः-पुनः कहा जायगा। जिनके पास बिजली कौंधने का कोई उपाय नही है, जो जिद पकड़ कर बैठे हैं कि दिये से ही सत्य को खोजेंगे, शेष उपनिषद् उनके लिए है। अब दिये को पकड़ कर, बाद की पंक्तियों में एक-एक टुकड़े के सत्य की बात की जायेगी। लेकिन पूरी बात इसी सूत्र पर हो जाती है। इसलिए मैंने कहा कि यह सूत्र अनूठा है। सब इसमे पूरा कह दिया गया है। उसे हम समझ लें कि क्या कह दिया गया है।

कहा है कि पूर्ण से पूर्ण पैदा होता है, फिर भी पीछे सदा पूर्ण शेष रह जाता है। और अन्त में, पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण कुछ ज्यादा नहीं हो जाता।

वह उतना ही होता है, जितना था। यह बहुत ही गणित-विरोधी (Anti-mathematical) वक्तव्य है। पी० डी० ऑस्पैंस्की ने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, 'टर्शियम आर्गानिम'। किताब के शुरू में उसने एक छोटा सा वक्तव्य दिया है। पी० डी० ऑस्पैंस्की रूस का एक बहुत बड़ा गणितज्ञ था। बाद में पश्चिम के एक बहुत अद्भुत फकीर गुरजिएफ के साथ वह एक रहस्यवादी सन्त हो गया। लेकिन उसकी समझ गणित की है—गहरे गणित की। उसने अपनी इस अद्भुत किताब के पहले ही जो वक्तव्य दिया है, उसमें कहा है कि दुनिया में केवल तीन अद्भुत किताबें है—एक किताब है, अरिस्टॉटल की, पश्चिम मे जो तर्क-शास्त्र का पिता है, उसकी। उस किताब का नाम है, आर्गानिम। आर्गानिम का अर्थ होता है ज्ञान का सिद्धान्त। फिर ऑस्पैंस्की ने कहा है कि दूसरी महत्त्वपूर्ण किताब है रोजर बैंकन की, उस किताब का नाम है नोवम आर्गानिम—ज्ञान का नया सिद्धान्त। और तीसरी किताब वह कहता है मेरी है, खुद उसकी, उसका नाम है टर्शियम आर्गानिम—ज्ञान का तीसरा सिद्धान्त। और इस वक्तव्य को देने के बाद उसने एक छोटी-सी पंक्ति लिखी है जो बहुत हैरानी की है। उसमें उसने लिखा है, बिफोर द फर्स्ट एक्जीस्टेड द थर्ड वाज। इसके पहले कि पहला सिद्धान्त दुनिया में आया, उसके पहले भी तीसरा था। पहली किताब लिखी है अरस्तू ने दो हजार साल पहले। दूसरी किताब लिखी है तीन सौ साल पहले बैकन ने। और तीसरी किताब अभी लिखी गयी है कोई चालीस साल पहले। लेकिन ऑस्पैंस्की कहता है कि पहली किताब थी दुनिया में उसके पहले तीसरी किताब मौजूद थी। और तीसरी किताब उसने अभी चालीस साल पहले लिखी है! जब भी कोई उससे पूछता कि यह क्या पागलपन की बात है? तो ऑस्पैंस्की कहता कि यह जो मैंने लिखा हैं, यह मैंने नही लिखा, यह मौजूद था, मैंने सिर्फ उद्घाटित किया है।

न्यूटन नहीं था, तब भी जमीन मे ग्रेविटेशन था। तब भी जमीन पत्थर को ऐसे ही खींचती थी जैसे न्यूटन के बाद खीचती है। न्यूटन ने ग्रेविटेशन के सिद्धान्त को रचा नही, उघाड़ा। जो ढँका था उसे खोला। जो अनजाना था उसे परिचित बनाया। लेकिन न्यूटन से पहले भी ग्रेविटेशन था, नही तो न्यूटन भी नही हो सकता था। ग्रेविटेशन के बिना तो न्यूटन भी नही हो सकता। न्यूटन के बिना ग्रेविटेशन हो सकता है। जमीन की कशिश न्यूटन के बिना हो सकती है। लेकिन न्यूटन जमीन की कशिश के बिना नही हो सकता। न्यूटन के पहले भी जमीन की कशिश थी, लेकिन जमीन की कशिश का पता नहीं था। ऑस्पैंस्की कहता है, उसका तीसरा सिद्धान्त पहले सिद्धान्त के भी पहले मौजूद था। पता नहीं था, यह

दूसरी बात है। और पता नहीं था, यह कहना भी शायद ठीक नहीं। क्योंकि ऑस्पेंस्की ने अपनी पूरी किताब में जो कहा है वह इस छोटे-से सूत्र में आ गया है। ऑस्पेंस्की की टर्शियम आर्गानम बड़ी कीमती किताब है। उसका दावा झूठा नहीं है, जब वह कहता है कि दुनिया में तीन महत्त्वपूर्ण किताबें हैं और तीसरी मेरी है। ऐसा किसी अहंकार के कारण वह नहीं कहता। यह तथ्य है। उसकी किताब इतनी ही कीमती है। अगर वह न कहता तो वह झूठी विनम्रता होती। वह सच कह रहा है। विनम्रतापूर्वक कह रहा है। यही बात ठीक है। उसकी किताब इतनी ही महत्त्वपूर्ण है। लेकिन उसने जो भी कहा है अपनी पूरी किताब में, वह उपनिषद् के इस छोटे-से सूत्र में मौजूद है।

उसने पूरी किताब में यह सिद्ध करने की कोशिश की कि दुनिया मे दो तरह के गणित हैं—एक गणित है, जो कहता है, दो और दो चार होते हैं। साधारण गणित है। हम सब जानते हैं। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज के अशों को जोड़ें तो वह उसके पूर्ण से ज्यादा कभी नहीं हो सकती। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज को तोड लें, और उसके टुकड़ों को जोड़ें तो टुकड़ो का जोड़ कभी भी पूरे से ज्यादा नहीं हो सकता है। बात सीधी है। अगर हम एक रुपये को तोड लें सौ नये पैसे मे तो सौ नये पैसे का जोड़ रुपये से ज्यादा कभी नहीं हो सकता। या कि कभी हो सकता है? अंशों का जोड़ कभी भी पूर्ण से ज्यादा नही हो सकता, यह सीधा-सा गणित है। लेकिन ऑस्पेंस्की कहता है कि एक और गणित है, एक और ऊँचा गणित (Higher-mathematics) भी है और वही जीवन का गहरा गणित है। **वहाँ दो और दो जरूरी नहीं है कि चार ही होते हों। कभी वहाँ दो और दो पाँच भी हो जाते हैं। और कभी वहाँ दो और दो तीन भी रह जाते हैं।** और वह कहता है कि कभी कभी अंशों का जोड़ पूर्ण से ज्यादा भी हो जाता है। इसे थोडा समझना पडेगा। और इसे हम न समझ पायें तो ईशावास्य के पहले और अन्तिम सूत्र को भी नहीं समझ पायेंगे।

एक चित्रकार एक चित्र बनाता है। अगर हम हिसाब लगाने बैठें तो रंगों की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नही। केनवस की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नही। लेकिन कोई भी श्रेष्ठ कृति, कोई भी श्रेष्ट चित्र रग और केनवस का जोड़ नही है, जोड़ मे कुछ ज्यादा है—समथिग मोर। एक कवि एक गीत लिखता है। उसके गीत में जो भी शब्द होते हैं वह सभी शब्द सामान्य होते हैं। उन शब्दों को हम रोज बोलते हैं। शायद ही उस कविता में एकाध ऐसा शब्द मिले जो हम न बोलते हों। न भी बोलते हो तो परिचित तो होते है। फिर भी कोई कविता शब्दो का सिर्फ जोड़ नही है। शब्दों के जोड मे कुछ ज्यादा है—

सम्मोहित मोर। एक व्यक्ति सितार बजाता है। सितार को सुन कर हृदय पर जो परिणाम होते हैं वे केवल ध्वनि के आघात नहीं हैं। ध्वनि के आघात से कुछ ज्यादा हम तक पहुँच जाता है। इसे ऐसा समझें—एक व्यक्ति आँख बन्द करके आपके हाथ को प्रेम से छूता है, स्पर्श वही होता है। वही व्यक्ति क्रोध से भर कर आपके हाथ को छूता है, स्पर्श वही होता है। जहाँ तक स्पर्श के शारीरिक मूल्यांकन का सवाल है, दोनों स्पर्शों में कोई बुनियादी फर्क नहीं होता। फिर भी जब कोई प्रेम से भर कर हृदय को छूता है तो उसी छूने में से कुछ निकलता है जो बहुत भिन्न है। और जब कोई क्रोध से छूता है तो कुछ निकलता है जो बिलकुल और है। और कोई अगर बिलकुल निष्पक्षता से, तटस्थता से छूता है तो कुछ भी नहीं निकलता है। छूना एक-सा है, स्पर्श एक-सा है।

अगर हम भौतिक शास्त्री से पूछने जायेंगे तो वह कहेगा कि हाथ पर एक आदमी ने हाथ को छूआ तो कितना दबाव पड़ा, वह नापा जा सकता है। हाथ पर कितना विद्युत् का आघात पड़ा वह भी नापा जा सकता है। एक हाथ से दूसरे हाथ में कितनी ऊष्मा, कितनी गर्मी गयी, वह भी नापी जा सकती है। लेकिन वह ऊष्मा, वह हाथ का दबाव, किसी भी रास्ते से बता न सकेगा कि जिस आदमी ने छुआ उसने क्रोध से छुआ था कि प्रेम से छुआ था। फिर भी स्पर्श के भेद हम अनुभव करते हैं। निश्चित ही स्पर्श, केवल हाथ की गर्मी, हाथ का दबाव, विद्युत् के प्रभाव का जोड़ नहीं है, कुछ ज्यादा है। **जीवन कुछ श्रेष्ठतर गणित पर निर्भर है। जिन चीजों को हमने जोड़ा था उनसे नयी चीज पैदा हो जाती है, उनसे श्रेष्ठतर का जन्म हो जाता है।** उनसे महत्त्वपूर्ण पैदा हो जाता है। क्षुद्रतम से भी महत्त्व-पूर्ण पैदा हो जाता है। जिन्दगी साधारण गणित नहीं है। बहुत श्रेष्ठतर, गहरा और सूक्ष्म गणित है। ऐसा गणित है जहाँ आँकड़े बेकार हो जाते हैं। जहाँ गणित के जोड़ और घटाने के नियम बेकार हो जाते हैं। और जिस आदमी को गणित के पार, जिन्दगी के रहस्य का पता नहीं है उस आदमी को जिन्दगी का कोई भी पता नहीं है।

इस महावाक्य में बड़ी अजीब बातें कही गयी हैं हायर मैथमेटिक्स की। कहा है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। साधारण गणित के हिसाब से बिलकुल गलत बात है। अगर हम किसी भी चीज में से कुछ निकाल लेंगे तो उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना था। कुछ कम हो जायगा। हो ही जाना चाहिए अन्यथा हमारे निकाले हुए का क्या हुआ? अगर मैं एक तिजोरी में से दस रुपये निकाल लूं, उसमें अरबों रुपये भरे हों तो भी कम हो गये। दस पैसे भी निकाल लूं तो भी कम हो गये। उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना

पहले था। कितनी ही बड़ी तिजोरी हो—कुबेर का खजाना हो कि सोलोमन का, अगर दस रुपये पैसे भी हमने उसमें से निकाले तो अब तिजोरी उतनी ही नहीं है जितनी पहले थी, कुछ कम हो गयी। और कितना ही बड़ा खजाना हो, अगर हम एक कौड़ी उसमें डाल दें तो अब उतनी ही नहीं रही जितनी थी। कुछ बढ़ गया और ज्यादा हो गयी। लेकिन यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, थोड़ा नहीं—दस पैसे नहीं निकालते—पूरी तिजोरी ही बाहर निकाल लेते हैं, पूर्ण से पूर्ण ही बाहर निकाल लेते हैं। फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। लगता है किसी पागल ने कहा है जिसे गणित का कुछ भी पता नहीं। पहली कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है कि हम कुछ निकालेंगे तो पीछे कमी हो जायेगी। और थोड़ा निकालेंगे तो भी कमी हो जायेगी। अगर पूरा निकाल लेंगे तब तो पीछे कुछ भी नहीं बचना चाहिए। पर यह सूत्र कहता है कि कुछ नहीं, पूरा ही बच जाता है। निश्चित ही, तिजोरी को ही जो समझते हैं वह इसे नहीं समझ पायेंगे। तब किसी और दिशा से समझना पड़ेगा।

जब आप किसी को प्रेम देते हैं तो आपके पास प्रेम कम होता है? आप पूरा ही प्रेम दे डालते हैं तब क्या आपके पास कुछ कमी हो जाती है? नहीं। आदमी के पास इस सूत्र को समझने के लिए जो निकटतम शब्द है, वह प्रेम है। उससे ही हमें पकड़ना पड़ेगा। सच तो यह है कि प्रेम आप कितना ही दे डालें उतना ही बच रहता है, जितना था। उसमें कोई भी कमी नहीं आती। बल्कि कुछ तो कहते हैं कि वह और बढ़ जाता है। जितना आप देते हैं, उतना बढ़ जाता है। जितना आप बाँटते हैं, उतना गहन होता चला जाता है। जितना लुटाते हैं, उतना ही पाते हैं कि और-और उपलब्ध होता चला जा रहा है। जो अपने सारे प्रेम को फेंक दे बाहर, वह अनन्त प्रेम का मालिक हो जाता है।

पूर्ण से पूर्ण निकल आये और पीछे पूर्ण ही शेष रह जाय तो इसका अर्थ हुआ कि यह गणित से नहीं समझा जा सकेगा, प्रेम से समझना पड़ेगा। इसलिए जो आइन्स्टीन के पास समझने जायेंगे, वह नहीं समझ पायेंगे। मीरा के पास समझने जायें तो शायद समझ में आ जाय। चैतन्य के पास समझने जायें तो शायद समझ में आ जाय। क्योंकि यह किसी और ही आयाम, किसी और ही डायमेंशन की बात है जहाँ देने से घटता नहीं। आपके पास सिवाय प्रेम के और कोई ऐसा अनुभव नहीं है जिससे समझने की पहली चोट हो सके। पता नहीं, प्रेम का अनुभव भी है या नहीं, क्योंकि सौ में से निन्यानबे को वह भी नहीं है। अगर आपको प्रेम दे देने से कुछ कमी मालूम पड़ती हो तो आप समझ लेना कि आपको प्रेम का कोई अनुभव नहीं है। अगर आप प्रेम किसी को देते हों और भीतर लगता हो कि कुछ खाली हुआ

तो आप समझ लेना कि जो आपने दिया है वह कुछ और होगा, प्रेम नहीं हो सकता। वह फिर तिजोरी की ही दुनिया की कोई चीज होगी—तुलने वाली चीज। आँकड़ों में आँकी जा सके, तराजू में तौली जा सके, गजों से नापी जा सके, ऐसी कोई चीज होगी—मेजरेबल। ध्यान रहे, जो मेजरेबल है वह घट जायगा। जो भी नापा जा सकता है उसमें से कुछ भी निकालियेगा तो घट जायगा। जो इम्मेजरेबल है, जो नहीं नापा जा सकता, अमाप है, वही, केवल वही, कितना ही निकाल लीजिये तो पीछे उतना ही बचेगा जितना था। अगर आपको ऐसा कभी भी लगा हो कि आपके प्रेम के देने से प्रेम कम हो जाता है—और आप सबको लगा होगा, करीब-करीब सबको। इसीलिए तो हम प्रेम पर मालकियत करते हैं। अगर मुझे कोई प्रेम करता है तो मैं चाहता हूँ कि वह किसी और को प्रेम न करे। क्योंकि बँट जायगा। कम हो जायगा—तो पजेशन। इसलिए मैं चाहता हूँ कि जो मुझे प्रेम करता है वह दूसरे की तरफ प्रेम की नजर से भी न देखे। उसको प्रेम की नजर किसी को मेरे लिए जहर बन जाती है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि घटा जाता है। कम हुआ जाता है। और अगर घट रहा हो, कम हो रहा हो तो समझना कि प्रेम का कोई पता ही नहीं है। अगर मुझे प्रेम का पता हो तो जिसे मैं प्रेम करता हूँ उससे मैं चाहूँगा कि वह जाये और लुटाये सारी दुनिया को। क्योंकि जितना ही वह लुटायेगा उतना ही गहन उसको प्रकट होगा। जितना गहन उसे प्रकट होगा उतना ही वह मेरे प्रति भी प्रेम से गहन और भरपूर हो जायेगा।

लेकिन नहीं, हम हायर मैथमेटिक्स को नहीं जानते। हम एक लोअर मैथ-मेटिक्स में हैं। एक बहुत ही साधारण गणित की दुनिया में हम जीते हैं जहाँ देने से सब चीजें कम हो जाती हैं। इसलिए डर स्वाभाविक है। पत्नी डरती है कि पति किसी को प्रेम न दे दे। पति डरता है कि पत्नी किसी को प्रेम न दे दे। किसी और की तो दूर है बात, घर में बच्चा भी पैदा होता है तो भी पत्नी और पति में कलह शुरू हो जाती है। बेटा भी प्रेम बाँटता है अगर माँ का तो पति को अड़चन होती है। अगर बेटी बाप के प्रेम को बाँटती है तो माँ को तकलीफ होती है। क्योंकि जिस प्रेम को हम जानते हैं, वह प्रेम नहीं है। उसकी तो कसौटी ही यही है कि जो बाँटने से घटता है, उसे आप भूल कर भी प्रेम मत जानना। और कठिनाई यह है कि प्रेम के अलावा और कोई अनुभव नहीं है जो इम-मेजरेबल है। और तो सब मेजरेबल है—जो भी हमारे पास है सब नापा जा सकता है। हमारा क्रोध नापा जा सकता है, हमारी घृणा नापी जा सकती है, हमारा सब नापा जा सकता है। सिर्फ एक अनुभव है प्रेम का, जो कि अमाप है। वह भी हम सबके पास नहीं है। इसीलिए तो हम परमात्मा को समझने में बड़ी कठिनाई अनुभव करते

हैं। जो आदमी प्रेम को समझ लेगा वह परमात्मा को समझने की फिक्र ही छोड़ देगा। क्योंकि जिसने समझा प्रेम को उसने समझा परमात्मा को। वे एक ही गणित के हिस्से हैं। वे एक ही डायमेंशन, एक ही आयाम की चीजें हैं।

जिसने पहचाना प्रेम को वह कहेगा परमात्मा न भी मिले तो चलेगा। प्रेम मिल गया, काफी है। बात हो गयी। परिचित हो गये हम उस श्रेष्ठतर जगत् से। जहाँ ऐसी चीजें होती हैं जो बाँटने से घटती नहीं हैं। कितना ही दे डालो, उतनी ही शेष रह जाती हैं जितनी थीं। और ध्यान रहे, जिस दिन ऐसा अनुभव होता है कि मेरे पास ऐसा प्रेम है, जो मैं दे डालूं तो भी उतना ही बचता है जितना था, उसी दिन दूसरे से प्रेम की माँग क्षीण हो जाती है। क्योंकि कितना ही प्रेम मिल जाय मेरा बढ़ नहीं सकता। ध्यान रहे, जो चीज देने से घट नहीं सकती उस चीज को लेने से बढ़ावा नहीं आ सकता। यह एक ही-साथ होगा। जब तक आप दूसरे से प्रेम माँगते हैं, समझना प्रेम का अनुभव नहीं हुआ—और हम सब माँगते हैं, बच्चे ही नहीं बूढ़े भी माँगते हैं। हम सब प्रेम माँगे चले जाते हैं। हमारी पूरी जिन्दगी प्रेम की भिक्षा है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं हमारी सारी तकलीफ एक है, हमारा सारा तनाव, हमारी सारी इन्क्साइटी, हमारी सारी चिन्ता एक है। और वह चिन्ता यही है कि प्रेम कैसे मिले। और जब प्रेम नहीं मिलता तो हम फिर प्रेम के परिपूरक खोजते रहते हैं। लेकिन हम जिन्दगी भर प्रेम खोज रहे हैं। माँग रहे हैं। क्यों माँग रहे ? आशा से कि मिल जायगा तो बढ़ जायगा। इसका मतलब यह हुआ कि हमें फिर प्रेम का कोई पता नहीं है। क्योंकि जो चीज मिलने से बढ़ जाय, वह प्रेम नहीं है। कितना ही प्रेम मिल जाय उतना ही रहेगा जितना था। जिस आदमी को प्रेम के इस सूत्र का पता चल जाय उसे दोहरी बातों का पता चल जाता है। एक, कितना ही मैं दूं घटेगा नहीं। और कितना ही मुझे मिले बढ़ेगा नहीं। पूरा सागर मेरे ऊपर टूट जाये प्रेम का तो भी रत्ती भर बढ़ती नहीं होगी। और पूरा सागर मैं लुटा दूं तो भी रत्ती भर कमी नहीं होगी।

पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। परमात्मा से यह पूरा संसार निकल आता है। छोटा नहीं—अनन्त, असीम, छोर नहीं, ओर नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं—इतना विराट् सब निकल आता है। फिर भी परमात्मा पूर्ण ही रह जाता है। और कल यह सब कुछ उस परम अस्तित्व में वापस गिर जायेगा, वापस लीन हो जायगा तो भी वह पूर्ण ही होगा। न ही कोई घटती होगी, न ही कोई बढ़ती होगी। इसे एक दिशा से और समझने की कोशिश करें। साधारण हमारे अनुभव में—दिखायी पड़ने वाले अनुभव में, इन्द्रियों के जगत् में घटता बढ़ता मालूम नहीं पड़ता—जैसे घटता-बढ़ता है। बहुत बड़ा है लेकिन अनन्त नहीं,

विराट् है क्योंकि गिरती रहती हैं सागर में, बाहर नहीं आतीं। आकाश से बादल पानी को भरते रहते हैं। उलीचते रहते हैं सागर को। कोई कमी नहीं आती, अभाव नहीं हो जाता। फिर भी घटता तो है ही, क्योंकि विराट् है—अनन्त नहीं है, असीम नहीं है। विराट् है सागर, इतनी नदियाँ गिरती हैं, कोई इंच भर फर्क नहीं मालूम पड़ता। ब्रह्मपुत्र, गंगाएँ, ह्वांगहो और अमेजन, कितना पानी लाती रहती हैं प्रतिपल। सागर वैसा का वैसा रहता है। हर रोज सूरज उलीचता रहता है किरणों से पानी को। आकाश में जितने बादल भर जाते हैं वह सब सागर से आते हैं। फिर भी सागर जैसा था वैसा रहता है। फिर भी मैं कहता हूँ कि सागर का अनुभव सच में ही न घटने न बढ़ने का नहीं है। वह घटता-बढ़ता रहता है। लेकिन इतना बड़ा है कि हमें पता नहीं चलता।

आकाश हमारे अनुभव में एक दूसरी स्थिति है। सब-कुछ आकाश में है। आकाश का अर्थ है, जिसमें सब-कुछ है। अवकाश—स्पेस, जिसमें सारी चीजें हैं। ध्यान रहे, इसलिए आकाश किसी में नहीं हो सकता। और अगर हम सोचते हों कि आकाश को भी होने के लिए किसी में होना पड़े तो फिर हमें एक और महत् आकाश की कल्पना करनी पड़ेगी। और फिर हम मुश्किल में पड़ेंगे। फिर जिसको तार्किक कहते हैं—इनफिनिट रिग्रेस, फिर हम उस अन्तहीन नासमझी में पड़ जायेंगे। क्योंकि फिर वह जो महत् आकाश है वह किसमें होगा? फिर इसका कोई अन्त नहीं होगा। फिर और महत् आकाश—फिर फिर वही सवाल होगा। नहीं, इसलिए **आकाश में सब है और आकाश किसीमें नहीं है। आकाश सबको घेरे हुए है और आकाश अनघिरा है।** आकाश का अर्थ है, जिसमें सब है और जो किसीमें नहीं है। इसलिए आकाश के भीतर सब-कुछ निर्मित होता रहता है, लेकिन आकाश उससे बड़ा नहीं हो जाता। और आकाश के भीतर सब कुछ विसर्जित होता रहता है, आकाश उससे छोटा नहीं हो जाता। आकाश जैसा है वैसा है—जस का तस—ऐज इट इज। आकाश अपनी सचनेस में, अपनी तथाता मे रहता है। आप मकान बना लेते हैं, आप महल खड़ा कर लेते हैं, आपका महल गिर जायगा, कल खण्डहर हो जायगा, मिट्टी होकर नीचे गिर जायगा। आकाश चूमने वाले महल जमीन पर खो जायेंगे वापस, आकाश को पता भी नहीं चलेगा। आपने जब महल बनाया था तब आकाश छोटा नहीं हो गया था। आपका जब महल गिर जायगा तब आकाश बड़ा नहीं हो जायगा। आकाश मे ही बनता है महल और आकाश में ही खो जाता है। आकाश में कोई अन्तर पैदा इससे नहीं होता है। शायद, आकाश और भी निकटतर—जिस बात को मैं आपको समझाना चाहता हूँ, उसके और निकटतर है। फिर भी, आकाश कितना ही

अछूता मालूम पड़ता हो, कितना ही अस्पर्शित मालूम पड़ता हो, हमारे निर्माण से, हमारे अनुभव में ऐसा आता है कि आकाश भी कम-ज्यादा होता होगा। क्योंकि जहाँ मैं बैठा हूँ, अगर आप वहीं बैठना चाहें तो नहीं बैठ सकते। इसका मतलब यह हुआ कि आकाश को मैंने घेर लिया। अन्यथा आप भी मेरी जगह बैठ सकते हैं। एक जगह हम एक ही मकान बना सकते हैं, उस जगह दूसरा मकान न बना सकेंगे, उसी जगह तीसरा न बना सकेंगे। क्यों? क्योंकि जो एक मकान हमने बनाया उसने आकाश को घेर लिया। अगर आकाश को उसने घेर लिया तो आकाश किसी खास अर्थ में कम हो गया। इसीलिए तो मकान हमें ऊपर उठाने पड़ रहे हैं। मकान इसीलिए ऊपर उठाने पड़ रहे हैं कि जमीन की सतह पर जो आकाश है वह कम पड़ता जा रहा है। जमीन के दाम बढ़ते चले जाते हैं तो मकान ऊपर उठने शुरू हो जाते हैं। नीचे दाम बढ़ने लगते हैं, नीचे का आकाश मँहगा होने लगा, क्योंकि भरने लगा, ज्यादा भरने लगा। अब वहाँ जगह कम रह गयी तो मकान को ऊपर उठाना पड़ता है। जल्दी ही हम मकान को जमीन के नीचे भी ले जाना शुरू करेंगे। क्योंकि ऊपर उठाने की भी सीमा है। ऊपर का आकाश भी भरा जाता है। आकाश भी भरता मालूम पड़ता है और जब भरता है तो उसका अर्थ है कि उतनी जगह कम हो गयी। उतना रिक्त स्थान कम हो गया। उतनी एम्पटी स्पेस कम हो गयी। जिस जमीन पर हम बैठे हैं, इस जगह पर अब दूसरी जमीन पैदा नहीं हो सकती। माना कि अनन्त आकाश चारों तरफ शून्य की तरह फैला हुआ है, कोई कमी नहीं है। लेकिन इतनी जगह पर तो रुकावट हो गयी। इतना आकाश तो कम हुआ, भर गया।

परमात्मा इतना भी नहीं भरता। सागर मैंने कहा कि बहुत छोटा है—परमात्मा के हिसाब से। हमारे हिसाब से बहुत बड़ा है। गंगाओं और ब्रह्मपुत्रों के हिसाब से बहुत बड़ा है। कोई अन्तर नहीं पड़ता उनके गिरने से। फिर भी अन्तर पड़ता है। माप-तौल में नहीं आता, लेकिन अन्तर पड़ता है। आकाश और भी बड़ा है—हमारे सागरों और महासागरों से बहुत बड़ा है। फिर भी, आकाश भी भर जाता मालूम होता है। परमात्मा पर एक छलांग और लगानी पड़ेगी, वहाँ सारा तर्क तोड़ देना पड़ेगा। परमात्मा यानी अस्तित्व—जो है, सिर्फ है। इजनेस—होना जिसका गुण है। हम कुछ भी करें, उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इसे वैज्ञानिक किसी और ढंग से कहते हैं। वे कहते हैं हम किसी चीज को नष्ट नहीं कर सकते। इसका मतलब हुआ कि हम किसी चीज को 'है' पन के बाहर नहीं निकाल सकते। अगर हम एक कोयले के टुकड़े को मिटाना चाहें तो हम राख

बना लेंगे। लेकिन राख रहेगी। हम उसे चाहे सागर में फेंक दें, वह पानी में घुल कर डूब जायेगी—दिखायी नहीं पड़ेगी, लेकिन रहेगी। हम उसके रूपों को मिटा सकते हैं, लेकिन उसकी इजनेस, उसके होने को नहीं मिटा सकते। उसका होना कायम रहेगा। हम कुछ भी करते चले जायें, उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। होना बाकी रहेगा। हाँ, होने को हम शकल दे सकते हैं। हम हजार शकलें दे सकते हैं। हम नये-नये रूप और आकार दे सकते हैं। हम आकार बदल सकते हैं, लेकिन जो है उसके भीतर, उसे हम नहीं बदल सकते। वह रहेगा। कल मिट्टी थी, आज राख है। कल लकड़ी थी, आज कोयला है। कल कोयला था, आज हीरा है। लेकिन है। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। 'है', कायम रहता है। परमात्मा का अर्थ है सारी चीजों के भीतर जो 'है'–पन (Isness) है, जो अस्तित्व (Existence) है, होना है, वही। कितनी ही चीजें बनती चली जायें उस होने में कुछ जुड़ता नही। और कितनी ही चीजें मिटती चली जायें, उस होने में कुछ कम होता नहीं। वह उतना का ही उतना—वही का वही—अलिप्त और असंग, और अस्पर्शित। पानी पर भी हम रेखा खींचते हैं तो कुछ बनता है, हालांकि मिट जाता है बनते ही। लेकिन परमात्मा पर इस सारे अस्तित्व से इतनी भी रेखा नहीं खिंचती। इतना भी नहीं बनता है।"

इसलिए उपनिषद् का यह वचन कहता है कि **पूर्ण से, उस पूर्ण से यह पूर्ण निकला।** वह अज्ञात है, यह ज्ञात है। जो हमे दिखायी पड़ रहा है वह उससे निकला जो नहीं दिखायी पड़ रहा है। जिसे हम जानते हैं वह उससे निकला जिसे हम नही जानते हैं। जो हमारे अनुभव में आता है, वह उसमे निकला जो हमारे अनुभव में नहीं आता है। इस बात को भी ठीक से ख्याल में ले लेना चाहिए। जो भी हमारे अनुभव में आता है वह सदा उससे निकलता है जो हमारे अनुभव में नहीं आत। और जो हमें दिखायी पड़ता है, वह उससे निकलता है जो अदृश्य है और जो हमें ज्ञात है, वह अज्ञात से निकलता है। और जो हमे परिचित है वह अपरिचित से आ रहा है। एक बीज हम बो दें और बीज से एक वृक्ष निकल आता है। अगर बीज को हम तोड़ें और तोड़ें और खण्ड-खण्ड कर डालें तो कहीं भी वृक्ष का कोई भी पता नहीं चलता है। कहीं कोई पता नहीं चलता। कही वे फूल नहीं मिलते जो कल निकल आयेंगे। कहीं वे पत्ते नही दिखायी पड़ते जो कल निकल आयेंगे। वे कहाँ से आते हैं? वे अदृश्य से आते हैं। वे अदृश्य से निर्मित हो जाते हैं। **प्रतिपल अदृश्य दृश्य में रूपान्तरित होता रहता है और दृश्य अदृश्य में खोता चला जाता है। प्रतिपल सीमाओं में असीम आता है और प्रतिपल सीमाओं से असीम वापस लौट जाता है।** ठीक ऐसे ही जैसे हमारी श्वांस

भीतर गयी और बाहर आयी। पूरा अस्तित्व ऐसे ही श्वास ले रहा है। इस अस्तित्व की श्वास को जो जानते हैं वह कहते हैं, सृष्टि और प्रलय। वह कहते हैं, अस्तित्व की एक श्वास जब भीतर आती है तो सृष्टि का निर्माण होता है—दि क्रिएशन। और जब अस्तित्व की श्वास बाहर जाती है तो प्रलय होता है—द अनीहिलेशन। और अस्तित्व की एक श्वास हमारे लिए तो अनन्त अस्तित्व है। उस बीच तो हम अनन्त जन्म लेते हैं—आते हैं और जाते है।

इस सूत्र में दोनों बातें कही हैं कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रहता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण, पूर्ण ही रहता है। वह पूर्ण अछूता, क्वाँरा का क्वाँरा ही रह जाता है। उसके क्वाँरेपन में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता—उसकी वर्जिनिटी में कोई फर्क नहीं पड़ता। बड़ी मुश्किल बात है। माँ से बेटा पैदा हो जाय और वह क्वाँरी रह जाय! सिर्फ जीसस की माँ के बाबत ऐसी बात कही जाती है कि जीसस पैदा हुए और मरियम क्वाँरी रह गयी। वह इसीलिए कही जाती है कि जीसस और मरियम को जिन्होंने जाना और पहचाना उन्होंने कहा, यह तो ठीक वैसा ही अस्तित्व का जन्म है जैसे कि पूर्ण से पूर्ण आता है। इसलिए ईसाई नहीं समझ पाते। ईसाई बड़ी मुश्किल में पड़ते हैं इस बात को पकड़ कर कि मरियम क्वाँरी कैसे रह गयी! उन्हें पता ही नहीं है उस गणित का जहाँ कि माँ के बच्चा भी पैदा हो जाय और माँ क्वाँरी रह जाय। उस गणित का उन्हें कोई पता नहीं। हायर मैथेमेटिक्स का उन्हें कोई पता नहीं। बड़ी कठिनाई मे है ईसाइयत, क्योंकि वे कहते हैं कि इसे कैसे समझायें? यह हो नही सकता—इसलिए मिरेकिल है, चमत्कार है। यह हो तो नहीं सकता, लेकिन हुआ है, भगवान् ने कोई चमत्कार दिखाया है। लेकिन इस जगत् मे भगवान् जो भी चमत्कार दिखाता है वह हर क्षण दिखा रहा है। इस जगत् में कोई चमत्कार नहीं होते और या फिर हर क्षण जो हो रहा है वह सब चमत्कार है—सब मिरेकल है। जब भी एक बीज से वृक्ष पैदा होता है, तब चमत्कार होता है। और जब भी एक माँ से बेटा पैदा होता है तब चमत्कार होता है। नही, कठिनाई नहीं है, अगर कोई माँ अपने को इस सूत्र में लीन कर ले कि पूर्ण से जब इतना बड़ा संसार निकल आता है और पीछे पूर्ण अछूता रह जाता है तो कौन-सी कठिनाई है? अगर कोई इस सूत्र के साथ अपने को एक कर ले तो वह माँ बन सकती है, बेटे को जन्म दे सकती है और क्वाँरी बच सकती है।

इस सूत्र को ठीक मे साधक समझ लें। और मैं तो आपको इसीलिए कह रहा हूँ कि आप कुछ साधना करना चाहते हैं। साधक कहता ही नही क्योंकि कहने से क्या होगा। जानता है। जानता ही नहीं, क्योंकि अकेले जानने से क्या होगा?

जीता है। इसे देखें। मेरे समझाने से शायद उतनी आसानी से दिखायी न पड़े जितना प्रयोग करने से दिखायी पड़ जायगा। कोई एक छोटा-सा काम करके देखें और पूरे वक्त जानते रहें कि हो रहा है, मैं नहीं कर रहा हूँ। कोई भी काम करके देखें, खाना खाकर देखें। रास्ते पर चल कर देखें। किसी पर क्रोध करके देखें। और जानें कि हो रहा है। और पीछे खड़े देखते रहें कि हो रहा है। तब आपको इस सूत्र का राज मिल जायगा। इसकी सीक्रेट-की, इसकी कुंजी आपके हाथ में आ जायेगी। तब आप पायेंगे कि बाहर कुछ हो रहा है और आप पीछे अछूते वही के वही हैं जो करने के पहले थे, और जो करने के बाद भी रह जायेंगे। तब बीच की घटना सपने की जैसी आयेगी और खो जायेगी। **संसार परमात्मा के लिए एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है। आपके लिए भी संसार एक स्वप्न हो जाय तो आप भी परमात्मा से भिन्न नहीं रह जाते।** फिर दोहराता हूँ : संसार परमात्मा के लिए एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है। और जब तक आपके लिए संसार एक स्वप्न से ज्यादा है तब तक आप परमात्मा से कम होंगे। जिस दिन आपको भी संसार एक स्वप्न जैसा हो जायगा उस दिन आप परमात्मा हैं। उस दिन आप कह सकते हैं—अहम् ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ।

यह बड़े मजे का सूत्र है। इस सूत्र में न मालूम कितनी बातें कही गयी है। इस सूत्र में यह कहा गया है कि वह पूर्ण आ जाता है निकल कर पूरा का पूरा। ध्यान रहे, पीछे पूरा रह जाता है, यह तो कहा ही है, साथ में यह भी कहा है कि वह पूरा का पूरा बाहर आ जाता है। इसका क्या मतलब हुआ ? **इसका यह मतलब हुआ कि एक एक व्यक्ति भी पूरा का पूरा परमात्मा है।** एक-एक व्यक्ति भी—एक-एक अणु भी पूरा का पूरा परमात्मा है। ऐसा नही कि अणु आंशिक परमात्मा है—नही, पूरा का पूरा। थोड़ा कठिन है, क्योंकि हमारे गणित के लिए अपरिचित है। अगर यह समझ मे आया कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है और पीछे पूर्ण रह जाता है तो मैं और एक बात कहता हूँ कि **पूर्ण से अनन्त पूर्ण निकल आते हैं तो भी पीछे पूर्ण रह जाता है।** एक पूर्ण निकल कर अगर दूसरा पूर्ण न निकल सके तो उसका मतलब हुआ कि एक के निकलने के बाद पीछे कुछ कम हो गया है। एक पूर्ण के बाद दूसरा पूर्ण निकले, तीसरा पूर्ण निकले और पूर्ण निकलते चले जायँ और पीछे सदा ही पूर्ण निकलने की उतनी ही क्षमता बनी रहे तभी पीछे पूर्ण शेष रहा। इसलिए ऐसा नहीं है कि आप परमात्मा के एक हिस्से हैं। जो ऐसा कहता है वह गलत कह रहा है। जो ऐसा कहता है कि आप एक अंश है परमात्मा के, वह गलत कहता है। वह फिर लोअर मैथमेटिक्स की बात करता है। वह उसी दुनिया की बात कर रहा है जहाँ दो और दो चार होते हैं। वह नापी-

जीती जागती दुनिया की बात कर रहा है। मैं आपसे कहता हूं और उपनिषद् आपसे यह कहते हैं, और जिन्होंने भी कभी जाना है वह यही कहते हैं कि तुम पूरे के पूरे परमात्मा हो। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसी पूरा परमात्मा नहीं है। नहीं, इससे कोई अन्तर ही नहीं पड़ता है। एक वृक्ष पर गुलाब खिला है, पूरा खिल गया है। पड़ोस में एक दूसरी कली पूरी खिल गयी है। इस गुलाब के पूरे खिल जाने से बगल की कली के पूरे खिलने में कोई बाधा नहीं पड़ती। सहयोग भले मिलता हो, बाधा कोई नहीं पड़ती। हजार फूल खिल सकते हैं, पूरे के पूरे खिल सकते हैं। परमात्मा की पूर्णता अनन्त पूर्णता है। अनन्त पूर्णता का अर्थ है कि उसमें से अनन्त पूर्ण प्रकट हो सकते हैं। एक-एक व्यक्ति पूरा का पूरा परमात्मा है। एक-एक अणु पूरा का पूरा विराट् है। पूर्ण में और उसमें रत्ती मात्र का भी कोई फर्क नहीं है। अगर फर्क है तो फिर कभी पूरा न हो सकेगा। फिर पूरा करने का कोई उपाय नहीं। और अगर कभी पूरा हो जाता है तो वह अभी ही पूरा है, सिर्फ हमें पता नहीं है। सिर्फ हमारे बोध की कमी है।

इस सूत्र को इन साधना के आने वाले दिनों में सदा स्मरण रखना। दोहराते रहना मन में कि पूर्ण से पूर्ण आ जाता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण, पूर्ण का पूर्ण ही होता है। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसे स्मरण रखना, इसे श्वांस-श्वांस में भीतर घूमने देना। रोज हम इसकी अलग-अलग व्याख्याएँ, अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग मार्गों से करेंगे। आप इसका स्मरण रखना। यहाँ हम व्याख्या करेंगे, वहाँ आप स्मरण को गहरा करते चले जाना। ये दोनों चोटें भीतर इकट्ठी होती चली जायेंगी। और किसी क्षण—इन्हीं सात दिन में वह घटना घट सकती है कि किसी क्षण अचानक यह सूत्र आपके मुँह से निकले। और आपको लगे कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण पूर्ण में लीन हो जाता है फिर भी पूर्ण, पूर्ण का पूर्ण ही होता है। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वप्न की भाँति सब हो जाता है, फिर भी कुछ होता नहीं। अभिनय की भाँति सब घटित हो जाता है, फिर भी पीछे सब क्वाँरा और अछूता रह जाता है। इसे स्मरण—जितना ज्यादा स्मरण रख सकें उतना उपयोगी होगा। चौबीस घण्टे इसकी स्मृति में जीने की कोशिश करें। उपनिषदों में जो है वह सिर्फ समझने से समझ में आने वाला नहीं है। उसे जीने से ही समझ में आने वाला है। ये सूत्र, किन्हीं सिद्धान्तों की घोषणा नहीं करते, किन्हीं साधनाओं की घोषणा करते हैं। ये सूत्र, सिर्फ निष्पत्तियाँ नहीं हैं ज्ञान की, अनुभूतियाँ हैं। और इन्हें जब कोई अपने भीतर जिये, इन्हें अपने भीतर जन्म दे, इन्हें अपने भीतर—खून, हड्डी, मांस, मज्जा में प्रवेश करने दे,

इन्हें श्वासों में समा जाने दे, इन्हें जागते, उठते, बैठते, सोते इनकी श्रुति, इनकी स्मृति में, इनकी गूंज में जिये, तब कही इनका राज, इनका रहस्य, इनका द्वार खुलना शुरू होगा।

यह सूत्रो मे प्राथमिक वक्तव्य आपको दिया है। अद्भुत लोग रहे होंगे। पहले ही सूत्र पर खत्म कर दी है सारी बात। कहा है कि तीनों ताप की शान्ति हो जाय। इस सूत्र से त्रिताप की शान्ति का क्या सम्बन्ध हो सकता है? किन्ही सिद्धान्तों से, किन्ही के दुखो का कोई अन्त हुआ है? नही, लेकिन ऋषि कहता है ओम्—बात पूरी हो गयी। तुम्हारे सब दुख शान्त हो जायँ, तुम्हारी सब दुखों से मुक्ति हो जाये। क्या इस सूत्र को पढ़ने से यह हो सकता है? सच में जो पढ लेगा, हो सकता है। किताब से जो पढ़े तो कभी नही हो सकता। वह तो पढ़ लिया हमने। वह तो सुन लिया हमने। लेकिन **जिन्होंने इतनी हिम्मत और साहस से कहा है कि बस,—ओम्, हो गयी बात समाप्त, इतनी बात जिसने जान ली, उसके सब दुखों का अन्त हो जाता है।** उसके शरीर के, उसके मन के, उसकी आत्मा के सब ताप नष्ट हो जाते है। वह समस्त सन्तापों के बाहर हो जाता है। इतने आश्वासन से, इतने भरोसे से जो आदमी कह रहा है तो मतलब कुछ है। मतलब है कि इसे जो जियेगा, इसे जो अपने भीतर जन्म देगा वह पायेगा कि सारे दुखो के बाहर हो गया। क्योंकि दुख—दुख एक ही बात का है, चाहे किसी तल पर हो, चाहे शरीर के तल पर, चाहे मन के तल पर और चाहे आत्मा के तल पर, दुख एक ही है—वह दुख अहकार है। वह दुख यह है कि 'मैं' कर रहा हूँ, यह मुझसे हो रहा है। यह मुझसे किया जा रहा है। यह गाली मुझे दी गयी, यह गाली मैंने दी है। बस वह सारी चीजे मेरे 'मैं' पर आकर इकट्ठी हो जाती हैं। लेकिन **जब परमात्मा पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है इतने विराट् से, तो इन सब छोटी-छोटी बातों से मुझ पर अन्तर क्यों पड़े।** मैं भी अछूता रह जाऊँ, मैं भी दूर खड़ा रह जाऊँ। मैं कहूँ कि गाली दी गयी, मुझे नही दी गयी है। मैंने जो किया वह किया गया है। मैंने नही किया है। **अगर मैं मुझ पर आते कर्मों और मुझ पर आते कर्मों के प्रति साक्षी रह जाऊँ, कर्ता न रह जाऊँ तो जल्दी ही अद्भुत रहस्य खुलने शुरू हो जाते हैं।** इन सात दिन इस सूत्र में जीने की कोशिश करें। इसी सूत्र की अलग-अलग आयामो मे, ईशावास्य उपनिषद् में हम व्याख्या करेगे। यहाँ जो मैं व्याख्या करूँ, अगर आप उसे जियेंगे भी, तो ही समझ में आयेगी। अन्यथा समझ मे नहीं आयेगी बात।

इस सूत्र के सम्बन्ध मे इतना ही। ध्यान के सम्बन्ध मे कुछ सूचनाएँ आपको दे दूं। क्योंकि कल सुबह से हम ध्यान मे प्रवेश करेगे। पहली बात ध्यान मे

रखें, जितनी तीव्र श्वांस ले सकें दिन भर, चौबीस घण्टे लें। जब तक होश रहे, जितनी गहरी श्वांस ले सकें उतनी गहरी श्वांस लें। हाइपर आक्सीजनेशन—जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर जा सके उतना आपकी साधना के लिए ऊर्जा (Energy) उपलब्ध होगी। आपके शरीर में बहुत-सी ऊर्जाएँ छिपी पड़ी हैं। उन्हें जगाने की और ध्यान की दिशा में सक्रिय करने की, चैनेलाइज करने की जरूरत है।

तो पहला सूत्र आपको देता हूँ उस शक्ति को जगाने का। जो निकटतम और सरलतम उपाय आदमी के पास उपलब्ध है, वह श्वांस है। सुबह उठते ही जैसे ही होश आये बिस्तर पर, गहरी श्वांस लेनी शुरू कर दें। रास्ते पर चलते हों तो गहरी श्वांस लें, जितनी गहरी ले सकते हों। आहिस्ता लें, परेशान नहीं हो जाना है। गहरी लें, शान्ति से लें, आनन्द से लें, पर लेनी गहरी है। और पूरे वक्त ख्याल रखना है कि जितनी ज्यादा भीतर प्राणवायु जा सके—आपके खून में, आपकी श्वांस में, आपके हृदय मे जितनी प्राणवायु जा सके और जितनी कार्बनडाय-आक्साइड बाहर फेंकी जा सके, उतनी ही, जो ध्यान हम करने जा रहे हैं, उसमें सरलता हो जायेगी। जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर होती है, उतनी ही शारीरिक अशुद्धि कम हो जाती है। और बड़े मजे की बात है कि शारीरिक अशुद्धि का आधार अगर छूट जाय तो मन को अशुद्ध होने में कठिनाई पड़नी शुरू हो जाती है। जितनी ताजी हवा भीतर होगी, उतने आपके मन के दूषित विचार को पनपने की सम्भावना कम हो जायेगी। और जैसा मैंने कहा, यह पूर्णबिंद जैसे मूलों के भीतर खिलने की, इनके फूल बनने की सम्भावना ज्यादा हो जायेगी।

तो पहला सूत्र—हाइपर आक्सीजनेशन—प्राणवायु आधिक्य है। इस पर ख्याल रखें, सात दिन पूरे। इसमे दो-तीन बातें होंगी, उनसे घबरायें न। अगर गहरी श्वांस लेंगे तो नींद कम हो जायेगी। उसकी जरा भी चिन्ता न करेंगे। नींद कम हो जाती है, जब भी नींद गहरी हो जाती है। तो जितनी गहरी श्वांस लेंगे, श्वांस की गहराई के साथ नींद की गहराई बढ़ेगी। इसलिए तो जो लोग मेहनत करते हैं वह रात गहरी नींद सोते हैं। जो मेहनत नहीं कर पाते वह रात गहरी नींद नहीं सो पाते। जितनी श्वांस की गहराई होगी भीतर, उतनी नींद की गहराई बढ़ जायेगी। और गहराई अगर बढ़ेगी, तो विस्तार कम हो जायेगा। उसकी चिन्ता नहीं लेनी है। अगर आप सात घण्टे सोते हैं तो चार घण्टे में पूरी हो जायेगी, पाँच घण्टे में पूरी हो जायेगी। उसकी कोई फिक्र नहीं रहे। लेकिन पाँच घण्टे में आप आठ घण्टे की बजाय ज्यादा ताजे, ज्यादा आनन्दित और ज्यादा स्वस्थ सुबह उठेंगे। इसलिए जब सुबह नींद टूट जाय—और जल्दी नींद टूटने

लगेगी। अगर आपने गहरी श्वाँस ली तो जल्दी नींद टूटने लगेगी। जब नींद टूट जाय, उठ जायें। सुबह के उस आनन्दपूर्ण क्षण को न खोयें। उसका ध्यान के लिए उपयोग करें।

दूसरी बात, **जितना कम भोजन ले सकें और जितना हल्का ले सकें उतना हितकर है।** जितना अल्प ले सकें और जितना हल्का ले सकें। जो जितना कर सके, जिसको जितनी सुविधा हो वह उतना कम कर ले। जितना कम कर लेंगे, उतना ध्यान की गति तीव्र और सुगम हो जायेगी। क्यों? कुछ गहरे कारण हैं। हमारे शरीर की कुछ सुनिश्चित आदतें हैं। ध्यान हमारे शरीर की आदत नहीं है। ध्यान हमारे लिये नया काम है। शरीर के बँधे हुए एसोसिएशन हैं। शरीर की बँधी हुई आदतों को अगर कहीं से तोड़ दिया जाय तो शरीर और मन नयी आदत को पकड़ने में आसानी पाते हैं। कई दफे तो आप हैरान होंगे कि अगर आप चिन्तित होते है और सिर खुजलाने लगते हैं, तो अगर आपका हाथ नीचे बाँध दिया जाय और आप सिर न खुजला पायें, तो आप चिन्तित न हो सकेंगे। आप कहेंगे कि सिर खुजलाने से चिन्ता का क्या सम्बन्ध है? शरीर की निश्चित आदत हो गयी है। वह पूरी की पूरी अपनी आदत को, अपनी व्यवस्था को पकड़ कर पूरा कर लेता है। शरीर की जो सबसे गहरी आदत है वह भोजन है—सबसे गहरी, क्योंकि उसके बिना तो जीवन नहीं हो सकता है। ध्यान रहे, **सेक्स से भी ज्यादा गहरी। जीवन में जितनी भी गहरी आदतें है** हमारे, उनमें सबसे **ज्यादा गहरी आदत भोजन है।** जन्म के पहले दिन से शुरू होती है। और मरने के आखिरी दिन तक चलती है। जीवन का अस्तित्व उस पर खड़ा है, शरीर उस पर खड़ा है। इसलिए अगर आपको अपने मन और शरीर की आदतें बदलनी हैं तो उसकी गहरी आदत को एकदम शिथिल कर दें। उसके शिथिल होने से शरीर का जो कल तक का इन्तजाम था, वह सब अस्त-व्यस्त हो जायेगा। और उसकी अस्त-व्यस्त हालत मे आप नयी दिशा में प्रवेश करने में आसानी पायेंगे। अन्यथा आप आसानी नहीं पायेंगे। तो जितना बन सके—किसी को उपवास करना हो, उपवास कर सकता है। किसी को एक बार भोजन लेना हो, एक बार ले सकता है। सब आपकी मर्जी पर है, नियम बनाने की जरूरत नहीं है। अपनी मर्जी से चुपचाप जितना कम-से-कम हो सके—न्यूनतम, इसका ख्याल रखें।

तीसरी बात—एकाग्रता। चौबीस घण्टे आप गहरी श्वाँस लेंगे ही. साथ **ही श्वाँस पर ध्यान भी रखें तो एकाग्रता सहज फलित हो जायेगी।** रास्ते पर चल रहे हैं, श्वाँस ले रहे हैं, श्वाँस बाहर से भीतर गयी तो देखते रहे—बी अटेंटिव। देखते रहें कि श्वाँस भीतर गयी। फिर श्वाँस बाहर जा रही तो बाहर गयी।

भीतर गयी, फिर बाहर गयी। ध्यान रखेंगे तो गहरी भी ले पायेंगे। नहीं तो जैसे ही भूलेंगे वैसे ही श्वास धीमी हो जायेगी। और गहरी लेते रहेंगे तो ध्यान भी रख पायेंगे, क्योंकि गहरी लेने के लिए ध्यान रखना ही पड़ेगा। तो ध्यान को श्वास के साथ जोड़ लें। कुछ काम करते वक्त अगर ऐसा लगे कि अभी ध्यान श्वास पर नहीं रखा जा सकता है, तो जिन कामों को करते वक्त ऐसा लगे उन कामों पर एकाग्रता रखें। खाना खा रहे हैं तो पूरी एकाग्रता से खायें। एक-एक कौर पूरे ध्यानपूर्वक उठायें। स्नान कर रहे हैं तो पानी का एक-एक कतरा भी पूरे ध्यानपूर्वक ऊपर पड़े। रास्ते पर चल रहे हैं तो पैर एक-एक उठे तो ध्यानपूर्वक। इस तरह सात दिन आप चौबीस घण्टे ध्यान में लीन हो जायें। यहाँ तो हम ध्यान करेंगे वह अलग, लेकिन मैं आपको बाकी समय पूरी पृष्ठभूमि आपकी बनाने के लिए कह रहा हूँ। तो तीसरी बात, जो भी करें, बहुत ध्यानपूर्वक, बहुत एकाग्र चित्त से करें। और ज्यादातर तो श्वांस पर ही एकाग्रता रखें, क्योंकि वह चौबीस घण्टे चलने वाली चीज है। न तो चौबीस घण्टे खाना खा सकते हैं, न स्नान कर सकते हैं, न चल सकते हैं। श्वांस चौबीस घण्टे चलेगी। उस पर चौबीस घण्टे ध्यान रखा जा सकता है। उस पर ध्यान रखें। भूल जायें कि दुनिया में कुछ और हो रहा है। बस एक ही काम हो रहा है कि श्वांस भीतर आ रही है और श्वांस बाहर जा रही है। बस, इस श्वांस का बाहर और भीतर आना आपके लिए माला की गुरिया बन जाय, इस पर ही ध्यान को ले जायें।

चौथा सूत्र—इन्द्रिय-उपवास (Sense deprivation)। तीन बातें इसमें करनी हैं। एक तो जो लोग पूरे दिन मौन रख सकें वे पूरे दिन के लिए मौन हो जायें। जिनको कठिनाई मालूम पड़े वह भी टेलीग्रैफिक हो जायें। जो भी बोलें तो समझें कि एक-एक शब्द की कीमत चुकानी पड़ रही है। तो दिन मे दस-बीस शब्द से ज्यादा नही। बहुत जरूरी मालूम पड़े, जान पर ही आ बने, तो ही बोले। जो पूरा मौन रख सकें, उनके फायदे का तो कोई हिसाब नहीं। पूरा मौन रखें, कोई कठिनाई नही है। एक कागज-पेंसिल रख लें, जरूरत पड़े तो लिख कर बता दें—अगर कुछ जरूरत पड़े तो। पूरे मौन हो जायें। मौन से आपकी सारी शक्ति भीतर इकट्ठी हो जायेगी, जिसे हमें ध्यान में आगे ले जाना है। आदमी की कोई आधे से ज्यादा शक्ति उसके शब्द ले जाते हैं। शब्द को तो बिलकुल छोड़ें। तो ख्याल कर लें, जिसकी जितनी सामर्थ्य हो उतना मौन हो जाय। और इतना तो ध्यान रखें ही कि आपके द्वारा किसी का मौन न टूटे। आपका टूटे, आपकी किस्मत, आप जिम्मेवार—लेकिन आपके द्वारा किसी का न टूटे। अकारण बातें किसी से न पूछें। अकारण जिज्ञासाएँ न करें,

व्यर्थ के सवाल न उठायें। किसी को बात-चीत में डालने की आप कोशिश न करें। सहयोगी बनें दूसरे के मौन रहने में। कोई पूछे तो उसको भी मौन रहने का इशारा दे दें। उसे भी याद दिला दें कि मौन रहना है। बात-चीत छोड़ दें बिलकुल सात दिन। फिर बाद में करिये, पीछे तो आपने की हैं बहुत। सात दिन बिलकुल छोड़ दें, जिससे जितना बन सके। पूरा बन सके, बहुत ही हितकर होगा। फिर आपको कहने को नहीं बचेगा कि ध्यान नहीं होता है। मैं जो पाँच बातें आपसे कहने जा रहा हूँ वह आप पूरी कर लेते हैं तो आपको कहने का कारण नहीं आयेगा कि ध्यान नहीं होता है। और आये कारण, तो आप जानना कि आपके सिवाय और कोई जिम्मेवार नहीं है। फिर मुझे आकर आप मत कहना। मौन रखें पूरा। जिनसे न बन सके, कमजोर हों, संकल्पहीन हों, मन दुर्बल हो, बुद्धि कमजोर हो, वह थोड़ा-बहुत बोल कर चलायें। जिनमें थोड़ी भी बुद्धिमत्ता हो, संकल्प हो, शक्ति हो, थोड़ा भी अपने पर भरोसा हो वे बिलकुल चुप हो जायें।

इन्द्रिय-उपवास में पहला मौन। दूसरा, आपकी आँख के लिए विशेष पट्टियाँ बनायी हैं। वे पट्टियाँ आप ले लेंगे और कल सुबह से उनका प्रयोग शुरू करें। पूरी आँख को बाँध देना है। आँख ही आपको बाहर ले जाने का द्वार है। जितनी ज्यादा देर बाँध रख सकें उतना अच्छा है। जब भी खाली बैठे हैं आँख पर पट्टी बँधी रहने दें। उससे दूसरे दिखायी भी नहीं पड़ेंगे। बात-चीत का भी मौका नहीं आयेगा और आपको अन्धा मानकर दूसरे भी छोड़ देंगे कि जाने दे, व्यर्थ उनको परेशान न करें। अन्धे हो जायँ। मौन होना तो आपने सुना ही है न, मैं कहता हूँ अंधे भी हो जायं। मौन होना एक तरफ की मुक्ति है और अंधा होना—अंधा होना और भी गहरी। क्योंकि आँख ही हमें चौबीस घण्टे बाहर दौड़ा रही है। आँख के बन्द होते ही आप पायेंगे, बाहर जाने का उपाय न रहा। भीतर चेतना वर्तुलाकार घूमने लगेगी। तो आँख पर पट्टी बाँध लें। चलते वक्त थोड़ा-सा ऊपर सरका लें। नीचे देखें, चार फीट आपको दिखायी पड़ता रहे रास्ता, उतना काफी है। उसे बाँध के ही पूरा वक्त गुजार दें। जो रात को बाँध के सो सकें, वे बाँध के ही सोयें। जिनको अड़चन मालूम हो वे निकाल दें। बाँध के सोयेंगे, नींद की गहराई में फर्क पड़ेगा। बाकी समय भी बाँधे ही रखेंगे। सुबह यहाँ जब ध्यान होगा तब पट्टी बँधी रहेगी सुबह के ध्यान में।

दोपहर के मौन में पट्टी खुली रहेगी, लेकिन आप यहाँ तक पट्टी बाँध कर ही आयेंगे। यहाँ आकर चुपचाप पट्टी खोलकर रख लेंगे। दोपहर के घण्टे भर के मौन में पट्टी खुली रहेगी। रात भी आप पट्टी बाँध कर ही आयेंगे। फिर रात के ध्यान में यहाँ आकर पट्टी खोल लेंगे। सुबह जब मैं बोलूँगा तब आपकी

पट्टी खुली रहेगी, दोपहर मौन में खुली रहेगी, रात के ध्यान में खुली रहेगी। इतना आपकी आँख के लिए मौका दूँगा। यह भी मौका इसलिए दूँगा कि वे भी आपको भीतर ले जाने में सहयोगी बन सकें तभी आपकी आँख को बाहर देखने का मौका देना है, अन्यथा आपकी आँख बँधी रहेगी। और सात दिन में आप हैरान हो जायेंगे कि मन के कितने तनाव आँख के बन्द रहने से विदा हो जाते हैं, जिसकी आप अभी कल्पना नहीं कर सकते।

मन के अधिकतम तनाव आँख से प्रवेश करते हैं और आँख का तनाव ही मन के स्नायुओं के लिए सबसे बड़े तनाव का कारण है। अगर आँख शान्त और शिथिल और रिलैक्स हो जाय तो मस्तिष्क के निन्यानबे प्रतिशत रोग विदा हो जाते हैं। तो इसका पूरे ध्यानपूर्वक उपयोग करना है। और ऐसा नहीं कि उसमें बचाव करें, करेंगे तो मेरा कोई हर्जा नहीं है। बचाव से आपका हर्जा होगा। ध्यान यही रखना है कि अधिकतम आपको बिलकुल अन्धा हो जाना है। आँख है ही नहीं, ऐसे सात दिन के लिए उसे छुट्टी दे देना है। सात दिन के बाद आप पायेंगे कि आँख ऐसी शीतल हो सकती है और आँख की शीतलता के पीछे इतने आनन्द के रस झरने बह सकते हैं, वह आपकी कल्पना में कभी भी नहीं था। लेकिन अगर आपने बीच-बीच में अपने साथ बेईमानी की तो मेरा जिम्मा नही है। वह आप पर निर्भर है। यहाँ कोई भी किसी दूसरे के लिए जिम्मेवार नही है। आप अपने को धोखा दे सकते हैं। चाहे तो अपने को धोखा देने से बच सकते है।

आँख की पट्टी के साथ ही आपको कान के लिए कपास मिलेगा। वह दोनों कानो में लगा लेना है। कान को भी छुट्टी दे देनी है। आँख, कान और मुँह तीनों को छुट्टी मिल जाय तो आपकी इंद्रियों का उपवास हो जाता है। उसी पट्टी के नीचे कान को भी बन्द करके ऊपर से बाँध लेना। तो दूसरे आपके मौन मे भी बाधा नही दे सकेंगे, देना भी चाहें तो भी नही दे सकेंगे। आप भी देना चाहें तो नहीं दे सकेंगे। क्योंकि दूसरे को अवसर देने का पाप भी नहीं लेना चाहिए। आपके कान खुलें तो किसी को बोलने का टेम्पटेशन हो सकता है। कान ही बन्द हैं, वह बोले भी तो भी नहीं सुन सकते, तो टेम्पटेशन नहीं होता। कान भी बन्द रखने हैं। सिर्फ सुबह यहाँ जब मैं बोलूँगा तब और रात को कान और आँख खुली रखनी है। दोपहर के ध्यान मे आपको कान बन्द रखना है, आँख खुली रखनी है। रात के ध्यान में आपको आँख खुली रखनी है, कान बन्द रखने हैं।

पाँचवीं बात—अन्तिम और सर्वाधिक जरूरी है। ध्यान रहे, परमात्मा के मन्दिर में केवल वे ही लोग प्रवेश करते हैं जो नाचते हुए प्रवेश करते हैं, जो

हँसते हुए प्रवेश करते हैं, जो आनन्दित प्रवेश करते हैं। रोते हुए लोगों ने परमात्मा के द्वार पर कभी भी मार्ग नहीं पाया है। इसलिए उदासी सात दिन के लिए छोड़ दें। प्रसन्न रहें, हँसें, नाचें, आह्लादित रहें। चियरफुलनेस पूरे वक्त आपके साथ हो। उठते-बैठते आनन्दमग्न। एक धुन में मस्त, एक हर्षोन्माद में मस्त। चल रहे हैं तो ऐसे नहीं कि जैसे हर कोई चलता है। चल रहे हैं तो ऐसे जैसे कि फकीर को, साधक को चलना चाहिए नाचते हुए आनन्द में। दूसरे की फिक्र छोड़ दें यहाँ। यहाँ हम आये ही इसलिए हैं ताकि हम दूसरे की फिक्र छोड़ सकें। कोई आपको पागल समझेगा बस। तो आप पहले ही समझ लें कि इतना ही समझेगा, इससे ज्यादा कोई और हर्जा नहीं है। तो इस पूरे शिविर को एक आनन्दमग्न वातावरण दें—मौन, लेकिन आनन्द से उबलता हुआ। चुप—लेकिन आह्लाद से नाचता हुआ। शान्त—लेकिन भीतर ऊर्जा नृत्य करती हुई। आह्लाद से भरे हुए नाचें, हँसें। यहाँ ध्यान में भी, सुबह का जो ध्यान है उसमें भी पूरे आनन्द से भरे हुए रहें। जब नाचने का मन आये ध्यान में तो नाचें, कूदें, हँसें। रोयें तो वह रोना भी आपके आनन्द से ही आये। आपके आँसू भी आपकी खुशी को ही बहाते हों। इसे ध्यान मे रखें। दोपहर के मौन में भी आपको नाचने का मन है—नाचें। डोलने का मन है—डोलें। रात के ध्यान में भी नाचना चाहें, नाचे। डोलना है, डोलें। हँसना है, हँसें। लेकिन आनन्द की थिरक सदा आपके साथ बनी रहे।

ये पाँच बातें कल सुबह से शुरू कर देनी है। इसलिए आज रात ही आप आँख की पट्टी और कान के लिए सारा इन्तजाम कर लेंगे। कल सुबह सूरज उगने के साथ आप वह नहीं हैं जो आये थे। फिर आपसे वह अपेक्षा नही है। फिर आपसे अपेक्षा जो मैंने कही वह है। और अगर आप इतनी अपेक्षा पूरी करते है तो कोई कारण नहीं है—कोई कारण नही है कि यहाँ से जाते वक्त आप न कह सकें—ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः। आप यह कहते हुए, आपका हृदय यह कहता हुआ जाये फिर इसमे कुछ भी कठिनाई नहीं है।

हरि. ॐ

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

जगत् में जो कुछ स्थावर-जङ्गम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर; किसी के धन की इच्छा न कर ।।१।।

ईशावास्य-उपनिषद् की आधारभूत घोषणा है कि सब-कुछ परमात्मा का है। इसीलिए ईशावास्य नाम है—ईश्वर का है सब-कुछ। मन करता है मानने का कि हमारा है। पूरे जीवन इसी भ्रांति में हम जीते हैं। कुछ हमारा है—मालकियत, स्वामित्व,—मेरा है। ईश्वर का है सब-कुछ तो फिर मेरे 'मैं' को खड़े होने की कोई जगह नहीं रह जाती। ध्यान रहे, अहंकार भी निर्मित होने के लिए आधार चाहता है। 'मैं' को भी खड़ा होने के लिए मेरे का सहारा चाहिए। मेरे का सहारा न हो तो 'मैं' को निर्मित करना असम्भव है। साधारणतः देखने पर लगता है कि 'मैं' पहले है, मेरा बाद में है। असलियत उल्टी है। मेरा पहले निर्मित करना होता है, तब उसके बीच में 'मैं' का भवन निर्मित होता है। सोचें, आपके पास जो-जो भी ऐसा है, जिसे आप कहते हैं मेरा, वह छीन लिया जाय सब, तो आपके पास 'मैं' भी बच नहीं रहेगा। मेरे का जोड़ है 'मैं'। मेरा धन, मेरा मकान, मेरा धर्म, मेरा मन्दिर, मेरी मस्जिद, मेरा पद, मेरा नाम, मेरा कुल, मेरा वंश। इन सारे लाखों मेरे के बीच में 'मैं' निर्मित होता है। एक-एक मेरे को हम गिराते चले जायें तो 'मैं' की भूमि छिनती चली जाती है। अगर एक भी मेरा न बचे तो 'मैं' के बचने की कोई जगह नहीं रह जाती। 'मैं' के लिए मेरे का नीड़ चाहिए, निवास चाहिए, घर चाहिए। 'मैं' के लिए मेरे के बुनियादी पत्थर चाहिए, अन्यथा 'मैं' का पूरा मकान गिर जाता है। ईशावास्य की पहली घोषणा उस पूरे मकान को गिरा देने वाली है। कहता है ऋषि : सब-कुछ परमात्मा का है। मेरे का कोई उपाय नहीं। 'मैं' भी अपने को मेरा कह सकूँ, इतना भी उपाय नहीं। कहता हूँ अगर तो नाजायज है। अगर कहता ही चला जाता हूँ तो विक्षिप्त हूँ।

मैं भी मेरा नहीं हूँ। और तो सब ठीक ही है। इसे दो-तीन दिशाओं से समझने की कोशिश करनी जरूरी है।

पहला तो, आप जन्मते हैं, मैं जन्मता हूँ, लेकिन मुझसे कोई पूछता नहीं। मेरी इच्छा कभी जानी नहीं जाती कि मैं जन्मना चाहता हूँ! **जन्म मेरी इच्छा, मेरी स्वीकृति पर निर्भर नहीं है।** मैं जब भी अपने को पाता हूँ जन्मा हुआ पाता हूँ। जन्मने के पहले मेरा कोई होना नहीं है। इसे ऐसा सोचें, आप एक मकान बनाते हैं। मकान से पूछते नहीं कि तू बनना भी चाहता है कि नहीं बनना चाहता है। मकान की कोई मर्जी नहीं। आप बनाते हैं, मकान बन जाता है। कभी आपने सोचा कि आपसे भी तो आपकी मर्जी कभी नहीं पूछी गयी। ईश्वर जन्माता है, आप जन्म जाते हैं। ईश्वर बनाता है, आप बन जाते हैं। मकान को भी होश आ जाय तो वह कहे, 'मैं'। मकान को भी होश आ जाय तो वह बनाने वाले को मालिक नहीं मानेगा। मकान भी कहेगा कि बनाने वाला मेरा नौकर है, मुझे बनाया है इसने। मेरा साधन है, मेरी सेवा की है, मैं बनना चाहता था इसने मुझे बनाया है। लेकिन मकान को होश नहीं है। आदमी को होश है। और कौन जाने, मकान को भी होश है, हो भी सकता है। होश के भी हजार तल है।

आदमी का होश का एक ढंग है, एक तरह की कांशेसनेस है। जरूरी नहीं है वैसी ही कांशेसनेस सबकी हो। मकान की और तरह की हो सकती है। पत्थर की और तरह की हो सकती है। पौधे की और तरह की हो सकती है। वे भी, हो सकता है अपने-अपने 'मैं' में जीते हों। और माली जब पौधे में पानी डालता हो तो पौधा यह न सोचता हो कि माली मुझे जन्मा रहा है, पौधा यही सोचता हो कि मैं माली की सेवा लेने का अनुग्रह कर रहा हूँ। कृपा है मेरी कि सेवा ले लेता हूँ! यद्यपि पौधे से कोई कभी पूछने नहीं गया कि तुझे जन्मना भी है। जो जन्म हमारी इच्छा के बिना है। उसे मेरा कहना एकदम ना-समझी है। जिस जन्म के पहले मुझसे पूछा ही नही जाता कभी, उसे मेरे कहने का क्या अर्थ है? न ही मौत आयेगी तो पूछ कर आयेगी। न ही मौत पूछेगी कि क्या इरादे है? चलते है, नहीं चलते हैं? नही, वह तो बस आयेगी और बस आ जायेगी। ऐसे ही अनजाने जैसे जन्म आता है। ऐसे ही बिना पूछे, द्वार पर दस्तक दिये बिना। बिना किसी पूर्व सूचना के, बिना आगाह किये, बस चुपचाप खड़ी हो जायेगी। और कोई विकल्प नहीं छोड़ेगी—कोई *आल्टरनेटिव* नहीं, कोई चुनाव नहीं, कोई च्वायस नहीं। यह भी नहीं कि क्षण भर रुक जाना चाहूँ तो रुक सकूं। तो **जिस मौत में मेरी इतनी भी मर्जी नहीं है उसे मेरी मौत कहना बिलकुल पागलपन है। जिस जन्म में मेरी मर्जी नहीं है वह जन्म मेरा नहीं है।** जिस मौत में मेरी मर्जी नहीं है वह मौत मेरी

नहीं है। तो इन दोनों के बीच में जो जीवन है, वह मेरा कैसे हो सकता है? उन दोनों के बीच में जिस जीवन को हम भरते हैं, जब उसके दोनों छोर मेरे नहीं हैं, दोनों बुनियादी छोर मेरे नहीं हैं, दोनों अनिवार्य छोर मेरे नहीं हैं, जिनके बिना मैं हो भी नहीं सकता, तो बीच का जो फैलाव है वह भी धोखा (Deception) है, वह भी मेरा कैसे हो सकता है ? लेकिन उसे हम भरते हैं, और मौत और जन्म को बिलकुल भूल जाते हैं। अगर हम मनसविद् से पूछें तो वह कहेगा, हम जानकर भूल जाते है। क्योंकि बड़े दुखद स्मरण हैं ये। मेरा जन्म भी मेरा नहीं है तो कितना दीन हो जाता हूँ। मेरी मृत्यु भी मेरी नहीं है तो छिन गया सब, कुछ बचा नहीं, मेरे हाथ रिक्त और खाली हो गये। राख बची। और इन दोनों के बीच में जिस जीवन के लम्बे सेतु को मैं निर्मित करूँगा—जैसे एक नदी पर हम पुल बनाते हैं, न यह किनारा हमारा है, न वह किनारा हमारा है। न इस किनारे पर रखे हुए सेतु की बुनियाद हमारी है। न उस तरफ की बुनियाद हमारी। सोचें जरा तो बीच की नदी पर जो फैला हुआ पुल है, वह भी हमारा कैसे हो सकता है ? आधार जिसके हमारे नहीं हैं वह हमारा नहीं हो सकता है। इसलिए हम जानकर भुला देते हैं।

आदमी बहुत-सी बातें जानकर भुलाये हुए है। कुछ बातों को वह स्मरण ही नहीं करता। क्योंकि वह स्मरण उसके अहंकार की सारी की सारी अकड़ खींच लेगा, बाहर कर देगा। फिर क्या है हमारा ? छोड़ें जन्म और मृत्यु को। जीवन में ऐसा भ्रम होता है कि बहुत कुछ हमारा है। लेकिन जितना ही खोजने जाते हैं, पाया जाता है कि नहीं वह भी हमारा नही है। आप कहते हैं किसी से मेरा प्रेम हो गया। बिना यह सोचे हुए कि प्रेम आपका निर्णय है ? नहीं, लेकिन प्रेमी कहते हैं, हमें पता ही नही चला कब हो गया ! हमने किया नहीं। तो जो हो गया वह हमारा कैसे हो सकता है ? नहीं होता तो नहीं होता। हो गया तो हो गया। बड़े परवश हैं, बड़ी नियति है। सब जैसे कहीं बँधा है। लेकिन बंधन कुछ ऐसा है कि जैसे हमें एक जानवर को एक रस्सी में बाँध दें, एक खूँटी में बाँध दें। और जानवर रस्सी की खूँटी में चारों तरफ घूमता रहे। घूमने से भ्रम पैदा होगा कि मैं स्वतन्त्र हूँ, क्योंकि घूमता हूँ। और वह रस्सी को भुला देगा, क्योंकि रस्सी दुखद है। वह जो खूँटी से बँधी हुई रस्सी है वह बड़ी दुखद है, वह परतन्त्रता की खबर लाती है। सच तो यह है कि वह स्वयं के न होने की खबर लाती है। परतन्त्र होने योग्य भी हम नहीं हैं, स्वतन्त्र होने की तो बात बहुत दूर है। परतन्त्र होने के लिए भी तो हमें होना चाहिए, वह भी हम नहीं हैं। वह जो खूँटी बँधी है, चारों तरफ घूम लेता है जानवर, कभी बायें चला जाता है, कभी दायें चला जाता है तो

सोचता है स्वतन्त्र हूँ। और जब स्वतन्त्र हूँ तो 'मैं' हूँ। फिर धीरे-धीरे अपने को समझा लेता होगा कि खूँटी से बँधा हूँ, यह भी मेरी मर्जी है। जब चाहूँ तब तोड़ दूँ। राजी हो गया हूँ, यह भी मेरे हित के लिए है।

जीवन में हम बहुत-सा भ्रम पैदा करते हैं। कहते हैं क्रोध, कहते हैं प्रेम, कहते हैं घृणा, मित्रता, शत्रुता—लेकिन कुछ भी तो हमारा निर्णय नहीं है। कभी आपने ऐसा क्रोध किया है जो आपने किया हो? कभी नहीं किया। जब क्रोध होता है तब आप होते ही नहीं। कभी आपने प्रेम किया है, जो आपने किया हो? अगर आप प्रेम कर सकते तब तो किसी को भी कर सकते, लेकिन किसी को कर पाते हैं और किसी को नहीं कर पाते। और किसी को कर पाते हैं, नहीं चाहते, तो भी करते हैं। और किसी को नहीं कर पाते हैं तो चाहें तो भी नहीं कर पाते। जिन्दगी की सारी भावनाएँ किसी अज्ञात छोर से आती हैं—जहाँ से जन्म आता है वहीं से। आप नाहक ही बीच में मालिक बन जाते हैं। और आपने क्या किया है? क्या है जो आपका किया हुआ है? भूख लगती है, नींद आती है, सुबह नींद टूट जाती है, साँझ फिर आँखें बन्द होने लगती है। बचपन आता है फिर कब चला जाता है, फिर कैसे चला जाता है? न पूछता, न विचार विमर्श लेता न हम कहें तो क्षण भर ठहरता। फिर जवानी चली जाती है, फिर जवानी बिदा हो जाती है। फिर बुढ़ापा आ जाता है। आप कहाँ हैं? नहीं, लेकिन आप कहे चले जाते हैं कि मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ। जैसे कि जवानी कुछ आप पर निर्भर हो। फिर जवानी के अपने फूल हैं। बुढ़ापे के अपने फूल हैं जो खिलते हैं। वैसे ही खिलते हैं जैसे वृक्षों पर फूल खिलते हैं। गुलाब का पौधा नहीं कह सकता कि मैं गुलाब के फूल खिलाता हूँ। क्योंकि यह तभी कह सकता था जब चमेली के खिला सकता होता। लेकिन चमेली के तो खिला नहीं पाता। कुछ यश मत ले लेना इस सबसे। बचपन में सरलता होती है तो होती है। और जवानी में अगर काम और वासना पकड़ लेती है तो वैसी ही पकड़ लेती है जैसे बचपन में निर्दोषता पकड़ लेती है। न उसके आप मालिक होते हैं, न जवानी की कामवासना के आप मालिक होते हैं। और अगर बुढ़ापे में मन ब्रह्मचर्य की तरफ झुकने लगता है तो कुछ अपना गौरव मत समझना। वैसे ही, ठीक वैसे ही, जैसे जवानी में काम पकड़ लेता है, बुढ़ापे में काम से विरक्ति पकड़ लेती है। और जिसको नहीं पकड़ती है उसका भी कुछ वश नहीं है। और जिसको पकड़ लेती है वह भी नाहक का गौरव न ले।

'मैं' को खड़े होने की जगह नहीं है अगर जीवन को एक-एक कण-कण सोचेंगे तो। पायेंगे, 'मैं' को खड़े होने की कोई जगह नहीं है। लेकिन भ्रम पैदा हम क्यों कर लेते हैं? कैसे यह भ्रम (Illusion) पैदा होता है। यह

प्रवंचना (Deception) आती कहाँ से है ? यह आती इसलिए है कि हमें पूरे वक्त ऐसा लगता है कि विकल्प (Alternative) हैं, जैसे आपने मुझे गाली दी तो मेरे सामने दो विकल्प हैं कि चाहूँ तो मैं गाली का जवाब दूँ और चाहूँ तो न दूँ—ऐसा मुझे लगता है, हैं नहीं। ऐसा मुझे लगता है कि चाहूँ तो जवाब दूँ और चाहूँ तो जवाब न दूँ ! लेकिन क्या सच में ही विकल्प होते हैं ? क्या जो आदमी गाली के उत्तर में गाली देता है वह चाहता तो न देता ? आप कहेंगे कि चाहता तो नहीं दे सकता था। लेकिन थोड़ा और गहरे जाना पड़ेगा। यह चाह भी आप में होती है कि आप ले आते हैं ? गाली देने की चाह, या न देने की चाह, वह भी क्या आपके वश मे है ? नही, जो बहुत गहरे खोजते हैं वे कहते हैं कि वहीं तो हमे पता चलता है कि चीजें हमारे वश के बाहर हो जाती हैं। एक आदमी को ख्याल आता है कि गाली दूं, गाली देता है। एक आदमी को ख्याल आता है, नहीं दूँ, तो नहीं देता है। लेकिन यह ख्याल कि दूँ या नहीं दूँ यह ख्याल कहाँ से आता है ? यह ख्याल आपका है ? यह वही से आता है, जहाँ से जन्म है। यह वही से आता है जहाँ से प्रेम है। यह वही से आता है जहाँ से प्राण हैं। यह वही खो जाता है जहाँ मौत। यह वही लीन हो जाता है जहाँ जाती हुई श्वाँस। लेकिन धोखा देने की सुविधा हो जाती है कि मेरे हाथ में है। चाहता तो गाली न देता। लेकिन किसने कहा था कि आप दें ? नहीं, आप कहेंगे, बुद्ध हैं, महावीर हैं, वह गाली नही देते। क्या आप समझते है वे चाहें तो गाली दे सकते हैं ? नहीं, जैसे आप गाली देने में बँधा हुआ अनुभव करते हैं उससे कम बँधा हुआ बुद्ध और महावीर अनुभव नहीं करते हैं न गाली देने में। चाहें तो भी दे नही सकते। नही, वह चाह ही पैदा नही होती।

एक जेन (Zen) फकीर के पास सुबह-सुबह एक आदमी आया और कहने लगा कि आप इतने शान्त क्यो हैं ? और मैं इतना अशान्त क्यों हूँ ? उस फकीर ने कहा, बस मैं शान्त हूँ और तुम अशान्त हो, बात खत्म हो गयी। अब इसमें कुछ और आगे कहने को नही है। उस आदमी ने कहा : नही, लेकिन आप शान्त कैसे हुए ? उस फकीर ने पूछा . मैं तुमसे पूछना चाहूँगा कि तुम अशान्त कैसे होते हो। वह आदमी कहने लगा : अशान्ति आ जाती है। उस फकीर ने कहा : बस ऐसा ही हुआ है। शान्ति आ गयी। और मेरा कोई गौरव नही है। जब तक अशान्ति आती थी, आती थी। मैं कुछ भी कर न सका और जब शान्ति आ गयी तो अब मैं अगर अशान्ति लाना चाहूँ तो उतना ही बँध गया हूँ, अब भी कुछ नही कर पाता हूँ।

उस आदमी ने कहा : नहीं, लेकिन मुझे भी रास्ता बतायें शान्त होने का ? तो उस फकीर ने कहा : मैं तो एक ही रास्ता जानता हूँ कि तुम यह भ्रम छोड़ दो कि तुम कुछ कर सकते हो । अशान्त हो तो अशान्त हो जाओ । जानो कि अशान्त हूँ, मेरे हाथ में नहीं । और तब तुम पाओगे कि पीछे से शान्ति आने लगी । वह भी तुम्हारे हाथ में नहीं है । शान्त होने की कृपा करके कोशिश मत करो । जो लोग भी शान्त होने की कोशिश करते हैं वे और अशान्त हो जाते हैं । अशान्त तो होते ही हैं, अब यह शान्त होने की कोशिश और नयी अशान्ति को जन्म दे जाती है ।

पर उस आदमी ने कहा कि नहीं मुझे बात कुछ जमती नहीं, मुझे तो शान्त होना है । उस फकीर ने कहा : तुम अशान्त रहोगे । क्योंकि तुम्हें कुछ होना है । तुम छोड़ नहीं सकते परमात्मा पर । जबकि सब उस पर है । तुम्हारे हाथ में कुछ है नहीं । जिस दिन से हम राजी हो गये जो था उसी के लिए, उसी दिन से हम शान्त हुए । जब तक हम कुछ होना चाहते थे तब तक हम कुछ हो न सके ।

पर नहीं वह आदमी नहीं माना । उसने कहा कि तुम्हारी शान्ति से ईर्ष्या पैदा होती है । और हम ऐसे भाग कर चले न जायेंगे । तब उस फकीर ने कहा : रुको और जब कोई न रहे यहाँ, तब पूछ लेना । फिर दिन में कई मौके आये— कोई न था । उस आदमी ने कहा कि अब कुछ बता दें, अब कोई भी नहीं है । तो उस फकीर ने ओंठ पर उँगली रखी और कहा कि चुप । वह आदमी बड़ा परेशान हुआ । उसने कहा कि जब लोग आ जाते हैं और मैं पूछता हूँ तो आप कहते हैं जब कोई न रहे तब पूछना । और जब कोई नहीं रहता और मैं पूछता हूँ तो आप कहते हैं—चुप ! यह हल कैसे होगा ?

साँझ हो गयी, सूरज ढल गया, सब लोग चले गये । झोंपड़ा खाली हो गया । उसने कहा कि अब तो बतायें ! तो फकीर ने कहा : बाहर आ । बाहर गये, पूर्णिमा का चाँद निकला था । फकीर ने कहा, देखता है यह पौधे ?

सामने ही छोटे-छोटे पौधे लगे थे ।

उसने कहा : देखता हूँ ।

फकीर ने कहा : देखता है, वह दूर खड़े वृक्ष आकाश को छूते ।

उसने कहा : देखता हूँ ।

तब उस फकीर ने कहा : वह बड़े हैं और यह छोटे हैं । और झगड़ा कुछ भी नहीं । इनमें मैंने कभी विवाद नहीं सुना । इस छोटे पौधे ने कभी बड़े पौधे

से नहीं पूछा कि तू बड़ा क्यों है ? छोटा अपने छोटे होने में शान्त है। बड़े ने कभी छोटे से नहीं पूछा कि तू छोटा क्यों है ? बड़े की अपनी मुसीबतें हैं। जब तूफान आते हैं तब पता चलता है। छोटे की अपनी तकलीफ है। पर छोटा छोटे होने को राजी है। बड़ा बड़ा होने को राजी है। और उन दोनों के बीच मैंने कभी संवाद नहीं सुना। सदा ही मैंने दोनों को शान्त पाया है। तू भी कृपा कर और मुझे छोड़। मैं जैसा हूँ वैसा हूँ। तू जैसा है वैसा है।

पर वह आदमी कैसे माने। हम भी कैसे मानें। मन करता है कुछ होने को। क्यों करता है ? हमने मान रखा है कि हम कुछ कर सकते हैं इसलिए। नहीं, ईशावास्य कहता है, नहीं कर सकते। कर्ता नहीं बन सकते। भाग्य की जो अद्‌भुत कल्पना है उसके पीछे यही रहस्य था। नियति (Destiny) की जो अद्‌भुत धारणा है, उसके पीछे यही राज है। नियति और भाग्य का यह मतलब नहीं है कि आप कुछ न करें। बैठ जायें। क्योंकि भाग्य तो कहता है, बैठ भी नहीं सकते तुम। वह बिठाये तो बैठ सकते हैं। भाग्य तो कहता है कुछ न करें यह भी तुम नहीं कर सकते। वह न कराये तो नहीं करना आ जायेगा। ध्यान रखें, भाग्यवादी जो लोग दिखायी पड़ते हैं उनमें एक भी भाग्यवादी नहीं हैं। वह कहते हैं, सब भाग्य कर रहा है, हम क्या करें। तो हम कुछ नहीं करते। 'हम कुछ भी नहीं करते', इतना भी ख्याल शेष रह गया तो करने का भाव शेष है। पूर्ण नियति की धारणा यह है कि हम हैं ही नहीं। करने का उपाय नहीं। वही है—परमात्मा ही।

और जब हम कर न सकते हों, कर्ता न हो सकते हों, तो फिर ममत्व, मेरा क्या होगा ? किसे हम कहें मेरा है ? बेटे को कहें, मेरा है ? लगता है क्योंकि मैंने जन्म दिया ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसा भ्रम होता है। हालाँकि किसी ने कभी किसी बेटे को जन्म नहीं दिया। बेटे जन्मते हैं। आपसे रास्ता खोज लेते हैं। काम-वासना को आप जन्म नहीं देते। आपसे रास्ता बना लेती है। एक स्त्री को आप प्रेम करने लगते हैं। वह प्रेम आपसे नहीं आता, वह प्रेम आपसे रास्ता बना लेता है। वह दोनों की वासना, दोनों का प्रेम और दोनों के शरीर मिलने को आतुर हो जाते हैं। वह आतुरता आपकी नहीं है। वह आतुरता आपके रोयें-रोयें में छिपी है। वह दबी है कण-कण में, वह धक्के देती है। फिर एक बच्चे का जन्म हो जाता है। कोई माँ बन जाती है, कोई बाप बन जाता है। लगता है जैसे हमने जन्म दिया। नियति हँसती है। नियति बिलकुल हँसती है। आपसे जन्म लिया गया है, आपने दिया नहीं—(You have been

just a passage.) । माँ एक यात्रा-पथ है जिससे नियति ने जन्म लिया। आपने कुछ किया नहीं। एक मकान आप बना लेते हैं तो कहते हैं मेरा है।

लेकिन देखते हैं—चिड़ियाँ भी घोंसला बना लेती हैं।

इस जगत् में छोटा-से-छोटा प्राणी भी रहने की जगह बनाता है। और ऐसी चिड़ियाँ भी हैं जो कभी किसी से सीखती नहीं। कुछ ऐसी चिड़ियाँ हैं, जिनको जन्म देने के बाद, जिनके अण्डा देने के बाद माँ उड़ जाती है। अण्डा जब फूटता है तो चिड़िया सीधी बाहर निकल आती है। उसे माँ की शिक्षा नहीं मिल पाती, पिता का संरक्षण नहीं मिल पाता। किसी स्कूल में उसको भर्ती नहीं किया जाता। बड़े आश्चर्य की बात है वह चिड़िया फिर वैसा ही घोसला बनाती है जैसा उसकी माँ ने बनाया था, और उसकी माँ की माँ ने बनाया था। और वह घोंसला साधारण नहीं होता—बहुत बड़े तकनीक का, बड़ा आर्चिटेक्चर का होता है। इतना कि आदमी को भी बनाना पड़े तो सीखना पड़े, फिर भी पूरी कुशलता से बना ले तो कठिन है। यह घोंसला कैसे बन जाता है? वैज्ञानिक कहते हैं—बिल्ट इन प्रोग्रेम। वह कहते हैं चिड़िया के भीतर उसके रोयें-रोयें में बिल्ट-इन-प्रोग्रेम है। उसके जन्म के साथ ही, उसकी हड्डी-माँस-मज्जा मे उस घोसला बनाने की पूरी की पूरी नियमावली छिपी है। वह बनायेगी ही। वह वैसे ही घास-पत्ते खोज लायेगी जो उसकी माँ ने खोजे थे। किसी ने सिखाया नही है, माँ उसे मिली नहीं है। किसी स्कूल में उसे भर्ती नही किया गया। वह वही पत्ते चुन लायेगी, वही घास के तिनके उठा लायेगी—फिर वही ढाँचा, फिर वही घोसला बन जायगा। आदमी भी बनाता है। सभी बनाते हैं। 'मेरा' कहने का कोई कारण नही—कोई भी कारण नहीं।

किस चीज में हम कहें मेरा है? धन में? सारे प्राणी संग्रह करते हैं! अनेक-अनेक रूपों में करते हैं और ऐसा नही कि आदमी उनमें सर्वाधिक कुशल है। ऐसा भी है कि आदमी से भी ज्यादा कुशल संग्रह करने वाले प्राणी हैं। साइबेरिया में सफेद भालू होता है। छह महीने बर्फ पड़ती है। उस छह महीने में आदमी का बचना मुश्किल है। लेकिन भालू बच जाता है। उसके संग्रह करने का ढंग बहुत अद्भुत है। उसका परिग्रह करने का ढंग बहुत कुशल है। वह चीजें इकट्ठी नहीं करता, छह महीने के लिए चर्बी इकट्ठी कर लेता है। शरीर के भीतर चर्बी बढ़ाये चला जाता है। चर्बी इतनी इकट्ठी कर लेता है कि छह महीने जब बर्फ पड़ती है और बर्फ में दबके नीचे दब जाता है तो अपनी ही चर्बी खाता रहता है छह महीने तक बर्फ में दबा हुआ। आपकी तिजोरी इतने भीतर नहीं है। चोर उठा ले जा सकते हैं। और तिजोरी बहुत-सी चीजों पर

निर्भर है सभी काम कर पायेगी। धन पास में हो और बाजार खो जाये तो काम नहीं कर पायेगी। वह सफेद भालू ज्यादा कुशल है। वह सीधा भोजन ही इकट्ठा करता रहता है। और चूँकि बर्फ में इतना दब जायेगा कि चबाने, श्वांस लेने मांस-मज्जा बनाने की सुविधा नहीं रह जायेगी, इसलिए तैयार भोजन चर्बी की तरह इकट्ठा करता है। उसको चुपचाप पचा लेगा।

सारा जगत् संग्रह करता है। तो संग्रह करने में कुछ यह मत सोच लेना कि हम ही करते हैं। कोई माँ अगर अपने बेटे को दूध पिलाती है तो किसी बहुत गौरव से न भर जाय। दूध भर आता है, बेटे के आने के साथ ही शरीर दूध बनाना शुरू कर देता है। बेटा दूध पीने से इनकार कर दे तब माँ को तकलीफ हो। तब उसे पता चले कि बच्चा दूध पी लेता है, बड़ी कृपा है। न पिये तो बेचैनी पैदा हो जायेगी। माँ ने कभी जान कर दूध नही बनाया। जैसे बच्चा अनजाना पैदा होता है वैसा ही बच्चे के साथ दूध पैदा हो जाता है। बच्चा बड़ा हुआ कि दूध खोना शुरू हो जाता है। जैसे ही बच्चे की दूध की जरूरत पूरी हो गयी, दूध विदा हो जाता है। यह सब निसर्गगत है। संग्रह की वृत्ति निसर्गगत है। इसलिए ईशावास्य का यह सूत्र कहता है—सब परमात्मा का है। निसर्ग का कहें, नियति का कहें, प्रकृति का कहें, लेकिन ईशावास्य उसे कहता है, सब परमात्मा का है। क्योंकि निसर्ग, नियति और प्रकृति ये सब यान्त्रिक (Machenical) शब्द हैं। और यह इतना विराट्, इतना रहस्यपूर्ण, यान्त्रिक नहीं हो सकता—जीवन्त है, चेतन है इसलिए।

विज्ञान भी यही कहता है कि सब प्रकृति कर रही है। जब हम कहते हैं विज्ञान की भाषा मे कि सब प्रकृति कर रही है तो हम दीन तो हो ही जाते हैं, हीन तो हो ही जाते हैं, यन्त्रवत् भी हो जाते हैं। लेकिन जब ईशावास्य कहता है सब परमात्मा कर रहा है तो एक तरफ हमारा अहंकार छिन जाता है, दूसरी तरफ हम परमात्मा हो जाते हैं। वही महत्त्वपूर्ण है। वही समझ लेने जैसा है। इसलिए विज्ञान जितना विकसित होता जाता है, विज्ञान का भी जोर यही है कि आदमी यह भ्रम छोड़ दे कि 'मैं' कर रहा हूँ—सब हो रहा है। लेकिन उसका जोर इस बात पर है कि सब मेकेनिकली हो रहा है, सब यन्त्रवत् हो रहा है। मशीन की तरह सब होता है। सारा जगत् यन्त्रवत् चल रहा है। अगर सब यन्त्रवत् हो रहा है तो आदमी दीन हो जाता है। उसका अहंकार तो खण्डित हो जाता है, लेकिन किसी दूसरे मार्ग से उसकी गरिमा वापस नहीं लौटती। उसका गौरव, जो अहंकार से मिलता था, बड़ा क्षुद्र था। छोटे-से मिट्टी के तेल के जलते हुए दिये की तरह था। वह तो बुझ जाता है—गहन अन्धकार छा जाता

है, लेकिन सूरज कहीं से वापस नहीं लौटता। इसलिए विज्ञान के बजाय ईशावास्य की घोषणा ज्यादा कीमती है। इधर आपकी टिमटिमाती छोटी-सी ज्योति को बुझाता है ईशावास्य कि बुझो तुम, तुम नहीं हो। तुम नाहक परेशान हो। दूसरी तरफ महासूर्य को जन्म दे जाता है। एक तरफ कहता है, तुम नहीं हो और दूसरी तरफ से तत्काल तुम्हें परमात्मा की स्थिति में स्थापित कर जाता है। **एक तरफ से तुम्हें छीन लेता है, मिटा देता है और दूसरी तरफ से तुम्हें पूर्ण दे जाता है।** इसलिए अहंकार के मिट्टी के दिये और मिट्टी के तेल में जलती हुई धुंधियारी ज्योति को तो बुझा देता है—उसमें धुआँ भी था, बास भी थी, लेकिन सूरज के आलोक को दे जाता है। मिटाता है 'मैं' को, लेकिन 'परम मैं' को प्रतिष्ठा दे जाता है।

धर्म और विज्ञान के मूल आयाम में यही भेद है। विज्ञान भी उन्हीं बातों को कह रहा है जिन्हें धर्म कहता है। लेकिन उसका जोर यन्त्र पर है। धर्म भी वही कह रहा है, लेकिन उसका जोर चेतना पर है, प्रज्ञा पर है, जीवन्त पर है और वह जोर कीमती है। **अगर पश्चिम का विज्ञान सफल हो गया तो अन्ततः आदमी मशीन हो जायेगा। अगर पूरब का धर्म जीत गया तो अन्ततः मनुष्य परमात्मा हो जायेगा।** दोनों ही अहंकार छीन लेते है, लेकिन एक से अहकार छिनता है तो आदमी नीचे गिरता है। आज से डेढ़ सौ, दो सौ वर्ष पहले जब विज्ञान ने पहली बार यह बात करनी शुरू की कि आदमी परवश है। जब डार्विन ने कहा कि तुम यह भूल जाओ कि तुम्हें परमात्मा ने निर्मित किया है—तुम पशुओं मे आये हो। तब आदमी का पहला अहकार टूटा। बड़े जोर से टूटा। सोचता था ईश्वर-पुत्र हूँ, पता चला नहीं। पिता ईश्वर नही मालूम पड़ता। वानर जाति का कोई चिम्पांजी, कोई बन्दर पिता मालूम पड़ता है। निश्चित ही धक्के की बात थी। कहाँ परमात्मा था सिहासन पर, जिसके हम बेटे, थे, और कहाँ वन्दर के बेटे होना पड़ा। बहुत दुखद था। बहुत पीड़ादायी था। तो पहले विज्ञान ने कहा कि **आदमी, आदमी है, यह भूले—जाने कि एक प्रकार का पशु है।** सारी अहंकार की व्यवस्था टूट गयी। लेकिन यात्रा जब भी किसी तरफ शुरू हो जाय तो जल्दी रुकती नही। अन्त तक पहुँचती है। जानवर पर रुकना मुश्किल था। पहले विज्ञान ने कहा कि आदमी एक तरह का पशु है। फिर विज्ञान ने पशुओं की खोजबीन की और पाया कि **पशु एक तरह का यन्त्र है।**

आप देखते हैं कछुवा सरक रहा है। आप देखते हैं धूप घनी हो गयी तो कछुवा छाया में चला गया। आप कहेंगे कि कछुवा सोच कर गया। विज्ञान कहता है नहीं। विज्ञान ने यन्त्र के कछुवे बना लिये। उनको छोड़ दे। जब तक धूप कम तेज रहती तब तक वह धूप मे रहे आते हैं। जैसे ही धूप घनी हुई

कि वे सरके। झाड़ी में चले गये। यन्त्र है, क्या हो गया उसको ? विज्ञान कहता है, Thermostat—इतने से ज्यादा गर्मी जैसे ही भीतर पहुँची कि बस छाया की तरफ सरकना शुरू हो जाता है। इसमें कुछ चेतना नहीं है। आप देखते हैं एक पतिंगा उड़ता है, दिये की ज्योति की तरफ। कवि कहते हैं कि दीवाना है। ज्योति का प्रेमी है। इसलिए जान गँवा देता है। वैज्ञानिक नहीं कहते, कहते हैं दीवाना वगैरह कुछ भी नहीं है। मेकेनिकल है। जैसे ही उस पतिंगे को ज्योति दिखायी पड़ती है, उसका पंख ज्योति की तरफ झुकना शुरू हो जाता है। उन्होंने यान्त्रिक पतिंगे बना लिये। उनको छोड़ दें, अंधेरे में घूमते रहेंगे, फिर दिया जलायें, फौरन दिये की तरफ चले जायेंगे।

पीछे विज्ञान ने सिद्ध किया कि जानवर यन्त्र है। अन्तिम नतीजा बड़ा अजीब हुआ। आदमी था जानवर, फिर जानवर हुआ यन्त्र। अन्ततः निष्कर्ष निकला कि आदमी यन्त्र है। स्वभावतः, इसमे सचाई है। इसमें थोड़ी सचाई है। अहंकार तोड़ते हैं, यह तो ठीक है, लेकिन अहंकार तोड़ कर आदमी नीचे गिरता है, यन्त्रवत् हो जाता है। परिणाम खतरनाक होंगे। परिणाम खतरनाक हुए हैं। स्टैलिन और हिटलर इसीलिए करोड़ो लोगों की हत्या कर सके। क्योंकि अगर आदमी यन्त्र है तो हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। देखें, मजे की बात। कृष्ण भी गीता मे कह सके कि आदमी की आत्मा अमर है, वह मरती नही, इसलिए हत्या से कोई फर्क नही पड़ता। और स्टैलिन भी कह सकता है कि आदमी यन्त्र है, आत्मा है ही नही, हत्या से कोई फर्क नही पड़ता। लेकिन कृष्ण जब कहते हैं कि आत्मा अमर है अर्जुन, तू कितना ही मार, मरती नही। तब नतीजा तो वही दिखायी पड़ता है कि अर्जुन भी मारने को उत्सुक हो जाता है। लेकिन परिणाम बड़े भिन्न हैं। आत्मा की अमरता की घोषणा से मृत्यु बेमानी हो जाती है। यहाँ स्टैलिन भी राजी हो जाता है मारने को लाखो, करोड़ों लोगों को। लेकिन इसलिए कि आत्मा तो है ही नही, मारने में हर्ज क्या है ? एक मशीन को मारने मे कोई भी तो हर्ज नही है। अगर आप एक मशीन को डण्डा मार दें तो अहिंसक भी आपसे नहीं कह सकेगा कि हिंसा की। एक मशीन को तोड़ दें, दो टुकड़े कर दें तो अदालत में मुकदमा तो नही चलाया जा सकता। ऊपर से परिणाम एक से मालूम पड़ते हैं। नही, लेकिन एक से नहीं, क्योंकि परिणाम की आभा बहुत भिन्न है। अर्थ बहुत भिन्न हैं। सारी बात ही बदल जाती है। विज्ञान भी कहता है कि प्रकृति कर रही है सब, मनुष्य नहीं। धर्म भी कहता है, लेकिन धर्म कहता है कि परमात्मा कर रहा है, मनुष्य नहीं। विज्ञान अहंकार को तोड़

कर मनुष्य को नीचे गिरा देता है। धर्म अहंकार को तोड़ कर मनुष्य को ऊपर की यात्रा पर भेज देता है।

ईशावास्य का यह सूत्र कहता है——न मानना किसी चीज को अपना तो 'मैं' मिट जायगा। मानना परमात्मा की। किसी के धन की वांछा न करना। क्यों? यह भी बहुत मजे की बात है। जब मेरा कुछ भी नहीं है, तो तेरा भी कुछ नहीं हो सकता। ध्यान रखें, इस सूत्र के बड़े गलत अर्थ किये गये हैं। 'किसी के धन की वांछा मत करना' इसके इतने गलत अर्थ किये गये है कि कभी-कभी हैरानी होती है। अधिकतर व्याख्याकारो ने इसका अर्थ किया है कि दूसरे के धन की वांछा पाप है, दूसरे के धन की चाह मत करना। लेकिन पागल मालूम पड़ते हैं। क्योंकि पहले सूत्र कहता है कि धन किसी का है ही नहीं। परमात्मा का है। तो जब पहले ही सूत्र कहता है कि धन मेरा नही तो तेरा कैसे हो सकता है? नहीं-नहीं, दूसरे के धन की वाछा इसलिए मत करना, कि जो धन मेरा नहीं है वह तेरा भी नहीं है। वांछा का उपाय तभी है जब वह तेरा हो——मेरा हो सके। नहीं तो वांछा का उपाय नहीं। लेकिन नीति-शास्त्रियों ने इसका जो उपयोग किया है वह यह किया है कि दूसरे के धन को सोचना भी पाप है! लेकिन जब मेरा ही धन नहीं है तो दूसरे का कैसे हो सकता है? इस सूत्र का अर्थ नीतिवादी नहीं निकाल पायेगा। यह सूत्र गहन है, गम्भीर है। नीतिवादी तो इसी फिक्र में होता है कि किसी के धन की चोरी मत कर लेना। किसी के धन को अपना मत मान लेना। लेकिन किसी का है, इस बात पर उलटा जोर है। और ध्यान रहे, जो आदमी कहता है कि वह चीज आपकी है, वह आदमी 'मेरी है चीजें' इस भावना से कभी मुक्त नही हो सकता। क्योंकि ये दोनों सयुक्त भावनाएँ है। जब तक मकान मेरा है तभी तक मकान तेरा है। जिस दिन मेरा नही रहा मकान उस दिन आपका कैसे रह जायेगा? दूसरे के धन की वाछा मत करना, इसका यह अर्थ नही है कि धन दूसरे का है और उसकी वांछा करना पाप है। **इसका अर्थ है कि धन किसी का भी नहीं है, इसलिए वांछा पाप है।** धन किसी का भी नही है, परमात्मा का है। उसे मेरा भी मत जानना और तेरा भी मत जानना। उसे मेरा जान कर मालिक भी मत बन जाना और दूसरे की मालकियत समझ कर उसे छीनने की कोशिश में भी मत पड़ जाना। न हम उसे छीन पायेंगे, न हम उसे बचा पायेंगे। वह परमात्मा का है, जिससे छीनने का कोई उपाय नही है, जिससे बचाने का कोई उपाय नहीं है।

कैसा मजा है। एक जमीन के टुकड़े पर मैं तख्ती लगा देता हूँ कि मेरी है। मैं नहीं था तब भी जमीन का टुकड़ा था। जमीन का टुकड़ा बहुत हँसता होगा।

क्योंकि मुझसे पहले भी बहुत लोग तख्ती लगा चुके उस टुकड़े पर कि 'मेरी है'। और जमीन के टुकड़े ने उन सबको दफना दिया। उसी टुकड़े में दफना दिया जहाँ आप बैठे हैं। एक-एक आदमी जहाँ बैठा है वहाँ कम-से-कम दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी है। जमीन पर एक इंच जगह नहीं है जहाँ दस आदमियों की कब्र न बन चुकी हो। क्योंकि इतने आदमी हो चुके हैं कि एक एक इंच जमीन पर दस-दस आदमी मर चुके हैं। उस जमीन को पूरी तरह पता है कि और भी दावेदार तख्ती लगा कर जा चुके हैं। मगर नहीं, आदमी है कि फिर तख्ती लगायेगा। **और यह भी नहीं देखता कि पुरानी तख्ती पर ही रंग रोगन करके अपना नाम लिख रहा है।** वह यह भी नहीं देखता कि कल किसी को फिर पेंट करने की तकलीफ उठानी पड़ जायेगी। यह नाहक मेहनत हो रही है। जमीन हँसती होगी !

नहीं, दूसरे के धन की वांछा मत करना, क्योंकि धन किसी का भी नहीं है। ध्यान रहे मेरा जोर बहुत अलग है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि दूसरे के धन को अपना बना लेना पाप है। **दूसरे के धन को दूसरे का या अपना मानना पाप है। किसी का भी मानना पाप है। परमात्मा के अतिरिक्त मालकियत किसी की भी है तो पाप है।** अगर इसे समझेंगे तो ईशावास्य का जो गहरा आयाम है, वह ख्याल आयेगा; नहीं तो इतना ही मतलब इन सूत्रों से निकल आता है कि हरेक अपनी-अपनी सम्पत्ति पर कब्जा रखे और दूसरे से सुरक्षा के लिए शिक्षा देता रहे चारों तरफ कि दूसरे के धन की वांछा मत करना। इसलिए अगर मार्क्स जैसे लोगों को यह लगा कि सब धर्मों ने धनपतियों को सुरक्षा दी है तो गलत नहीं लगा। क्योंकि ऐसे सूत्रों की जो व्याख्याएँ की गयी हैं, वे व्याख्याएँ गलत हैं। इससे ऐसा लगता है कि जो जिसका है वह उसका है, तुम छीनने की कोशिश मत करना। इसका मतलब साफ हुआ कि यह पुलिस को ही सहारा देने वाला है। व्यवस्था को, स्थिति-स्थापकता को, मालकियत को सहारा देने वाला सूत्र है। लेकिन यह सूत्र ऐसा है नहीं। क्योंकि यह सूत्र पहले ही घोषणा कर देता है, ईशावास्य की, सब-कुछ परमात्मा का होने की। परमात्मा ही मालिक है। न मैं मालिक हूँ, न तू मालिक है, मालकियत भ्रम है। **मालिक तो सिर्फ वही है जिसने कभी आकर घोषणा नहीं की कि मैं मालिक हूँ।** क्योंकि वह घोषणा किसके सामने करे ? वह किसको कहे कि जमीन मेरी है ? कहने के लिए कम-से-कम दूसरे की जरूरत पड़ती है। जब आप तख्ती लगाते हैं जमीन पर कि मेरी है तब ध्यान रखें, किसी के लिए लगाते हैं—कोई पढे, कोई जाने कि मेरी है। जंगल में नहीं लगाते हैं। अगर बिलकुल अकेले रह जायें जमीन पर तो मैं नहीं मानता हूँ कि ऐसे पागल आप

होंगे कि तख्तियाँ लगाते फिरें कि 'मेरी है'। अगर आप अकेले जमीन पर बचें तो जमीन आपकी है। कहने का भी उपाय नहीं।

परमात्मा घोषणा नहीं करता, लेकिन वही मालिक है। ध्यान रहे, ईशावास्य के इस वचन का यह भी अर्थ है कि **जो भी घोषणाएँ करते हैं वह मालिक नहीं हो सकते।** मालिक को घोषणा करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। मालिक अघोषित मालिक है। घोषणा सिर्फ नौकर करते हैं। जितने जोर से कोई घोषणा करता है समझना कि उतना ही शक है। कोई जोर से कहे कि नहीं मेरी है, तब आप पक्का समझ लेना कि इसकी नहीं हो सकती। घोषणा क्यों इतने जोर से की जा रही है? घोषणा हम सदा ही, जो नहीं है हमारा, उसे सिद्ध करने के लिए करते हैं। परमात्मा घोषणा नहीं करता। किसके लिए घोषणा करें? क्यों घोषणा करें? व्यर्थ होगी घोषणा। घोषणा बतायेगी कि नहीं है उसकी। नहीं उसका ही है सब जिसने कभी नहीं कहा। जिन-जिनने कहा है उन-उनका बिलकुल नहीं है। दूसरे के धन की वांछा मत करना, क्योंकि धन किसी का भी नहीं, परमात्मा का है। **न अपना मानना उसे, न दूसरे का मानना उसे। उसे जानना प्रभु का। दूसरे भी उतने ही प्रभु के हैं जितने हम प्रभु के हैं।** इसलिए छीन-झपट बेकार है। इसलिए छीन-झपट बेमानी है, अर्थहीन है, असंगत है। उसमें कोई युक्ति नहीं। व्यर्थ ही हम मेहनत कर रहे हैं। ऐसा श्रम उठा रहे है जो पानी में खींची गयी लकीरों जैसा खो जायगा।

और भी एक बात—तेन त्यक्तेन भुजीथाः। कहा कि **जो छोड़ते हैं वे ही भोग पाते हैं।** लेकिन नहीं, ऐसा हमारा जानना नहीं है। हम तो जानते हैं कि जो पकड़ते हैं वे ही भोग पाते हैं। यह ऋषि उल्टी बात कहता है। कहता है जो छोड़ते हैं—तेन त्यक्तेन, वे ही भोग पाते हैं। बड़ी उल्टी बात है। जो छोड़ देते हैं वे ही भोग पाते हैं। **जो नहीं मालिक बनते वे ही मालिक बन जाते हैं। जिनकी कोई पकड़ नहीं, उनके हाथ में सब आ जाता है।** कुछ-कुछ ऐसा है जैसे कोई हवा को मुट्ठी में पकड़े। हवा को मुट्ठी में पकड़िये तब ख्याल आयगा—तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। पकड़िये मुट्ठी में जोर से बाँधिये मुट्ठी को—और हवा बाहर निकली। बाँधते चले जाइये, आखिर में मुट्ठी ही रह जायेगी हवा उसमे नहीं बचेगी। खोल दें मुट्ठी को, बाँधें। और हवा बड़ी प्रगाढ़ होकर होती है। खुली मुट्ठी मे हवा होती है, बन्द मुट्ठी में हवा खो जाती है। जिसने जितने जोर से बाँधा उतनी ही खाली हो जाती है। जिसने पूरी खोल दी, कभी खाली नहीं होती, सदा भरी होती है। और प्रतिपल ताजी हवाएँ—प्रतिपल ताजी हवाएँ भरती चली जाती हैं। कभी देखा, खुली मुट्ठी कभी खाली नहीं होती। बँधी मुट्ठी सदा खाली

ही होती है। कुछ थोड़ा-बहुत बच भी जाय तो ठंडा और बासी और पुराना और जरा-जीर्ण हो जाता है, सड़ जाता है। वे ही भोग पाते हैं जो त्याग पाते हैं।

इस जगत् में, इस जीवन में छोड़ने के लिए जो जितना राजी है उतना ही उसे मिलता है। पैरोडाक्सिकल है। लेकिन जीवन के सभी नियम पैरोडाक्सिकल हैं। जीवन के सभी नियम बड़े विरोधाभासी हैं। विरोधी नहीं—विरोधाभासी हैं। दिखायी पड़ते हैं कि विपरीत हैं। यहाँ जिस आदमी ने चाहा कि सम्मान मिले उसे अपमान सुनिश्चित है। जिस आदमी ने चाहा कि मैं धनी हो जाऊँ, जितना धन मिलता जाता है वह आदमी भीतर उतना ही निर्धन होता चला जाता है। जिस आदमी ने सोचा कि मैं कभी न मरूँ, वह चौबीस घण्टे मौत में घिरा रहता है। मौत का भय पकड़े रहता है। जिस आदमी ने कहा कि हम अभी मरने को राजी हैं उसके दरवाजे पर मौत कभी नहीं आती। जो मरने को राजी हुआ, उसे अमृत का पता चल जाता है। और जो मौत से भयभीत हुआ, वह चौबीस घण्टे मरता है। वह मरता ही है, जीने का उसे पता ही नहीं चलता। जिसने भी कहा कि मैं मालिक बनूंगा, वह गुलाम बन जाता है। और जिसने कहा कि हम गुलाम होने को भी राजी हैं, उसकी मालकियत का कोई हिसाब नही। मगर ये उल्टी बातें हैं। और इसलिए बड़ी कठिन हो जाती है। और इनके अर्थ जब हम निकालते हैं तो हम आम तौर से जो अर्थ निकाल लेते हैं वह इस विरोधाभास से बचने के लिए ही निकालते हैं—इसलिए वे गलत होते हैं। इसका भी वैसा ही अर्थ लोगो ने निकाला है। लोगों ने निकाला—तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, तो निकाला कि दान करो तो स्वर्ग में मिलेगा। गंगा के तट पर एक पैसा दो तो एक करोड़ मोक्ष में मिलने वाला है!

अमल में महावाक्यों की जितनी दुर्दशा होती है जगत् में, उतनी और किसी चीज की नही होती। और ऋषियों के साथ जितना अन्याय होता है, उतना किसी और के साथ नहीं होता। क्योंकि उन्हें समझना कठिन हो जाता है। हम उनसे जो अर्थ निकालते हैं वे अर्थ हमारे होते हैं। हमने सोचा कि बात बिलकुल ठीक है। कुछ दान करोगे तो परलोक में पाओगे। लेकिन पाने के लिए दान करोगे तो ध्यान रखना, सूत्र कहता है कि जो छोड़ता है उसे मिलता है, जो मिलने के लिए छोडता है उसको मिलता है, ऐसा नहीं कहता है। जो मिलने के लिए ही छोड़ता है वह तो छोड़ता ही नहीं। वह तो सिर्फ मिलने का इन्तजार करता है। जो आदमी कहता है कि मैं दान कर रहा हूँ यहाँ, ताकि मुझे स्वर्ग में मिल जाय, वह छोड़ ही नहीं रहा। वह सिर्फ मुट्ठी आगे तक कस रहा है। अगर ठीक से समझें तो वह इस लोक में ही कस नहीं रहा है मुट्ठी, परलोक में भी मुट्ठी कस रहा है।

वह कह रहा है यहाँ तो ठीक—वहाँ भी ! वहाँ भी चाहिए । और अगर वहाँ कोई मिलने का पक्का भरोसा है तो हम यहाँ कुछ इनवेस्टमेंट कर सकते हैं । कुछ लगा सकते हैं पूंजी—अगर परलोक में कुछ मिलने का पक्का हो ।

नहीं, वह समझा ही नहीं । यह सूत्र यह नहीं कहता । यह सूत्र तो यह कहता है कि जो छोड़ता है उसे मिलता है । यह नहीं कहता कि तुम इसलिए छोड़ना ताकि तुम्हें मिले । क्योंकि मिलने की जिसकी दृष्टि है वह तो छोड़ ही नहीं सकता । वह तो सिर्फ इनवेस्ट करता है, वह छोड़ता कभी नहीं । वह तो सिर्फ पूंजी नियोजित करता है ताकि और मिल जाय । एक आदमी एक लाख रुपया कारखाने में लगाता है तो दान कर रहा है ? नही । वह डेढ़ लाख मिल सकेगा इसलिए लगा रहा है । फिर वह डेढ़ लाख भी लगा देता है । दान कर रहा है ? वह तीन लाख मिले इसलिए लगा रहा है । वह लगाये चला जाता है, वह लगाये चला जाता है, इसलिए कि मुट्ठी को और कसना है । और पकड़ लेना है । जो आदमी भी दान करता है पाने के लिए, उसने दान के राज को नहीं समझा । दान का ख्याल ही उसको पता नहीं चला कि क्या है । यह सूत्र कहता है, इतना ही कहता है, सीधी-सीधी बात, कि जो छोड़ता है वह भोगता है । **यह, यह नहीं कहता कि तुम्हें भोगना हो तो तुम छोड़ना।** यह यह कहता है कि अगर तुम छोड सके तो तुम भोग सकोगे । लेकिन तुम भोगने का ख्याल अगर रखो तो तुम छोड ही नही सकोगे ।

अद्‌भुत है सूत्र । पहले कहा, सब परमात्मा का है । उसमें ही छोडना आ गया । जिसने जाना सब परमात्मा का है उसे फिर पकडने को क्या रहा ? पकड़ने को कुछ भी न बचा । सब छूट गया । और **जिसने जाना कि सब परमात्मा का है और जिसका सब छूट गया और जिसका 'मैं' गिर गया वह परमात्मा हो गया। और जो परमात्मा हो गया वह भोगने लगा।** वह रसलीन होने लगा, वह आनन्द मे डूबने लगा । उसको पल-पल रस का बोध होने लगा । उसके प्राण का रोयाँ-रोयाँ नाचने लगा । जो परमात्मा हो गया उसको भोगने को क्या बचा ? सब भोगने लगा वह । आकाश उसका भोग्य हो गया । फूल खिले तो उसने भोगे । सूरज निकला तो उसने भोगा । रात तारे आये तो उसने भोगे । कोई मुस्कुराया तो उसने भोगा । सब तरफ उसके लिए भोग फैल गया । कुछ नहीं है उसका अब । लेकिन चारों तरफ भोग का विस्तार है । वह चारों तरफ से रस को पीने लगा ।

धर्म भोग है। और जब मैं ऐसा कहता हूँ कि धर्म भोग है तो अनेकों को बड़ी घबराहट होती है । क्योंकि उनको ख्याल है कि धर्म त्याग है । ध्यान रहे,

जिसने सोचा कि धर्म त्याग है वह उसी गलती में पड़ेगा—इनवेस्टमेंट की। **त्याग जीवन का तथ्य है।** इस जीवन में पकड़ना नासमझी है। पकड़ रहा है वह गलती कर रहा है—सिर्फ गलती कर रहा है। जो उसे मिल सकता था उसे वह खो रहा है। पकड़ कर खो रहा है। जो उसका ही था, उसने घोषणा करके कि मेरा है, छोड़ा दिया। लेकिन जिसने जाना कि सब परमात्मा का है, सब छूट गया। फिर त्याग करने को नही बचता कुछ। ध्यान रखना, त्याग करने को भी उसी के लिए बचता है जो कहता है, मेरा है। एक आदमी कहता है कि मैं यह त्याग कर रहा हूँ तो उसका मतलब हुआ कि वह मानता था कि मेरा है। सच में जो कहता है, मैं त्याग कर रहा हूँ उससे त्याग नहीं हो सकता है। क्योंकि उसे मेरे का ख्याल है। **त्याग तो उसी से हो सकता है जो कहता है, मेरा कुछ है नहीं, मैं त्याग भी क्या करूँ।** त्याग करने के लिए पहले मेरा होना चाहिए। अगर मैं कह दूं कि यह मैंने आपको दिया—कह दूं कि यह आकाश मैंने आपको दिया, तो आप हँसेगे। आप कहेंगे, कम-से-कम पहले यह पक्का तो हो जाय कि आकाश आपका है कि आप दिये ही दे रहे हैं! मैने कह दिया मंगल ग्रह आपको दान कर दिया। पहले मेरा होना तो चाहिए।

त्याग का भ्रम उसीको होता है जिसे ममत्व का ख्याल है। नही, त्याग छोड़ने से नही होता। त्याग इस सत्य के अनुभव से होता है कि सब परमात्मा का है। त्याग हो गया। अब करना नही पडेगा। घटित हो गया। **त्याग इस तथ्य की प्रतीति है कि सब परमात्मा का है, अब त्याग को कुछ बचा नहीं। अब आप ही नहीं बचे जो त्याग करें। अब कोई दावा नहीं बचा जिसका त्याग किया जा सके। और जो ऐसे त्याग की स्थिति में आ जाता है, सारा भोग उसका है। जीवन के सब रस, जीवन का सब सौंदर्य, जीवन का सब आनन्द, जीवन का सब अमृत उसका है।** इसलिए यह सूत्र कहता है—तेन त्यक्तेन भुजीथाः—जिसने छोडा उसने पाया। जिसने खोल दी मुट्ठी, भर गयी। जो बन गया झील की तरह, वह भर गया। **जो हो गया खाली, वह अनन्त सम्पदा का मालिक है।**

यह एक सूत्र आज सुबह के लिए। फिर शेष बात रात करेंगे।

अब सुबह के ध्यान के सम्बन्ध में दो-तीन बात समझ लें। फिर हम ध्यान मे उतरेंगे। पहली बात जो मैंने समझाया वह सब ध्यान है। मुट्ठी खोलनी है और हवा से भर जायेंगे। जानना है कि सब परमात्मा का है और नृत्य भीतर जाग जायेगा। चालीस मिनट का ध्यान होगा। आँख और कान तो हमें बन्द कर लेने है पूरी तरह। जरा भी रोशनी न रह जाय।

पहले दस मिनट गहरी श्वांस लेनी है। पूरी शक्ति लगा कर। ताकि सारी शक्ति कुण्डलिनी की भीतर जग जाय। शक्ति-जागरण से शरीर नाचने-डोलने लगे, कूदने लगे तो कूदने देना है, नाचने देना है, डोलने देना है। चिन्ता नहीं करनी है। दूसरे दस मिनट में शरीर को बिलकुल छोड़ देना है आनन्द-मग्न भाव से। कूदेगा, नाचेगा, हँसेगा, चिल्लायेगा, गायेगा, जो भी करना चाहे करने देना है और उसे पूरी शक्ति से सहयोग करना है। तीसरे दस मिनट में शरीर के साथ पूर्ण सहयोग जारी रखना है और साथ ही पूछना है 'मैं कौन हूँ ?' यह भी बड़े आनन्द से मन्त्र की तरह पूछना है—मैं कौन हूँ, यह पूछते चले जाना है। चौथे दस मिनट में कोई खड़ा रहेगा, कोई गिर जायेगा, कोई लेट जायेगा–जिसे जैसा लगे। फिर दस मिनट मौन प्रतीक्षा करनी है कि परमात्मा हममें उतरे। हमने मुट्ठी खुली छोड़ दी, अब वह हममे उतर सकता है। उसकी प्रतीक्षा करनी है।

सबसे पहले जैसे ही हम प्रयोग शुरू करेंगे, सकल्प कर लेना है। हाथ जोड़ कर परमात्मा के सामने संकल्प कर लेना है। हाथ जोड़ लें, आँख बन्द कर लें। परमात्मा को साक्षी रख कर हृदय में तीन बार सकल्प कर लें—मै प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूँ कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगा दूँगा।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे कर्म का लेप न हो ॥२॥

समार में कोई ऐसा दूसरा मार्ग नही है जिससे चल कर कर्म का लेप न हो। जिस मार्ग की ईशावास्य ने चर्चा की है वह मार्ग है---**सब प्रभु को अर्पित करके जीना। सब उसके ही चरणों में छोड़ देना।** सब उसको ही समर्पित कर देना। स्वयं के कर्ता का प्रभुत्व-भाव छोड़ कर कर्मों से जो गुजरने को राजी है, उसे इस ससार में कर्म का कोई लेप नही होता है। एक ही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नही है। इस सम्बन्ध में दो-तीन बातें समझ लेनी उपयोगी हैं।

एक तो संसार में जीना और कर्म से लिप्त न होना बड़ी ही कीमिया, बड़ी ही कीमत, बडी बुद्धिमता (Wisdom) की बात है। करीब-करीब ऐसे ही, जैसे कोई **काजल की कोठरी से निकले और उसे काजल न लगे।** फिर घड़ी दो घडी की बात नहीं है। अगर एक जीवन को भी पूरा लूँ तो कम-से-कम सौ वर्ष और अगर अनेक जीवन को स्मरण करें तो अनेक सौ वर्ष, लाखों वर्ष की यात्रा है। एक ही जीवन की बात कही है इस सूत्र में कि जहाँ कम-से-कम सौ वर्ष जीवन है, सौ वर्ष काजल की कोठरी से कोई गुजरे निरन्तर---जागे, सोये, उठे, बैठे और काजल से अछूता रह जाय, बड़ी ही बुद्धिमत्ता की, बड़े योग की बात है। अन्यथा यही आसान और सहज है कि काजल पकड़ ले। इतना ही नहीं कि काजल छू जाय, बल्कि व्यक्ति काजल ही हो जाय यही साधारणतः सम्भव है। छूना तो स्वाभाविक मालूम होता है, लेकिन सौ वर्ष काजल के साथ रहना पड़े तो कठिन लगती है यह बात कि व्यक्ति ही काजल न हो जाय, काला न हो जाय। जो भी हमें करना पड़े उससे हम अछूते गुजर कैसे पायेंगे। करते हैं तभी हम उससे जुड़ जाते है। क्रोध करते हैं तो क्रोध से जुड़ जाते हैं। प्रेम करते है तो प्रेम से जुड़

जाते हैं। लड़ते हैं तो लड़ने से जुड़ जाते हैं। भागते हैं तो भागने से जुड़ जाते हैं। भोग करते हैं तो भोग पकड़ लेता है। और मजा तो ऐसा है अकड़न का कि त्याग करते हैं तो त्याग भी पकड़ लेता है। उससे भी काजल ही हाथ में आता है। भोग की तो अकड़ होती ही है कि मेरे पास इतना धन है, त्याग की भी अकड़ होती है कि मैंने इतना धन त्यागा ! वह अकड़ काजल बन जाती है, वह अकड़ अहंकार है। आदमी एक जीवन के सौ वर्ष कैसे भी गुजारे, कुछ तो करेगा। और जो भी करेगा, वही उसके काले होने का रास्ता बन जायगा।

ईशावास्य का सूत्र कहता है, लेकिन एक मार्ग है जिस मार्ग से सौ वर्ष उस काली कोठरी से गुजर कर भी व्यक्ति अपनी शुद्धता को लेश मात्र भी नहीं खोता और व्यक्ति को कर्मों का कोई लेप नहीं होता है। असम्भव लगती है बात। लेकिन जिस सूत्र की ईशावास्य बात कर रहा है, अगर हम ठीक से समझ लें तो असम्भव नहीं रह जायेगी। सूत्र यह कह रहा है कि व्यक्ति कुछ भी करे काजल लग ही जायेगा—कर्ता हुआ कि काला हुआ। तो एक ही रास्ता रह जाता है कि व्यक्ति कर्ता ही न रह जाये। कर्म से तो बचा नहीं जा सकता। जियेंगे तो कर्म तो होगा ही। इसलिए अगर कोई कहता है कि कर्म को छोड़ दे तो फिर कोई लेप नहीं होगा, तो गलत कहता है, क्योंकि जियेंगे तो कर्म तो होगा ही। श्वाँस भी लेनी है तो कर्म हो जायगा। दुकान जो करता है वही कर्म करता है ऐसा नहीं, जो भिक्षा माँगता है वह भी कर्म करता है। और जो घर बसाता है वह ही कर्म करता है ऐसा नहीं है, जो घर छोड़ कर वन में चला जाता है वह भी कर्म करता है। उनके कर्म भिन्न हो सकते हैं, लेकिन एक कर्म है और दूसरा अकर्म है ऐसा नहीं, दोनों ही कर्म हैं। यहाँ तक कि जीना ही जहाँ कर्म है, छोड़ना भी जहाँ कर्म बन जायगा, वहाँ कर्म को छोड़ कर अगर कोई सोचता हो कि हम काले काजल से बच जायेंगे तो व्यर्थ सोचता है। उस सोचने से कभी भी कोई घटना घटने वाली नहीं है। कर्मों को छोड़ कर कोई भाग सकता है, लेकिन तब पलायन ही उसका कर्म बन जाता है। भागना ही उसका कर्म बन जाता है। वह भी पकड़ लेता है। एक ही रास्ता दिखायी पड़ता है, वह यह कि कर्म से तो छूटने का उपाय नहीं है, लेकिन कर्ता से छूटा जा सकता है। लेकिन अगर कर्म जारी रहेगा तो कोई कर्ता से छूटेगा कैसे ? जब मैं कर्म करूँगा, तब कर्ता तो हो ही जाऊँगा न ? लेकिन ईशावास्य कहता है, कर्म करते हुए भी कर्ता से छूट सकते हो। साधारणतः हमें दिखायी पड़ता है कि कर्म से छूट जायें तो शायद कर्ता से छूट जायें। न करूँगा कर्म, न बनूँगा कर्ता। लेकिन ईशावास्य कहता है, यह सम्भव नहीं है। सम्भव इससे उल्टी बात है। और वह है कि कर्म तो तुम करते रहो और कर्ता से छूट जाओ।

यह कैसे होगा ? ऐसे कर्म से हम थोड़ा-बहुत परिचित हैं। जब भी हम अभिनय करते हैं तब हमें ख्याल में आती है बात कि कर्म हो सकता है और कर्ता नहीं हो। राम की सीता खो जाय तो राम रोते हैं, बन में। वृक्षों को पकड़-पकड़ कर चिल्लाते हैं, पूछते हैं सीता कहाँ है। और रामलीला के मंच पर भी किसी राम की सीता खो जाती है। वह भी रोता है। वह भी वृक्षों से पूछता है, सीता कहाँ है ? और शायद राम से कहीं ज्यादा ही जोर से चिल्ला कर पूछता है। शायद राम से ज्यादा कुशलता से पूछता है। क्योंकि राम को तो रिहर्सल का कोई मौका मिला नहीं। पात्र ने तो काफी अभ्यास किया है। कर्म तो करता है वही जो राम ने किया—रोता है, पूछता है सीता कहाँ है ? लेकिन पीछे कर्ता नहीं होता, अभिनेता होता है।

ध्यान रहे, कर्म दो तरह से हो सकता है—**कर्ता होते हुए भी हो सकता है, अभिनेता होते हुए भी हो सकता है।** कर्ता की जगह अभिनेता आ जाय तो कर्म तो बाहर जारी रहेगा, लेकिन भीतर समस्त रूपान्तरण हो जाता है। **अभिनय बाँधता नहीं है।** अभिनय बाहर ही बाहर रह जाता है, भीतर उसका प्रवेश नहीं होता। अभिनय गहरे में नहीं उतरता, सतह पर घूमता है और विदा हो जाता है। कितना ही रोता हो अभिनेता राम, और कितना ही आँसू टपकाता हो, उसके आँसू प्राणों से नही आते। अक्सर तो उसे आँखों में अंजन लगाना पड़ता है कि आँसू आ जायें। अंजन न भी लगाये, अभ्यास से भी ले आता है तो भी आँसू सतह से आते हैं, गहराई से नही आते। चिल्लाता है। आवाज आती है, पर कण्ठ से ही आती है हृदय से नही आती। भीतर सब अछूता रह जाता है। भीतर कुछ भी छूता नहीं। भीतर सब अस्पर्शित रह जाता है। निकलता है काजल की कोठरी से, लेकिन भीतर कर्ता नही है, अभिनेता है। ध्यान रहे, **कर्ता पकड़ता है काजल को, कर्म नहीं।** अगर कर्म ही पकडता है काजल को तब तो ईशावास्य जो कहता है वह नहीं हो सकता। गीता जो कहती है वह नहीं हो सकता। फिर तो कर्म करते हुए कर्म से कोई छुटकारा नही है। और जीते जी कर्म से कोई छूटता नही। फिर तो मरने पर ही कर्म से छुटकारा हो सकता है। फिर तो जीवित रहते मुक्ति नही मालूम होती। लेकिन जो जीते जी मुक्त नहीं हो सका वह मर कर कैसे मुक्त हो सकेगा ? जो जीते जी मुक्त नहीं हो सका, वह मर कर तो हो ही नहीं सकता है।

कर्म अगर पकडता हो उसे जो काजल है जीवन का, अगर कर्म पर लेप चढ़ जाता हो उसका, तब तो असम्भव है छुटकारा। लेकिन जो गहरे खोजते हैं वह कहते हैं, कर्म को नहीं कर्ता को पकड़ता है। जब भी कोई कहता है, 'मैं कर्ता हूँ', बस तभी। जब कर्म और 'मैं' का जोड़ होता है तभी। जब 'मैं' और कर्म का

तादात्म्य (Identity) होता है, तभी। जब 'मैं' कर्म के साथ अपने को एक कर लेता हूँ और कहता हूँ, मैं करता हूँ, बस तभी—तभी वह काजल पकड़ लेता है। और तभी जीवन अँधेरे से और कालिमा से भर जाता है। अगर भीतर कोई कहने वाला न हो कि मैं कर्ता हूँ और भीतर अगर कोई जानने वाला हो कि अभिनय हो रहा है कि मंच पर नाटक के पात्र इकट्ठे हुए हैं—होगी बड़ी मंच, पूरी पृथ्वी मंच हो सकती है, मंच के बड़ी होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। और पर्दा एक ही बार उठता होगा जन्म के वक्त और मृत्यु के वक्त गिरता होगा। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि एकांकी लम्बा है, कि एक ही बार पर्दा उठता-गिरता है। इससे कोई अन्तर नही पड़ता, अगर भीतर अभिनय का ख्याल है, ऐक्टिंग का ख्याल है—ऐक्टर का नहीं। भीतर करने वाले का ख्याल नहीं है अभिनय का ख्याल है, तो सारा जगत् एक लीला, एक नाटक, एक मंच, और जीवन एक कथा, एक कहानी हो गया। **फिर हम पात्र हैं और पात्रों को कुछ भी नहीं छूता है।**

ईशावास्य के इस सूत्र में कहा है, एक ही मार्ग है कि मनुष्य जीते जो कर्म से गुजरते हुए भी कर्म मे लिप्त न हो। वह मार्ग है, **जीवन को एक अभिनय में रूपान्तरित कर लेना।** लेकिन हम बहुत अद्भुत लोग है। हम अभिनय को तो जीवन में रूपान्तरित कर लेते हैं, लेकिन जीवन को अभिनय मे रूपान्तरित नही कर पाते। अभिनय को जरूर हम बहुत बार जीवन बना लेते हैं। बहुत बार तो हमारा जीवन, हमारे सीखे हुए अभिनय का बहुत मजबूती से हमारे ऊपर लग जाना होता है। अगर हम मनसविद् से पूछें तो मनसविद् कहते हैं कि व्यक्ति का, जो भी हमें आचरण दिखायी पड़ता है वह सब सिखाया हुआ आचरण है। सब कल्टीवेटेड, कण्डीशनिंग है। जिसे हम मनुष्य का स्वभाव कहते हैं, कहते हैं, इस आदमी का यह स्वभाव है। मनसविद् कहता है, आदमी का कोई भी स्वभाव नहीं। अगर आदमी का कोई भी स्वभाव है तो वह अन्तहीन तरलता है। मनुष्य ऐसा है, जैसे हम पानी को एक गिलास में भर दें तो वह गिलास जैसा हो जाय। और एक लोटे मे भर दें तो वह लोटे जैसा हो जाय। और एक गागर में डाल दें तो वह गागर जैसा हो जाय। और जैसा हो बर्तन का आकार, वैसा ही पानी आकार ले ले। पानी का कौन-सा स्वाभाविक आकार है? पानी का कोई स्वाभाविक आकार नहीं है। **पानी का स्वभाव अनन्त आकार लेने की क्षमता है।** इसलिए जो भी रूप होगा पानी तत्काल वही आकार ले लेगा। पानी जिद्दी नहीं है। पानी हठी नही है। वह यह नहीं कहता है कि मैं इसी आकार में रहूँगा। वह कहता है, कोई भी आकार हो, हम राजी हैं।

मनुष्य का भी कोई स्वभाव नहीं है। जिसे भी हम स्वभाव कहते हैं वह सिखायी गयी व्यवस्था है। सीखे हुए वर्तुल में, संस्कार के ढाँचे में किया गया आचरण है। इसलिए एक व्यक्ति मांसाहारी के घर में पैदा होता है तो मांसाहार करने लगता है। स्वभाव नहीं है। उसे ही हम शाकाहारी के घर में पालें, वह शाकाहार करने लगेगा। तब मांस देखकर उसे उल्टी हो जायेगी, वमन हो जायेगा, घबराहट हो जायेगी। नहीं, ऐसा मत सोच लेना कि शाकाहारी के घर में जो बड़ा हुआ है वह बड़ा गुणी है। और मांसाहारी के घर में बड़ा हुआ तो बड़ा दुर्गुणी है। नहीं, बड़े होने के भेद हैं। बर्तन का आकार है वह पकड़ लिया गया है। बचपन से हम हर एक व्यक्ति को कुछ सिखा रहे हैं। वह सिखावन अगर ठीक से समझें तो जीवन में जो अभिनय उसे करना है, उसकी तैयारी है। जिन्हें हम शिक्षालय कहते हैं, वह हमारे रिहर्सल के स्थान हैं। जहाँ हम जीवन के अभिनय की तैयारी करते हैं, उसके प्रशिक्षण के स्थल हैं वे। परिवार, समाज, स्कूल, विश्वविद्यालय—वहाँ हम तैयार करते हैं एक व्यक्ति को एक खास ढंग से ऐक्ट करने के लिए। एक व्यक्ति को हम हिन्दू की तरह तैयार करते हैं। एक व्यक्ति को हम अमरीकन की तरह तैयार करते हैं। एक व्यक्ति को हम ईसाई की तरह तैयार करते हैं। एक को हम चीनी की तरह तैयार करते हैं। और फिर वह तैयार हो जाते हैं, और कल, कल जब ढाँचे उनके मजबूत हो जाते हैं तो ऐसा लगता है कि यह उनका स्वभाव है। नहीं, यह सब सिखाये गये अभिनय हैं। जो इतने मजबूती से पकड़ लिये गये कि उनको करते वक्त व्यक्ति को ख्याल ही नहीं आता कि मैं अभिनय कर रहा हूँ।

कभी आपको ख्याल आया कि आप कौन हैं? हिन्दू, जैन, मुसलमान, ईसाई ये आपको सिखाये गये अभिनय हैं। जो आपको न सिखाये गये होते तो आपने कभी न सीखे होते। लेकिन जब आप कहते हैं, हिन्दू हूँ, तब आप कर्ता बन जाते हैं। तब तलवारें चल सकती हैं। तब जान ली और दी जा सकती है। और अगर कोई कह दे, हिन्दू नहीं हैं आप, तो उपद्रव हो सकता है। मनसविद् कहते थे कि वह जो आदत है वह दूसरा स्वभाव है (Habit is the Second Nature)—ऐसा पुराने मनसविद् कहते थे। नये मनसविद् कहते हैं, स्वभाव जो है वह पहली आदत है (Nature is the first habit)। सुना है हमने निरन्तर कि आदत जो है वह दूसरा स्वभाव है, लेकिन जितनी ज्यादा खोज होती है आदमी के स्वभाव की उतना ही पता चलता है कि जिसे हम स्वभाव कहते हैं वह पहली आदत है—बहुत गहरे में बैठ गयी। फिर इतनी मजबूत हो गयी कि व्यक्ति भूल गया कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। अगर आपको याद रहे

कि आप अभिनय कर रहे हैं तो छुरेबाजी नहीं होगी। आप कहेंगे क्या पागलपन है। मैं हिन्दू होने का खेल खेल रहा हूँ, आप मुसलमान होने का खेल खेल रहे हैं, इसमें झगड़ा कहाँ है। नहीं, झगड़ा वहाँ आ जाता है जहाँ यह खेल नहीं है—ये गम्भीर बातें हैं, यह मामला खेल का नहीं है। एकबर्न ने एक किताब लिखी है—खेल जो लोग खेलते हैं (Games that people play)। उसमें फुटबाल और हाकी और तास और कैरम और शतरंज ही नहीं गिनाये, उसमें उसने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई भी गिनाये हैं। यह भी खेल है जो लोग खेलते हैं—हालाँकि महंगे पड़ जाते है। कभी-कभी शतरंज में भी तलवार चल जाती है तो अगर हिन्दू-मुस्लिम में चल जाती है तो कोई बहुत हैरानी की बात नहीं है। गम्भीरता से पकड़ लिये, अभिनय लगते हैं कि जीवन हो गये। और जो-जो सिखा दिया जाता है वह पकड लिया जाता है। सारी दुनिया मे स्त्रियों को सिखा दिया गया कि वे पुरुष से हीन हैं, पकड़ लिया। सीख गयी। हालाँकि ऐसे समाज भी हैं मातृ-सत्ता वाले जहाँ सिखाया गया है कि पुरुष स्त्रियों से हीन हैं। वहाँ वैसी बात लोग सीख गये। ऐसे कबीले भी हैं जहाँ स्त्री श्रेष्ठ है और पुरुष हीन हैं। और बड़े मजे की बात तो यह है कि जिन कबीलों में यह सिखाया गया कि स्त्री श्रेष्ठ है और पुरुष हीन है वहाँ पुरुष हीन हो गया और स्त्री श्रेष्ठ हो गयी है। और जहाँ सिखाया गया स्त्री हीन है वहाँ स्त्री हीन हो गयी और पुरुष श्रेष्ठ हो गया।

पानी की तरह हम बर्तनो मे ढाल देते हैं आदमी को। फिर अभिनय इतनी मजबूती से पकड लेते है अहंकार को कि वह यह नहीं कहता कि मैं अभिनय कर रहा हूँ, वह यह कहता है यह 'मैं हूँ'। यह हिन्दू होना मेरा खेल नहीं है,—यह मैं हूँ। और जिस क्षण आपने कहा कि 'मैं हूँ' उस क्षण आपके ऊपर कालिख लगनी शुरू हो गयी। और आप पर ही लगे तो कम है। जिस आदमी पर कालिख लगनी शुरू होती है वह दूसरों पर भी कालिख फेंकना शुरू कर देता है। कालिख ही होती है हाथ मे, वही हम लेन-देन करते हैं। खुद भी काले होते हैं और दूसरों को भी काले कर देते हैं। फिर सारी जिन्दगी कालिमा से भर जाती है। हम अभिनय को भी कर्ता की तरह करने की तैयारी करते हैं। दो छोटे बच्चे एक गुड्डा और गुड्डी का विवाह करवाते हैं तो हम कहते हैं खेल खेल रहे हैं। लेकिन कभी ख्याल किया है कि स्त्री-पुरुष का विवाह भी थोड़े बड़े पैमाने पर गुड्डा और गुड्डियों के विवाह से ज्यादा नही है। सब रीति-रस्म वही हैं। सब हिसाब वही है, सब व्यवस्था, ढोल-बाजे वही हैं। सब ढोंग, सब इन्तजाम वही है। फर्क सिर्फ इतना है कि उसे छोटे उम्र के बच्चे खेलते हैं और इसे बड़े उम्र के बच्चे

खेलते हैं। छोटे उम्र के बच्चे जल्दी भूल जाते हैं। सांझ को भूल जाते हैं कि सुबह शादी की थी। ये बड़े उम्र के बच्चे अदालतों तक में लड़ते हैं, भूलते नहीं। मजबूती से पकड़ लेते हैं।

लेकिन कोई मानने को राजी न होगा कि विवाह एक खेल है। कठिनाई मालूम पड़ेगी। क्योंकि विवाह अगर एक खेल हो जाय तो उसके आसपास बना परिवार भी एक खेल हो जायगा। और उस परिवार के आसपास बना हुआ समाज भी खेल हो जायगा। और समाज के आसपास फैला हुआ सारे मनुष्य का जगत् एक खेल हो जायगा। इसलिए एक-एक कदम हमको मजबूत रखना पड़ता है कि नहीं, विवाह खेल नहीं है, गम्भीर बात है, जीवन-मरण की समस्या है। परिवार खेल नही है, समाज खेल नहीं है। फिर एक-एक कदम चीजें मजबूत पत्थर की तरह होती चली जाती हैं। फिर सब सख्त हो जाता है। और जो आदमी उसको खेल की तरह लेगा हम उसकी जान ले लेंगे। क्योंकि वह हमारी भारी गम्भीर व्यवस्था को तोड़ रहा है। वह हमारे खेल के नियमों को नहीं मान रहा है। हम उससे बदला लेंगे। जिन्दगी हमारी पूरी की पूरी एक लम्बा अभिनय है। लेकिन अभिनय को हमने ऐसा ढाल लिया है कि हम कहते हैं हमारा कर्तृत्व है।

ईशावास्य उल्टी बात कहता है। वह कहता है, अभिनय को तो अभिनय जानो ही, ऐसी कोई भी घटना नही है जगत् में जिसके लिए तुम कर्ता बननें के पागलपन में पड़ो। पागल हो तुम जो कर्ता बनो। कर्ता तो तुम परमात्मा को ही बननें दो। उस पर ही छोड़ दो—जो सदा है, तुम नहीं थे तब भी था, तुम नहीं होओगे तब भी होगा। उस पर ही छोड़ दो सब। करना उस पर ही छोड़ दो। तुम करने के बोझ को मत लो। वह बोझ बहुत ज्यादा पड़ जायगा, तुमसे ज्यादा पड़ जायगा। तुम्हारी सामर्थ्य से ज्यादा है वह पत्थर, बड़ा है वह बोझ। उसके नीचे दबोगे और मर जाओगे। उससे उबर न पाओगे। लेकिन हमारे अहंकार को कठिनाई होती है। हमारे अहंकार को रस आता है इसमें, जितना बड़ा पत्थर हमारी छाती पर हो उतना रस आता है। जितना बड़ा पत्थर कोई आदमी छाती पर उठा ले उतनी अकड़ आती है। लगता है कि मैं इतना बड़ा पत्थर उठा रहा हूँ। तुम तो कुछ भी नहीं उठा रहे हो। मैं बहुत बड़ा पत्थर उठा रहा हूँ। राष्ट्रपति हैं, प्रधानमन्त्री हैं, ये बड़े पत्थरों का मजा लेते लोग हैं! हजार गाली खाते हैं, हजार मुसीबत में पड़ते हैं—बड़ा पत्थर उठाने के लिए! कि बड़ा पत्थर छाती पर हो! वह इतना बताता हो कि तुम्हारी छाती पर बहुत छोटा पत्थर है—कि तुम ग्राम-पंचायत के प्रमुख हो बस न? कहाँ हम राष्ट्रपति,

कहाँ तुम ग्राम-पंचायत के प्रमुख ! वह ग्राम-पंचायत का पागलपन जो हो रहा है वह जरा छोटी मंच है। और राष्ट्रपति की जरा बड़ी मंच है (The same play on a larger scale)। वह ग्राम-पंचायत का जो सरपंच है वह भी पीड़ित है कि कब पहुँच जाय, कि वह भी कोई बड़ा पत्थर उठा ले। इस सारी जिन्दगी में जितना बड़ा पत्थर छाती पर है आदमी के, हम उतना बड़ा आदमी कहते हैं उसे।

सचाई उल्टी है। जो जानते हैं वे कहते हैं जिसकी छाती पर पत्थर ही नहीं है वही आदमी फूल की तरह हल्का है—जिसके ऊपर कोई बोझ नहीं। लेकिन ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है। छोटा में छोटा बोझ तो हर आदमी रखे ही रहता है। नहीं होता ग्राम-पंचायत का सरपंच तो अपने घर का प्रमुख तो होगा ही! और ऐसा भी नहीं है कि घर में बाप ही प्रमुख होता है। जरा बाप बाहर चला जाय तो छोटा बच्चा अपने से छोटे बच्चों का प्रमुख हो जाता है। डॉमिनेट करने लगता है फौरन। आपके सामने लड़ रहा होगा आपका बच्चा छोटे भाई से। आप हट जायँ, आप अचानक पायेंगे कि वह डॉमिनेट करने लगा। वह वही रोल अदा करने लगा जो आप कर रहे थे। पैमाना छोटा होगा, हैसियत कम होगी, लेकिन खेल वही होगा। आप दो सौ और चार सौ के बीच में खेल खेलते हैं, वह दो और चार के बीच में खेलेगा। अनुपात का कोई फर्क नहीं है, आँकड़ों का फर्क है। छोटे बच्चे छोटा खेल खेलेंगे, बड़े बच्चे बडा खेल खेलेंगे। बूढ़े और बड़ा खेल खेलते चले जायेंगे। आदमी को बड़ी कठिनाई होती है अगर वह यह न बता पाये कि मेरी छाती पर कोई पत्थर है। तो यह भी मजे की बात है कि जितना बड़ा पत्थर होता है वह अक्सर उससे ज्यादा बड़ा बताता है।

मैं जिस विश्वविद्यालय मे था, एक महिला मेरे साथ प्रोफेसर थी। उनकी बीमारियाँ सुन-सुन कर मैं बहुत हैरान हो गया। इतनी बीमारियाँ भी किसी को हो सकती है! जब भी वह मिलती, कुछ बड़ी बीमारी—छोटी बीमारी उन्हें होती नही। फिर उनके पति को पूछा कि इतनी बीमारियाँ! ऐसे तो पत्नी ही काफी होती है, ऊपर से इतनी बीमारियाँ, आप कैसे चला लेते हैं? उन्होने कहा, आप बातों में मत पड़ना। उमे छोटी बीमारी होती ही नही। सर्दी-जुकाम भी हो तो क्षय रोग से, टी० बी० से कम की वह बात नहीं करती। मैं हैरान हुआ कि बीमारी को बड़ा करके बताने में क्या राज होगा?

है राज। बड़ी बीमारी है तो बड़ा पत्थर छाती पर है। छोटी बीमारी है तो दो कौड़ी के आदमी है आप। बीमारी भी है तो भी छोटी है, कोई हैसियत

की बीमारी न हुई। इसीलिए बड़ी बीमारियों को राजरोग कहते हैं। क्षयरोग था तो राजरोग था। छोटे गरीबों को नहीं होता था, सिर्फ शहन्शाहों को होता था।

मैं अभी पढ़ रहा था कि एक महिला ने एक डाक्टर के पास जाकर कहा कि मेरा अपेंडिक्स निकाल डालिये। तो उसने कहा, तुम्हारे अपेंडिक्स में कोई तकलीफ भी होनी चाहिए? उसने कहा हो या न हो। मैं जिस क्लब की मेम्बर हूँ वहाँ सब स्त्रियों का—किसी का अपेंडिक्स निकाला गया है किसी का कुछ निकाला गया है, मेरा कुछ नहीं निकला है। मुझे कोई बात करने को नहीं मिलता।

आदमी की छाती पर पत्थर चाहिए इसलिए फूल जैसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो कह सके मेरे ऊपर कोई बोझ नहीं है। ऐसा वही कह सकेगा जिसने सारा बोझ परमात्मा को दे दिया है। और मजे की बात यह है कि सारा बोझ परमात्मा पर है ही। आप व्यर्थ ही बीच के मध्यस्थ बन जाते हैं। हमारी हालत उस आदमी जैसी है जो ट्रेन में बैठ गया था। अपना बिस्तर सिर पर रखे हुए था। पास-पड़ोस के लोगों ने बहुत कहा नीचे रख दो, क्यों कष्ट उठाते हो। उसने कहा, टिकट लेकिन मैंने सिर्फ अपने ही लिये हैं। भला आदमी था, सज्जन था। उसने कहा, टिकट सिर्फ मैंने अपने लिये हैं। बोझ की टिकट ली नहीं। इस पेटी को, इस बिस्तर को मैं नीचे कैसे ट्रेन पर रख दूँ? यह तो सरकार के साथ धोखा होगा। इसलिए इसको मैं सिर पर रखे हुआ हूँ। अब उस भोले आदमी को पता नहीं कि वह अपने सिर पर भी रखे रहे तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, ट्रेन को तो बोझ ढोना ही पड़ता है। बोझ तो परमात्मा ही ढोता है। सारा करतब तो परमात्मा ही करता है। लेकिन हम परमात्मा की ट्रेन पर सवार अपना-अपना बिस्तर, अपने-अपने सिर पर रखे हुए बड़े सुख लेते हैं रास्ते में। और जिनके ऊपर छोटे वजन हैं उनको कहते हैं तुम्हारी जिन्दगी बेकार गयी। कुछ बोझ तो बड़ा कर लेते। मरते वक्त इतना बोझ तो होता कि लोग कहते कि कुछ छोड़ गया। इसीलिए जब कोई मर जाता है तो जो नहीं भी छोड़ गया उसकी भी हम चर्चा करते हैं। जो बोझ उस पर नहीं था उसकी भी चर्चा करते हैं।

मैंने सुना है कि एक आदमी मर गया। और जब गाँव का पादरी उसकी कब्र के पास खड़े होकर उसके ताबूत को कब्र में उतारने लगा तो बातें करने लगा बड़ी—उसके गुणों की, उसके कामों की, उसने जो किया, उसकी सेवाओं की। उसकी पत्नी थोड़ी चिन्तित हुई। उसने अपने बेटे से कहा कि जरा झुक के देख, ताबूत में तेरे पिता का ही चेहरा है न? क्योंकि ये काम कभी हमने सुने नहीं कि उन्होंने किये हों! रात जाकर उसने पादरी से पूछा, आप यह क्या बातें कह रहे थे? जहाँ तक मैं जानती हूँ, मेरे पति ने इस तरह के कोई काम नहीं किये। पादरी

ने कहा, भला न किये हों। लेकिन जो आदमी मर गया उसका अगर कुछ काम न बताया जा सके तो लोग क्या कहेंगे।

वॉल्तेयर का एक मित्र था, वह मरा। मित्र ऐसा था कि जिन्दगी भर वॉल्तेयर को गाली देता रहा। हर तरह से वॉल्तेयर की आलोचना करता रहा। वॉल्तेयर की हर चीज की खिलाफत करता रहा। आदमी अच्छा भी नहीं था। मरा तो कुछ लोग वॉल्तेयर के पास आये और कहा कि कुछ भी हो, आखिर तुम्हारा मित्र था। माना कि तुम्हें बहुत गालियाँ दीं, तुम्हें बहुत भला-बुरा कहा, जिन्दगी भर तुम्हारी जड़ें काटी, लेकिन फिर भी अब मर गया है, तुम दो शब्द उसकी प्रशंसा में लिख दो। तो वॉल्तेयर ने लिखा कि He was a good man, and the great one—Provided, he is really dead.—बड़ा आदमी था, बड़े काम किये, लेकिन अगर पक्का हो कि मर गया है तो हम यह कह सकते हैं।

जिन्दा है तो हम नहीं कह सकते। मरे हुए आदमी की हमें प्रशंसा करनी पड़ती है। जो पत्थर उसने नहीं भी उठाये वह भी उससे उठवाने पड़ते हैं। ऐसा भी क्या आदमी जिसके बाबत कहने को कुछ भी न हो पीछे। ईशावास्य लेकिन उसी आदमी की बात कर रहा है। वह कह रहा है जिसने सारा कर्तृत्व परमात्मा पर छोड़ दिया। जो कहता है, मैं हूँ ही नहीं, तू ही है। कर्ता है तो तू। मैं ज्यादा-से-ज्यादा तेरे खेल का एक मोहरा हूँ। तू जहाँ चल दे चाल। तू जो बना दे, तू जो करवा दे। तू हरा दे तो हार जाऊँ, तू जिता दे तो जीत जाऊँ। न जीत मेरी, न हार मेरी। हार भी तेरी, जीत भी तेरी। ऐसा जिसका पूरा समर्पण है, जो कहता है सब परमात्मा का है—मैं भी उसीका, सब कृत्य उसका। वह भी जियेगा, श्वांस लेगा, चलेगा, उठेगा, बैठेगा, काम भी करेगा, खाना भी खायेगा और रात सोयेगा भी। यह सब होगा, लेकिन भीतर कर्ता नहीं होगा। और यह एक ही मार्ग है। और मैं भी कहता हूँ कि ईशावास्य का ऋषि ठीक कहता है। यह एक ही मार्ग है। आज तक पृथ्वी पर जो लोग भी सच में ही पूरी तरह इस जीवन से अलिप्त गुजर गये हैं—अछूते, ताजे के ताजे, जैसे के तैसे—आये थे वैसे ही सरल—वे वे ही लोग थे जिन्होंने किसी तरह के अहंकार को बीच की यात्रा में अर्जित नहीं किया। जो बिना अहंकार के जिये। अहंकार अर्थात्—कर्ता का भाव। निरहंकार अर्थात्—समर्पण का भाव—उस प्रभु के चरणों में सब दे देने की भावना।

असुर्या नाम ते लोका: अन्धेन तमसावृता: ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥३॥

वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं वे मरने के अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं ॥३॥

उपनिषद् मनुष्यों के दो विभाजन करते हैं। एक तो वे लोग जो आत्मा का हनन करने वाले हैं। अपनी ही आत्मा के हन्ता हैं, सोसाइडल हैं। और एक वे लोग जो अपनी ही आत्मा के विज्ञाता हैं, जानने वाले हैं। आत्मज्ञानी और आत्महन्ता। ध्यान रहे, आत्महत्या शब्द का हम प्रयोग करते हैं लेकिन ठीक अर्थों में उपनिषद् ने प्रयोग किया है। हम ठीक अर्थों में प्रयोग नहीं करते। अगर कोई आदमी अपने शरीर को मार डाले तो हम कहते हैं आत्महत्या की है उसने। ठीक नहीं है यह बात। क्योंकि शरीर को मार डालना आत्मा को मार डालना नहीं है। शरीर की हत्या आत्महत्या नहीं है। स्वयं की ही है, फिर भी स्वयं की नही। वस्त्र के आवरण की ही बदलाहट है। शरीर-घात है आत्महत्या नहीं। उपनिषद् तो उसे आत्महन्ता कहता है जो अज्ञान से आच्छादित अपने को बिना जाने ही जी लेता है। वह आदमी अपनी आत्मा की हत्या कर रहा है। अपने को बिना जाने जीना आत्महत्या है। और हम सब अपने को बिना जाने जीते हैं। हम जीते हैं जरूर लेकिन यह बिलकुल पता नहीं होता कि हम कौन हैं, कहाँ से हैं, क्यों हैं, किसलिए हैं? किस ओर से हैं, कहाँ जाते हैं, क्या प्रयोजन है? क्या अर्थ है इस होने का? नहीं, हमें कुछ भी पता नहीं। हमें अपना कोई भी पता नहीं।

हमें और बहुत सी बातें शायद पता हैं। एक बात तो सुनिश्चित पता नहीं है, हमें अपना कोई पता नहीं। हमें उपनिषद् कहेगा—आत्महन्ता लोग हैं, असुर हैं। हम अपने को जब तक जानते नहीं तब तक हम जाने-अनजाने अपने को ही काटते हैं। अज्ञान दूसरे को तो बाद में पीड़ा देता है, पहले तो अपने को ही पीड़ा देता है। ध्यान रहे, आदमी दूसरे पर हमला तो बाद में करता है, पहले

तो अपने पर ही हमला करता है। असल में दूसरे पर हमला करना सम्भव भी नहीं है, जब तक हमने अपने पर हमला न कर लिया हो। और दूसरे को दुख देना असम्भव है, जब तक हमने अपने को दुख न दे लिया हो। और जिसने अपने पैरों में काँटे न बो दिये हों वह दूसरे के मार्गों पर काँटे बोने कभी नहीं जाता। और जिसने अपने लिए आँसुओं की व्यवस्था न की हो वह कभी दूसरों के दुखों का इन्तजाम नहीं करता है। असल में सबसे पहले हम अपने लिए पीडा बोते हैं और जब पीड़ा घनीभूत होकर हम पर प्रकट होने लगती है तब हम उसे बाँटना शुरू करते हैं। सिर्फ दुखी लोग ही दूसरों को दुख देते हैं। ठीक भी है, जो हमारे पास होता है वही हम दे सकते है। लेकिन वह नम्बर दो की घटना है। नम्बर एक की घटना तो अपने को ही पीड़ा देना है।

क्या हम सारे लोग अपने को पीड़ा नही देते?

देते हैं। चाहे हम कोशिश करते हों आनन्द देने की लेकिन सफल हो पाते है सिर्फ पीड़ा देने में। **नरक का रास्ता बहुत शुभकामनाओं से भरा है और अपने ही नरक का रास्ता अपने ही लिये की गयी शुभकामनाओं के प्रयासों से निर्मित हो जाता है।** असली सवाल यह नही है कि मेरी आकांक्षा क्या है। अपने को हम सभी आनन्द देना चाहते है लेकिन स्वयं को जाने बिना अपने को कोई आनन्द दे नही सकता। क्योंकि जिसे यही पता नही कि मैं कौन हूँ उसे यह कैसे पता होगा कि मेरा आनन्द क्या है। मेरा आनन्द क्या हो सकता है यह तो मुझे तभी पता हो जब मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप, मेरी निजता मुझे पता हो जाय। जब तक मेरी गहरी जड़ों का मुझे कोई पता न हो जाय कि वे क्या हैं, तब तक मैं कैसे तय करूँ कि कौन से फूलों के लिए मैं हूँ, जो मुझमे लगेंगे। मेरा बीज जब तक पूरा निर्णीत मेरे लिए न हो जाय कि क्या है, तब तक मैं किन फूलों की आकांक्षा करूँ? मै कौन सा फूल बनना चाहूँ? अगर मुझे मेरे बीज का ही पता न हो तो मैं जो भी बनना चाहूँगा उससे दुख आयेगा। क्योंकि वह मैं बन नही पाऊँगा। और नही बन पाऊँगा तो पीड़ा पाऊँगा, संतापग्रस्त हो जाऊँगा। चिन्ता से मरूँगा, तनाव से मरूँगा। सारी जिन्दगी एक दौड़ हो जायेगी, पहुँचना कही नही होगा। **यात्रा तो बहुत होगी, मंजिल कहीं नहीं होगी।** क्योंकि मंजिल मेरे स्वभाव में छिपी है, मेरी निजता में छिपी है।

पहले मुझे पता हो जाना चाहिए, मैं कौन हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो मैं हूँ उसके लिए मैं कोई खोज ही नही कर रहा। और जो मै नहीं हूँ उसके लिए खोज कर रहा हूँ। वह नहीं मिलेगा तो मैं दुख पाऊँगा। मिल जायगा तो भी मैं दुख पाऊँगा ये और भी मजे की बात है। **इस जिन्दगी में वे लोग तो दुखी होते ही**

हैं जो असफल हो जाते हैं लेकिन उन लोगों के दुख का भी कोई अन्त नहीं है जो सफल हो जाते हैं। माना असफल आदमी दुखी हो जाय, समझ में आता है, लेकिन सफल आदमी भी दुख को ही उपलब्ध होता है। पूछें सफल लोगों से। तब तो जिन्दगी बड़ी बिडम्बना मालूम पड़ती है। यहाँ असफल तो दुखी होते ही हैं। उनका दुखी हो जाना तर्कयुक्त मालूम होता है। न्यायसंगत दिखायी पड़ता है। लेकिन जो सफल होते हैं वे भी दुखी होते हैं। तब तो यह जगत् बहुत ही पागलपन मालूम होता है। अगर यहाँ सफल को भी दुखी हो जाना है और असफल को भी दुखी हो जाना है तो फिर तो सुख का कोई उपाय नहीं। पूछें सफल लोगों से, और सफल लोगों से ही पहले पूछ लें क्योंकि असफल लोगों के दुखी हो जाने में कोई विशेषता नहीं है। पूछें सफल लोगों से—पूछें सिकन्दर से, स्टैलिन से। पूछें अरबपतियों से—कार्नेगी से या फोर्ड से। पूछें उन लोगों से जिनने जो चाहा था उन्होंने पा लिया। फिर पूछें कि सुख मिला? तो बड़ी हैरानी की बात मालूम पड़ती है। वह कहते हैं सफल तो हो गये, लेकिन सफल हुए सिर्फ दुख पाने में।

असफल जो होते हैं वह भी कहते हैं असफल हुए सुख पाने में। दुख हाथ आया। सफल जो होते हैं वे कहते है सफल हुए दुख पाने में। दुख ही हाथ आया। जो दौड़ कर मंजिल पर पहुँचते हैं वे भी दुख में पहुँच जाते हैं, जो कहीं नहीं पहुँचते भटकते हैं अरण्य में, वे भी दुख मे भटकते हैं। तो फिर मंजिल में और मार्ग में फर्क क्या है? फिर भटकाव में और पहुँचने में अन्तर क्या है? कोई अन्तर नहीं मालूम पडता। नही मालूम पड़ेगा। क्योंकि जिसने नही जाना कि मैं कौन हूं उसकी सफलता भी दुख लायेगी। वह जिस दिन सफल हो जायगा उस दिन पायेगा कि जो मकान उसने बनाया वह खुद के रहने के योग्य ही नही है। वह उसके स्वभाव के अनुकूल नही है। मकान तो बन गया, धन तो इकट्ठा हो गया, यश-कीर्ति तो अर्जित हो गयी लेकिन प्राणों का कोई हिस्सा उससे भरता नहीं, पूरा नही होता। यह तो पहले जान लेना था कि मेरी प्यास क्या है, अभीप्सा क्या है। मैं चाहता क्या हूँ? कितनी चाहें हैं हमारी, बिना इस बात को जाने कि सच में मेरी चाह क्या है!

फ्रायड ने मरने के कुछ दिन पहले अपने एक मित्र को एक पत्र में लिखा है कि इतनी जिन्दगी भर लाखों लोगो के दुख को सुनने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि आदमी सदा ही दुखी रहेगा। क्योंकि आदमी को यही पता नहीं कि क्या चाहता है। फ्रायड जैसा आदमी जब कहता है तो सोचने जैसी बात है कि लाखो दुखी लोगों की पीड़ाओं, चिन्ताओं, मानसिक क्लेशों के अध्ययन के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि किसी आदमी को यही पता नहीं है कि वह चाहता क्या है।

वह पता होगा भी नहीं। क्योंकि आदमी को पहले यही पता नहीं है कि वह कौन है। मैं कपड़े बनवाने निकल जाऊँ, मेरे शरीर का मुझे पता नहीं, मेरे शरीर के नाप का मुझे कोई पता नहीं, मेरे शरीर की जरूरत का मुझे कोई पता नहीं। मुझे मेरा कोई पता नहीं, और कपड़े बनवाने निकल आता हूँ। एक दिन कपड़े बन जाते हैं और मैं पाता हूँ कि वह मुझ पर नहीं आते। वह अनफिट हैं—कहीं कुछ ताल-मेल टूटा हुआ मालूम पड़ता है। कपड़े बनवाने जरूर निकल जाइये लेकिन पहले उसकी तो जाँच-परख कर लें कि वह कौन है जिसके लिए कपड़े हैं। जिसके लिए मकान है, जिसके लिए सुख खोजना है। और बड़े मजे की बात है कि **जो व्यक्ति इसको जान लेता है कि 'मैं कौन' हूँ, उसकी सारे जीवन की यात्रा और सारे जीवन की व्यवस्था रूपान्तरित हो जाती है।** हम जिन चीजों को खोजने जाते हैं उनको वह खोजने जाता ही नहीं। हम जिन चीजों को पाने के लिए श्रम करते हैं उनको पाने के लिए बिना श्रम के अगर कोई हँसी के मूल्य पर भी देने को राजी हो तो हँसने को भी वह राजी नही होगा। अगर कोई मुफ्त में भी देने को राजी हो तो वह उस रास्ते से हट जायगा कि कही कोई मेरे ऊपर डाल ही न दे।

वह कुछ और ही खोजने निकल जाता है। वह कुछ और ही पाने निकल जाता है। और बड़े मजे की बात है कि स्वयं को जानने वाले लोग कभी असफल नहीं होते। आज तक नहीं हुए। और स्वयं को न जानने वाले लोग कितने ही सफल हो जायें, फिर भी असफल ही होते हैं। स्वयं को जानने वाला सफल हो ही जाता है। क्योंकि स्वयं को जानते ही वह उस रहस्य और राज और उस द्वार को खोल लेता है जहाँ आनन्द है। वह स्वयं में ही कही छिपा है। इसलिए उपनिषद् कहते हैं, दो तरह के लोग हैं—आत्मज्ञानी, वे जो स्वयं को जान लेते हैं और आत्मअज्ञानी, वे जो स्वयं को नहीं जानते और नहीं जानने में ही गहरे चले जाते हैं। नही जानने में ही कुछ न कुछ किये चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ पाये चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ निर्माण किये जाते हैं। नहीं जानने में ही उनकी दौड़ और तेज होती चली जाती है। अक्सर तो जिन्दगी में ऐसा ही लगता है कि जो मुझे पाना था वह मुझे नहीं मिल रहा, क्योंकि मैं उतनी तेजी से नहीं दौड़ रहा हूँ। और थोड़ा तेजी से दौड़ूँ तो मिल जायगा—और थोड़ा तेजी से दौड़ूँ तो मिल जायगा। शायद दाँव पूरा नहीं लगाया इसलिए नहीं मिल रहा है। दाँव पूरा लगा दूँ तो मिल जायगा। कभी यह सोचते नहीं कि जो हम खोजने निकले हैं उसका कोई अन्तरसंगीत (Inner harmony) हमारी निजता से है। अगर मिल जाय तो भी

बेकार है। न मिले तब तो बेकार है ही। और जो समय वायेगा मिलने और न मिलने में वह व्यर्थ गया। उतनी मैंने हत्या की अपनी। हम आत्महन्ता हुए। हम असुर हुए। असुर का अर्थ है अंधकार में जीने वाले। असुर का अर्थ है जहाँ सूर्य का कोई प्रकाश नहीं पहुँचता ऐसे लोक में जीने वाले। जहाँ रोशनी नहीं है—अन्धकार-जीवी। अन्धकार में ही टटोलते और सरकते, अँधेरे के कीड़े-मकोड़ों की तरह। और जिन्होंने स्वयं को नहीं जाना वह अन्धकार में होंगे ही। क्योंकि स्वयं को जानना ही सूर्य बन जाना है। ऐसे व्यक्ति की यात्रा फिर प्रकाश लोकों की यात्रा है। और एक वे हैं जिनके भीतर का दिया बिलकुल बन्द और बुझा हुआ है, अन्धेरे में डूबा हुआ है। और जो दौड़ते रहते हैं, टटोलते रहते हैं, भागते रहते हैं, अन्धे अन्धे का पीछा करते रहते हैं, अन्धे अन्धों का नेतृत्व करते रहते हैं। जो थोड़े वाचाल अन्धे होते हैं वह कम बोलने वाले अन्धों को पीछे कर लेते हैं। दौड़ जारी रहती है। जो जरा हिम्मतवर अन्धे होते हैं वह गैर हिम्मतवर अन्धों को पीछे इकट्ठा कर लेते हैं।

खलील जिब्रान ने लिखा है कि एक आदमी गाँव-गाँव घूमकर कहता था कि मेरे पीछे आ जाओ मैं तुम्हें ईश्वर से मिला दूंगा। कभी कोई पीछे उसके गया नहीं इसलिए कभी कोई उपद्रव हुआ नहीं। गाँव के लोगों ने कहा कि अभी हम बहुत दूसरे कामों में उलझे हुए हैं तुम फिर आना। जरा अभी तो फसल खड़ी है, कट जाय, फिर तुम आना। फिर वह आया तो उन्होंने कहा कि इस बार तो फसल ठीक हो नही सकी—तंगी है, तकलीफ है, अगले वर्ष आना। वह गाँव-गाँव घूमता रहा। उसको जल्दी भी न थी कि कोई उसके पीछे चले। लेकिन एक गाँव में एक पागल मिल गया। जब उसने कहा कि मेरे पीछे आओ जिसको ईश्वर के पास जाना हो तो उसने अपनी कुदाली फेंक दी, और कहा मैं आया। वह बहुत घबड़ाया। फिर उसने सोचा कि साल-दो साल में भाग जायगा, आखिर कितना पीछा करेगा। लेकिन वह आदमी पीछे ही पड़ गया। वर्ष बीता। वह आदमी पीछे ही रहा। उसने कहा कि बोलो—कहाँ ले चलते हो वहीं चलूंगा। दो वर्ष बीते और वह नेता घबड़ाने लगा, वह गुरु घबड़ाने लगा और वह उससे बचने लगा। लेकिन वह उसके सदा पीछे ही खड़ा रहा कि बोलो तुम जहाँ कहोगे वहीं चलेंगे। तुम जो कहोगे वही करेंगे। छह साल बीत गये। उसकी गर्दन पकड़ ली अब उसके शिष्य ने। उसने कहा, अब बहुत देर होती जा रही है, तुम बोलो कहाँ चलना है—मिलवाओ ईश्वर से! गुरु ने कहा तुम माफ करो। तुम्हारे सत्संग में मेरा तक रास्ता खो गया। तू जिस दिन से पीछे लगा है हम खुद ही रास्ता भटक गये। पहले रास्ता बिलकुल साफ

था। सब चीजें दिखायी पड़ती थीं। मंजिल पास थी, ईश्वर सामने था। तेरा साथ क्या किया कि मुझे तक डुबा दिया। तो तू अपना रास्ता पकड़, मेरा पीछा छोड़।

उस आदमी ने कहा, अब दोबारा हमारे गाँव से मत गुजरना! उसने कहा, बाबा, हम माफी माँगते हैं। तेरे गाँव से नहीं गुजरेंगे। लेकिन और गाँव मे तो हम जा सकते हैं। और फिर सब गाँवों में तेरे जैसे लोग कहाँ हैं? वे सुन लेते हैं, हम अपने पार हो जाते हैं।

आदमी खुद तो अन्धेरे में जीता ही है। लेकिन खुद अंधेरे में जी रहा है, इस बात को भुलाने के लिए अक्सर दूसरों से प्रकाश की बात करने लगता है। इससे थोड़ा सावधान होने की जरूरत है। आपको जिसका पता ही नही होता वह बात भी आप दूसरों को बताने लगते हैं। तब आप कितनी हानि पहुँचाते हैं इसका हिसाब लगाना मुश्किल है। लेकिन एक आदमी ऐसा खोजना मुश्किल है जो इतना नियम मानता हो, इतना संयम और मर्यादा रखता हो कि जो जानता है वही बतायेगा। जो नहीं जानता है वह नही बतायेगा। नही, मौका मिल जाय तो लोभ भारी है दूसरे को बताने का। भारी, बहुत भारी—कोई मिल भर जाय जो जरा दिखा कि कमजोर है, उसकी गर्दन दबायी जा सकती है, तो फिर आप दबा लेंगे। फिर उसको बता देंगे कि यह रहा रास्ता पहुँच जाओ सीधे। चले जाओ। रास्ता बताने का मजा है, उससे भ्रम पैदा होता है कि अपने को रास्ता पता है। और बताते-बताते आदमी धीरे-धीरे भूल ही जाता है कि हमें खुद भी पता नहीं है। बहुत कम लोग हैं जिन्हें पता है। लेकिन बहुत लोग हैं जो बता रहे है। और इस दुनिया में जो नहीं जानते और बता रहे हैं वे अगर चुप हो जायँ, तो बड़ा शुभ फलित हो। लेकिन बहुत कठिन है उनका चुप होना। उनको चुप करना कठिन है। उनको चुप करें तो वह और जोर से चिल्लाने लगेंगे। क्योंकि जोर से बताने में ही वह अपने को धोखा दे पाते है। अपने ही कान में पड़ती अपनी ही आवाज भरोसा दिला देती है कि ठीक है, मुझे मालूम है।

उपनिषद् कहते हैं, दो तरह के लोग हैं। आप ठीक से सोच लेना, दो में किस तरह के हैं? आप किस कोटि में हैं? ईमानदारी से निर्णय अपने बाबत लेना जरूरी है तो ही अगला कदम ईमानदारी का उठ सकता है।

आत्महन्ता हैं कि आत्मज्ञानी हैं?

आत्मज्ञानी हैं तब तो कोई सवाल ही नहीं, बात ही समाप्त हो गयी। तब तो कोई यात्रा ही नहीं है। आत्महन्ता हैं तो यात्रा है। बात शुरू भी नहीं हुई, समाप्त होना तो दूर है। लेकिन अपने-आपको आत्मज्ञानी मान लेना सरल है।

उपनिषद् पढ़े हैं सभी ने, गीता पढ़ी है, बाइबिल पढ़ी है, कुरान, महावीर, बुद्ध के वचन सभी को याद हैं। यह इतना महँगा पड़ गया है जिसका कोई हिसाब नहीं। सब कण्ठस्थ हो गये हैं, सबको सब मालूम है। किसी को कुछ भी मालूम नहीं है। और सबको सब मालूम होने का भ्रम है। सब कण्ठस्थ है। मुझे लोग पत्र लिखकर भेज देते हैं कि आपने यह बात कही, यह ठीक नहीं मालूम पड़ती क्योंकि फलानी किताब में ऐसा लिखा हुआ है। अगर तुम्हें पता ही है कि ठीक क्या है तो मेरी बात सुनने की कोई जरूरत ही न रही। और अगर पता नहीं है कि ठीक क्या है, तो फलानी किताब में लिखा है ठीक है यह कैसे तय कर लिया। यह सिर्फ सोच-विचार से तय नहीं होगा। कुछ करना पड़ेगा।

कल मैं यहाँ से गुजरा। एक मित्र ने कार पर आकर कहा कि यही तो योगसार में भी कहा है न, जो मैं कह रहा हूँ। अब योगसार पढ़े बैठे हैं! जो मैं कह रहा हूँ उसे करने की फिक्र करो। क्योंकि जो योगसार में कहा है उसे किया होता तो मेरे पास आने की जरूरत ही न होती। तो योगसार पर आपकी बड़ी कृपा है, कुछ किया नहीं। मुझ पर भी वही कृपा मत करो! और अब मुझसे पूछते हो कि यही योगसार मे कहा है कि नही कहा है? इससे क्या फर्क पड़ेगा! योगसार आपने पढ़ लिये और मेरी बात सुन ली तो करियेगा कब? वह जो मित्र पूछते थे कोई बच्चे नही थे। बच्चे ऐसी नासमझी की बातें नहीं पूछते। वे वृद्ध थे। अगर नासमझी की गहरी बातें पता लगानी हों तो बूढ़ों के पास जाना, क्योंकि नासमझी भी परिपक्व हो गयी होती है। अनुभवी अज्ञान होता है (Experienced ignorence) मजबूत, भारी। सब शास्त्र देख लिये। सब जो-जो कहा गया है, जान लिया। आत्मज्ञानी बन गये। बन गये तो हर्जा नहीं। बहुत अच्छा है, शुभ है। हम सब प्रसन्न होंगे—कोई बने। लेकिन फिर मेरे पास आने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन आये हैं तो मैं जानता हूँ योगसार बेकार गया। आये हैं तो मैं जानता हूँ, जो भी अब तक पढ़ा है बेकार गया। और जब इतने को बेकार कर दिया है तो बहुत सम्भावना तो यह है कि मुझे भी बेकार करके रहेंगे। उसी चेष्टा में लगे हैं। मैं कह दूँ कि योगसार में कहा है तो ठीक है, मालूम ही है—बात खत्म हो गयी। अगर मैं कहूँ कि नहीं कहा है योगसार में तो विवाद करने के लिए सुविधा मिल जायेगी। विवाद जिन्दगी भर किया जा सकता है। मैं किसी विवाद में उत्सुक नहीं, किसी वाद में उत्सुक नहीं। एक बात छोटी-सी में उत्सुक हूँ कि आप निर्णायक रूप से तय कर पायें—आत्महन्ता हैं कि आत्मज्ञानी हैं? आत्मज्ञानी हैं तो आप बाहर हिसाब के हो गये। आपसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। बात खत्म हो गयी। आत्महन्ता

हैं तो कुछ किया जा सकता है। वह क्या किया जा सकता है वही आपसे कह र
हूँ। और ध्यान रखें, मैं कह रहा हूँ इसलिए वह सही नहीं हो जायगा। मे
कहने से कोई चीज सही नहीं हो जाती। जब तक कि आप उसे करके न जा
लें तब तक किसी तरह सही न हो जायगी। उसे करके जानें।

धर्म प्रयोग है, विचार नहीं। धर्म प्रक्रिया है, चिन्तना नहीं। धर्म विज्ञा
है, दर्शन नहीं। निश्चित ही प्रयोगशाला कोई भारी प्रयोगशाला नहीं है
जहाँ हम जायें, और सामान जुटा कर प्रयोग करने लगें। आप ही प्रयोगशा
बनेंगे। आपके भीतर ही सारा का सारा प्रयोग फलित होने वाला है। आ
के लिए इतनी बात—फिर कल हम और सूत्रों पर बात करेंगे। अब प्रयोग
बात आपसे थोड़ी-सी कर दूँ, फिर हम प्रयोग में लगेंगे।

मैं तो मानकर चलता हूँ कि आप आत्महन्ता हैं। इससे बुरा लग सकता है
लगे तो ही अच्छा। थोड़ी चोट लगे तो भी अच्छा। कई बार तो ऐसे आद
इतने मर गये होते हैं कि चोट भी नहीं लगती। उनको आत्महन्ता कहो, वह कहे
ठीक कह रहे हैं। ठीक कह रहे हैं, स्वीकार्य है।—स्वीकार कर लेंगे। अ
तक अपने को बिना जाने जी रहे हैं, यह आपसे मैं कहता हूँ। चाहता हूँ कि अ
खुद अपने भीतर जायें और अपने से कह पायें कि मैं अपने को बिना जाने
रहा हूँ। क्योंकि स्वयं को न जानने की पीड़ा इतनी घनी है कि वही आप
प्रयोग में ले जायगी, अन्यथा नहीं जा सकते।

और ध्यान रखें कि प्रयोग कुछ ऐसा है कि आप करेंगे तो ही जानेंगे। पड़ो
करेगा तो आप नहीं जान लेंगे। आज दोपहर के मौन में मैंने देखा कि कोई द
पाँच पक्के नासमझ देख रहे थे कि दूसरे क्या कर रहे हैं। क्या देखेंगे! द
रहा है एक आदमी, नाच रहा है एक आदमी, चिल्ला रहा है एक आदमी, अ
क्या देख रहे हैं? सोच रहे होंगे कि यह पागल है! मैं आपसे कहता हूँ फिर
सोचना—पागल आप हैं। वह तो कुछ कर रहा है। आप पागल को देख
आये हैं? आप किसलिए आ गये हैं? कोई नाचेगा उसको देखने? बेक
मेहनत की। इतनी लम्बी यात्रा बेकार गयी। पागल ही देखने थे तो फिर आप
गाँव में ही मिल जाते। उसके लिए इतनी दूर इस पहाड़ पर चढ़ कर आने
कोई भी जरूरत न थी।

दूसरे के भीतर क्या हो रहा है आप कभी नहीं जान पायेंगे। अगर
हँस रहा है तो आपको हँसी की आवाज सुनायी पड़ेगी लेकिन उसके भीतर कौ
सा झरना बह रहा है यह आपको कभी पता नहीं चलेगा। अगर वह रो रहा
तो उसके आँसू आपको दिखायी पड़ेंगे लेकिन उसके भीतर कौन-सी चीज ऐसी ब

में आ गयी कि आँसुओं से वह रही है उसका आपको कभी पता नहीं चलेगा। अगर वह नाच रहा है तो ठीक है, नाच रहा है। देख लेंगे कि हाथ-पैर उठा रहा है, कूद रहा है। लेकिन उसके भीतर कौन-सी ध्वनि बजने लगी, उसके भीतर कौन-से तार झनझना उठे, वह आपको कभी पता नहीं चलेगा। कितना ही उसकी छाती पर कान लगा लें तो भी उसकी अन्तरवीणा का कोई स्वर आपको सुनायी पड़ने वाला नहीं है।

इसलिए दूसरे को बिलकुल भूल जाना है, दूसरे का स्मरण ही छोड़ देना है। तो कल के मौन के लिए आपसे कह दूँ कि मौन में भी आप आँख पर पट्टी ही बाँधें, वही उचित है। मौन में भी कोई बिना पट्टी के न बैठे, पट्टी ही बाँध के बैठे। कान मे भी रूई डाल लें। देखने की फिक्र छोड़ दें, सुनने की फिक्र छोड़ दें। देखने-सुनने से कुछ भी मिलने वाला नहीं है।

रात का जो प्रयोग है, यह खुली आँख का प्रयोग है और जिन्होंने आज दिन ज्यादा-से-ज्यादा आँख बन्द रखी होगी, वे उस प्रयोग में गहरा-से-गहरा जा सकेंगे। इसलिए जिन्होंने नही रखी हो, कल वह ख्याल रख कर ज्यादा-से-ज्यादा आँख को बन्द रखें। यह रात का प्रयोग खुली आँख का है। ध्यान रहे, आँख के खुले होने पर पूरे समय आँख की ऊर्जा बाहर जाती है। इस प्रयोग को अगर पूरी शक्ति से करना है तो ज्यादा-से-ज्यादा आँख दिन मे बन्द रहेगी तो ऊर्जा इकट्ठी होगी। और आँख रात के इस प्रयोग में उसका उपयोग कर पायेगी; अन्यथा नही उपयोग कर पायेगी। तो आप कल पूरा ख्याल रखें। **अधिकतम आँख को बन्द रखें, कान को बन्द रखें, मौन रहें।** सुबह तो आँख बन्द करके ही प्रयोग होगा, दोपहर के मौन में भी आँख पर पट्टी रहेगी। रात चालीस मिनट पूरी आँख खुली रखनी है।

चालीस मिनट अभी हम यहाँ बैठेंगे तो आप सिर्फ मुझे देखते रहेंगे चालीस मिनट। आँख की पलक भी नहीं झपानी है। चालीस मिनट आँख के द्वार को बिलकुल खुला रखना है। थोड़ी ही देर में बहुत से अनुभव आने शुरू हो जायेंगे। और जिन्होंने आज दिन में प्रयोग किया है—और बहुत से मित्रों ने बहुत ही ठीक से प्रयोग किया है—उनके लिए परिणाम भारी होंगे। जिनको ऐसा ख्याल हो कि उनके लिए खड़े होकर आसानी होगी, क्योंकि उछलेंगे, कूदेंगे, नाचेंगे तो वह बाहर की परिधि पर चारों तरफ खड़े हो जायेंगे। इस कोने पर मेरे चारों तरफ बीच में बैठे हुए लोग रह जायेंगे। फिर खड़े हुए लोग चारों तरफ हो जायेंगे। जिनको भी जरा भी ख्याल हो कि उनको आसानी खड़े होकर पड़ेगी, वह हट जायें। फिर बीच में न उठें। फिर बीच में आप नहीं उठ सकेंगे। चुपचाप—बात कोई नहीं करेगा।

चालीस मिनट मुझे आपको देखना है। मैं चुप यहाँ बैठा रहूँगा। फिर जो भी आपको हो, होने देना है। गहरी श्वास का मन हो, गहरी श्वास लें। नाचने का मन हो नाचें, लेकिन ध्यान मेरी तरफ हो, आँख मुझ पर टिकी रहे। चिल्लाने का मन हो, चिल्लायें, नाचें, रोयें, हँसें, जो भी करना हो, करें। लेकिन आँख मेरी तरफ रहे।

दो और सूचनाएँ आपको दे दूं। जब मुझे लगेगा कि आप ठीक स्थिति में आ गये तो मैं अपने दोनों हाथ ऊपर की तरफ उठाऊँगा। उस वक्त आपको पूरी शक्ति लगा देनी है। वह मेरा इशारा है कि आपके भीतर की कुण्डलिनी उठ रही है, आप पूरी शक्ति लगा दें। और जब मुझे ऐसा लगेगा कि आप इतनी शक्ति से भर गये कि आपके ऊपर परमात्मा की शक्ति उतर सकती है तो ऊपर से हाथ नीचे की तरफ लाऊँगा। तब आप पूरी, जितनी आपके पास शक्ति होगी, पूरी लगा देंगे। और तब बहुत परिणाम होंगे। ●

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला तथा मन से भी तीव्र गति वाला है । इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि वह इन सबसे आगे गया हुआ है । वह स्थिर होते हुए भी अन्य सभी गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है । उसके रहते हुए ही वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप कर्मों का विभाग करता है ॥४॥

आत्मतत्त्व स्थिर होते हुए भी गतिमान से भी ज्यादा गतिमान है। आत्मतत्त्व इन्द्रियों और मन की दौड़ के परे है, क्योंकि इन्द्रियाँ और मन दोनों के पूर्व है, दोनों के पहले है, दोनों के पार है। इस सूत्र को साधक के लिए समझना बहुत जरूरी है और उपयोगी है। पहली बात तो कि आत्मतत्त्व से हम अपरिचित है, उसका हमे कोई पता नही, वह हम हैं और फिर भी उसकी हमे कोई पहचान नही है। वह हमारी चेतना की अन्तिम गहराई (Ultimate depth) है, आखिरी गहराई है, जहाँ से हमारा होना जन्मता है और विकसित होता है। अगर हम एक वृक्ष की तरह सोचें तो वृक्ष मे पत्ते भी है, ऊपर आकाश में फैले हुए। पत्तो के पीछे छिपी हुई शाखाएँ भी हैं। शाखाओं के पीछे वृक्ष की पीड भी है। और उन सबके नीचे वृक्ष की, अँधेरे में पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई जड़ें भी हैं। कोई वृक्ष अगर अपने को पत्ता ही मान ले, और ऐसा मानने में बहुत कठिनाई नही है, क्योंकि जड़ें प्रकट नहीं हैं, दूर अन्दर गर्भ में छिपी हैं। तो हो सकता है, वृक्ष समझ ले, मैं पत्तो का समूह हूँ। और भूल जाय यह कि जड़ें भी हैं। उसके भूलने मे अन्तर नही पडता। जड़ें फिर भी अँधेरे में काम करती रहेंगी। पत्ते क्षणभर भी जी न सकेंगे जड़ो के बिना। और यह मजे की बात है कि पत्ते तो जड़ों के बिना नही हो सकते, लेकिन जड़ें पत्तो के बिना हो सकती हैं। अगर हम पूरे वृक्ष को भी काट डालें तो भी जड़ें सक्रिय रहेंगी और नये वृक्ष को अंकुरित कर जायेंगी। लेकिन हम पूरी जड़ों को काट डालें तो पत्ते सिर्फ कुम्हलायेंगे, सूखेंगे और मरेंगे। नये पत्तो को जन्म न दे पायेंगे। **वह जो अँधेरे में गहरे में छिपी हुई जड़ें हैं, वही प्राण हैं।**

अगर मनुष्य को भी हम एक वृक्ष मान लें तो जिन्हें हम विचार कहते हैं, वे हमारे पत्तों से ज्यादा नहीं हैं। और विचारों के जोड़ को ही हम अपने को समझ लेते हैं कि यह 'मैं हूँ', पत्तों के जोड़ को ! जड़ तो गहरे में आत्मतत्त्व है। लेकिन जैसे जमीन के गहरे में और अँधेरे में वृक्ष की जड़ें छिपी हैं, वैसे ही हमारे आत्मतत्त्व की जड़ें परमात्मा में, गहरे में, बहुत गहरे में छिपी हैं। वहाँ से ही हम रस पाते हैं। वहाँ से ही जीवन मिलता है। वहाँ से ही प्राण की धाराएँ बहती हैं और हमारे पत्तो तक आती हैं। हमारे पत्ते न हो सकेंगे, अगर वे जड़ें न हों। तो जिस दिन वे जड़ें अपने को सिकोड़ लेती हैं परमात्मा में, उसी दिन हमारे पत्ते कुम्हला जाते हैं, शाखाएँ सूख जाती हैं—कहते हैं आदमी मर गया। जब तक वे जड़ें रस को पिये चली जाती हैं तब तक वह आत्मतत्त्व फैलाये चला जाता है, तब तक लगता है हम जीवित हैं। **हमारे विचार हमारे पत्तों की भाँति हैं, हमारी वासनाएँ हमारी शाखाओं की भाँति हैं। और इन पत्तों और शाखाओं के जोड़ से ही हमारा अहंकार निर्मित होता है।** यह बहुत गौण हिस्सा है हमारे अस्तित्व का। हमारे अस्तित्व का मूल हिस्सा तो नीचे छिपा है। उसको ही उपनिषद् आत्मतत्त्व कहता है। वह जिसके बिना हम न हो सकेंगे, यद्यपि जिसे हम भूल सकते हैं। वह, जिसके बिना हमारा कुछ भी न हो सकेगा लेकिन फिर भी वह इतने भूगर्भ में है, अस्तित्व की इतनी गहराई मे है कि हम उसे विस्मरण कर सकते हैं। **आत्मतत्त्व विस्मरण कर दिया जाता है।**

और मजे की बात है, जो बहुत गहरा नहीं है, जिसके बिना भी हम हो सकते हैं, वह ऊपर होता है—बहुत ऊपर। वह दिखायी पड़ता है। वह पकड़ में आता है। हम अपने को जब पकड़ने जाते हैं तो अपने विचारों के जोड़ को ही समझ लेते हैं कि यह मैं हूँ। मन को ही समझ लेते हैं कि मैं हूँ। **मनस्तत्त्व हमारे पत्तों का जोड़ है। आत्मतत्त्व हमारी जड़ों का।** और ध्यान रहे, जो जड़ों तक नहीं पहुँचेगा वह उस भूमि को तो कभी पहचान ही नही पायेगा, जिससे जड़ें रस पाती हैं। **जड़ है आत्मतत्त्व।** जड़ तक जो पहुँचेगा वह पायेगा, बहुत शीघ्र पायेगा कि जड़ भी रस पाती है पृथ्वी से। और भी एक बड़ी अन्तरधारा है जीवन की। **आत्मतत्त्व को जो पहचानेगा वह परमात्म-तत्त्व को भी पहचान लेगा।** लेकिन हम तो जीते हैं पत्तों में और इन पत्तो के जोड को ही समझ लेते हैं कि यह मैं हूँ। इसलिए एक जरा-सा पत्ता कुम्हला जाता है, गिरता है तो हम सोचते हैं, मरे, गये, नष्ट हुए। सब पत्ते कुम्हला जाते है तो सोचते हैं जीवन गया। जीवन का हमे पता ही नही है। जीवन का बहुत ऊपरी आवरण, बहुत ऊपरी आच्छादन जो है उसे ही हम अपने को मानकर जीते हैं। उपनिषद् कहता है, इस आवरण में, इस आच्छादन में जीने

वाला ही आत्महन्ता है । इस आवरण के नीचे, गहरे में वहाँ तक जाने वाला, जहाँ जड़ें मिल जायें, जहाँ से अस्तित्व अपने मूल उद्‌गम को पाले, गंगोत्री मिल जाय जहाँ प्राणों की, उसे जान लेने वाला ही आत्मज्ञानी है । उसे जान लेने वाला ही प्रकाश को उपलब्ध होता है । जीवन को उपलब्ध होता है ।

इस आत्मतत्त्व के लिए तीन बातें कही हैं—एक तो यह कहा है कि वह आत्म-तत्त्व सदा स्थिर है । और इस स्थिर आत्मतत्त्व के चारों ओर बड़े परिवर्तन का जाल चलता है । यह भी बड़े रहस्य की बात है । जहाँ-जहाँ परिवर्तन होता है वहाँ-वहाँ केन्द्र में स्थिरता अनिवार्य है । जैसे गाड़ी का एक चाक चलता है तो कील ठहरी है । अगर कील भी चल जाय तो चाक का चलना मुश्किल है । कील ठहरी है, इसलिए चाक चल पाता है । चाक के चलने का राज ठहरी हुई कील में होता है । अगर कील भी चली तो चाक नहीं चलेगा । फिर तो गाड़ी गिरेगी और नष्ट होगी । चाक चलेगा उतनी ही व्यवस्था से जितनी व्यवस्था से कील स्थिर रहेगी । चाक सैकड़ों मीलों की यात्रा कर लेता है और कील कितनी यात्रा करती है ? कील अपनी ही जगह खड़ी रहती है । बड़े मजे की बात तो यह है कि खड़ी हुई कील की जरूरत पड़ती है चलने वाले चाक को । वह जो परिवर्तन का चक्र है, वह चलता ही है उस पर, जो अपरिवर्तित है । तो पहली बात यह कि हमारे जीवन में सब परिवर्तन है । और जहाँ तक परिवर्तन है वहाँ तक जानना कि पत्ते हैं । आयेंगे अभी इस बसन्त में और झड़ेंगे कल पतझड़ मे । क्षण भर को भी कुछ ठहरा नहीं होगा । लेकिन गहरे में, भीतर गहरे में कहीं कोई तत्त्व है, जो फैला हुआ है और सारे परिवर्तन को सम्हाले हुए है ।

कभी ग्रीष्म के बवण्डर देखे हैं चलते हुए हवा के ? गोल बवण्डर धूल के बादल को आकाश की तरफ उठाये लिये चला जाता है । जब बवण्डर जा चुका हो, तब कभी उस बवण्डर के नीचे छूट गये जो चरण-चिह्न हैं जमीन की धूल पर, उन्हें जाकर देखना तो बड़ी हैरानी होगी । बवण्डर घूमता है कितनी तेजी से । कभी-कभी तो बवण्डर लोगों को उड़ाकर उठा ले जाता है । लेकिन बवण्डर के निशान अगर देखेंगे तो बहुत चकित होंगे, बीच बवण्डर के गाड़ी की चाक की तरह एक कील का स्थान भी होता है, जो बिलकुल अछूता रह जाता है । इतने जोर से बवण्डर घूमता है, लेकिन बीच में एक जगह रहती है, जो खाली और शून्य रह जाती है । हवा की कील बन जाती है वहाँ । उसी ठहरी हुई कील पर पूरा बवण्डर घूमता है । असल में कोई भी चीज घूम नहीं सकती है, अगर बीच में कोई चीज ठहरी हुई न हो । जीवन बड़े जोर से घूमता है । विचार बड़े जोर से घूमते हैं । वासनाएँ बड़े जोर से घूमती हैं । वृत्तियाँ बड़े जोर से घूमती हैं । जीवन एक चक्र है

तेजी से घूमता हुआ। उपनिषद् कहते हैं, उसके बीच में एक स्थिर तत्त्व है। उसे खोजना पड़ेगा। उसके बिना सहारे के यह इतना बवण्डर चल नहीं सकता। यह बवण्डर जीवन के उस थिर तत्त्व पर चलता है। वह थिर तत्त्व आत्मतत्त्व है। वह सदा थिर है, ठहरा ही हुआ है। वह कहीं भी कभी गया नहीं है। वह कभी बदला नहीं है। **जब तक उस अपरिवर्तित और न बदलने वाले का स्मरण न आ जाय, पहचान न आ जाय, तब तक जानना कि जीवन को हमने नहीं जाना।** अभी हम बाहर की परिधि पर परिवर्तन को ही जानते है, अभी आत्मतत्त्व से हमारी पहचान नहीं हुई। अभी हम चाक के आरा से ही परिचित रहे है, अभी मूल को नहीं देखा, जिस पर सब ठहरा हुआ है।

ठहरे हुए का क्या अर्थ है ? जो भी अर्थ हम समझेंगे, उसमें गलती होने की पूरी सम्भावना है। और इसलिए जिन लोगों ने भी उपनिषद् पर व्याख्याएँ की है, उनमें अधिक लोगों ने भूल की है। ठहरे हुए का मतलब Stagnant नहीं है, ठहरे हुए का मतलब ऐसा नहीं है जैसा कि एक तालाब है, चलता नहीं, रुका हुआ। आत्मतत्त्व ठहरा हुआ है इसका ऐसा अर्थ नहीं है। **आत्मतत्त्व ठहरा हुआ है, आत्मतत्त्व थिर है, इसका अर्थ है कि आत्मतत्त्व इतना पूर्ण है कि परिवर्तन का उपाय नहीं है।** आत्मतत्त्व इतना परिपूर्ण है, इतना परम, इतना निरपेक्ष। जो भी है, इतना पूरा है कि उसमें और कुछ उपाय नहीं है होने का। परिवर्तन वहीं होता है, जहाँ अपूर्णता होती है। बदलाहट वहीं होती है, जहाँ कुछ और होने की गुंजाइश है। जहाँ कुछ और होने की सुविधा है, अवकाश है। बच्चा जवान हो जाता है, जवान बूढ़ा हो जाता है। कुछ जगह बची है, बदलती चली जाती है। पत्ते आते हैं, फूल आते है। गिरते हैं, नये पत्ते आते हैं। आत्मतत्त्व थिर है, इसका अर्थ है आत्मतत्त्व पूर्ण है। पूर्ण को बदलेंगे कैसे ? पूर्ण बदलेगा किसमे ? जगह भी नहीं है बदलने को आगे। आगे बदलने को उपाय भी नहीं है। आत्मतत्त्व थिर है, इसका अर्थ है, आत्मतत्त्व पूरा खिला हुआ है। अब और खिलने को आगे जगह नहीं है। **ध्यान रहे, आत्मतत्त्व ठहरे हुए तालाब की तरह नहीं, पूरे खिले हुए कमल की तरह है।** इतना खिल गया है कि अब कलियों को खिलने के लिए और कोई उपाय नहीं है। तो यहाँ थिरता से अर्थ है पूर्णता (Perfection)। इतना पूर्ण है, इतना पूर्णतर है, इतना पूर्णतम है कि उसके आगे अब पंखुड़ियाँ और खिलना भी चाहें तो कहाँ खिलें। **यहाँ थिरता का अर्थ है कि पूरी-की-पूरी संभावना** (Potentiality) **वास्तविकता** (Actuality) **बन गयी है। जो भी छिपा था बीज में वह पूरा-का-पूरा प्रगट है, अप्रगट कुछ बचा नहीं।** इसलिए यहाँ ठहराव का अर्थ अगति नहीं है, यहाँ ठहराव

का अर्थ पूर्णता है। लेकिन हम जब भी सोचते हैं, ठहरा हुआ है तो हमारे मन में ख्याल ऐसा आता है जैसे कोई आदमी चलता न हो, खड़ा हुआ हो। यहाँ मृत ठहराव नहीं है। यहाँ जीवन की पूर्णता है। तो खिले हुए फूल का स्मरण करना ठहरे हुए तालाब का नहीं, तब ख्याल में बात आ सकेगी।

दूसरी बात ईशावास्य का यह सूत्र कहता है—**इंद्रियाँ इसे पा न सकेंगी, क्योंकि वह इंद्रियों के पहले है।** स्वभावतः मैं आँख से आपको देख सकता हूँ, मेरी आँख से आपको देख सकता हूँ—आप मेरी आँख के आगे हैं। लेकिन मैं मेरी आँख से आपको नही देख सकता, क्योंकि मैं आँख के पीछे हूँ। आपको देख लेता हूँ, क्योकि आप मेरी आँख के आगे हैं। अपने को नहीं देख पाता अपनी ही आँख से, क्योंकि मैं आँख के पीछे हूँ। अगर मेरी आँख चली जाय, मैं अन्धा हो जाऊँ तो फिर मैं आपको बिलकुल न देख पाऊँगा, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मैं अपने को नही देख पाऊँगा। अगर आँख से मैं अन्धा हो जाऊँ तो उन्ही चीजों को नही देख पाऊँगा, जिनको आँख से देखता था। लेकिन अपने को कभी आँख से देखा ही नही था। इसलिए अन्धा होकर भी मैं अपने को देखता ही रहूँगा। इसमे दो बातें ख्याल में लेने की हैं।

इन्द्रियाँ उन चीजो को देखने का, जानने का माध्यम बनती हैं जो इन्द्रियों के सामने है। इन्द्रियाँ उन चीजो को देखने का माध्यम नही बनतीं, जो इन्द्रियो के पीछे हैं। पीछे के भी दोहरे अर्थ हैं। पीछे का अर्थ सिर्फ पीछे नही, पूर्व भी है। एक बच्चे का गर्भ निर्मित होता है तो जीवन पहले आ जाता है, फिर इन्द्रियाँ आती हैं। ठीक भी है। क्योंकि अगर जीवन पहले न आ गया हो तो इन्द्रियों का निर्माण कौन करेगा ? जीवन तो पहले आ जाता है। आत्मा तो पहले प्रवेश कर जाती है गर्भ के अन्दर। पूरी आत्मा प्रवेश कर जाती है, फिर एक-एक इन्द्रियाँ विकसित होनी शुरू होती है। फिर शरीर निर्मित होना शुरू होता है। माँ के पेट में सात महीने में इन्द्रियाँ धीरे-धीरे खिलती है। नौ महीने मे इन्द्रियाँ अपना पूरा रूप ले लेती है। लेकिन कुछ चीजें तब भी पूरी नही होती। जैसे सेक्स इन्द्रिय तो पूरी नही होती। उसको तो पूरा होने में माँ के पेट से निकलने के बाद भी १४ वर्ष लग जाते हैं। मस्तिष्क के बहुत से हिस्से हैं, जो धीरे-धीरे विकसित होते हैं, पूरे जीवन विकसित होते रहते हैं। मरता हुआ आदमी भी बहुत कुछ अभी विकसित कर रहा होता है। लेकिन जीवन आ गया होता है पहले। इन्द्रियाँ आती हैं पीछे, उपकरण आते हैं बाद में। मालिक आ जाता है पहले, नौकर बुलाये जाते है बाद मे। स्वभावतः नौकरों को बुलायेगा कौन ? इकट्ठा कौन करेगा ? तो वह मालिक नौकरों को तो जान सकता है, लेकिन वे नौकर लौट कर उस मालिक

को नहीं जान सकते हैं। वह आत्मा इन इंद्रियों को तो जान सकती है लेकिन इंद्रियाँ लौट कर उस आत्मा को नहीं जान सकती हैं, क्योंकि उसका होना इंद्रियों के पहले है और इतने गहरे में है, जहाँ इंद्रियों की कोई पहुँच नहीं है। इन्द्रियाँ ऊपर हैं। वे भी जीवन का आवरण हैं। इसलिए इन्द्रियों से आत्मा को कोई जान नहीं सकता, चाहे कितनी ही तीव्र हो उसकी दौड़। मन भी इन्द्रिय है। मन कितना तेजी से दौड़ता है। इसलिए एक विरोधाभास इस वक्तव्य में है और वह यह है कि इतना तेज दौड़ने वाला मन भी उस आत्मा को नहीं पाता, जो कि ठहरी ही हुई है। इतना तेज दौड़ने वाला मन भी उसे नहीं उपलब्ध कर पाता, जो कि चलती ही नहीं। इतना तेजी से चलने वाला मन उसे चूक जाता है। बड़ी अजीब दौड़ है। प्रतियोगिता बहुत हैरानी की है। आत्मा, जो कि ठहरी हुई है, स्थिर है, इस मन को उसे पा लेना चाहिए ! लेकिन अक्सर ऐसा ही होता है जीवन में। ठहरी हुई चीजों को ठहर कर ही पाया जा सकता है, दौड़ कर नहीं पाया जा सकता। आप रास्ते से चलते हैं। किनारे पर फूल खिले हुए हैं, वह ठहरे हुए हैं। आप जितने धीमे चलते हैं, उतना ही ज्यादा उनको देख पाते हैं। खड़े हो जाते हैं तो पूरा देख पाते हैं। और जब कार से आप ६० मील की गति से उनके पास से निकलते हैं तो कुछ भी पकड में नही आता। और हवाई जहाज से निकल जाते हैं तब तो पता ही नहीं चलता है। और कल और बड़े तीव्र गति के साधन हो जायेंगे तो फूल था भी, इसका भी पता नहीं चलेगा। दस हजार मील प्रति घण्टे की रफ्तार से चलने वाला यान रास्ते के किनारे खडे हुए फूल को चूक जायगा। गति के कारण ही उसको चूक जायेंगे, जो कि खड़ा हुआ था।

मन बड़ी तेजी से दौड़ता है। अभी हमारे पास कोई यान नहीं है जो उतनी तेजी से दौड़ता हो। और भगवान् न करे कि किसी दिन ऐसा यान हो जाय कि हमारे मन से भी तेजी से दौड़े तो मन हमारा पीछे रह जायगा, हम आगे निकल जायेंगे। बहुत दिक्कत होगी। बहुत कठिनाई हो जायगी। आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ जायगा। नहीं, ऐसा कभी होगा भी नहीं कि कोई यान हमारे मन से तेजी से दौड़ सके। यान चाँद पर पहुँचेगा तब तक मन मंगल की यात्रा कर रहा होगा। यान जब मंगल पर पहुँचेगा, मन तब तक और दूसरे सौर जगतों मे प्रवेश कर जायेगा। मन सदा आगे दौड़ता रहता है सब यानों के। कितनी ही तेज उनकी गति क्यों न हो। इतना तेजी से दौड़ने वाला मन उस ठहरी हुई आत्मा को नहीं पा सकेगा। उपनिषद् कहते हैं तो ठीक कहते हैं। क्योंकि जो बिलकुल ही ठहरा हुआ है उसे दौड़ कर नहीं पाया जा सकता, उसे तो ठहर कर ही पाना पड़ेगा। अगर मन बिलकुल ठहर जाय तो ही उसको जान सकेगा, जो ठहरा

हुआ है। यह भी जान लें आप कि जब मन बिलकुल ठहर जाता है तो होता ही नहीं। मन जब तक दौड़ता है तभी तक होता है। सच तो यह है कि दौड़ का नाम ही मन है। मन दौड़ता है, यह भाषा की गलती है। जब हम कहते हैं कि मन दौड़ता है तब भाषा की गलती हो रही है। यह गलती वैसे ही हो रही है जैसे हम कहते हैं कि बिजली चमकती है। असल में जो चमकती है, उसका नाम बिजली है। बिजली चमकती है तब दो बातें कहने की कोई जरूरत नहीं है। आपने कभी 'न चमकने वाली' बिजली देखी है? तो फिर बेकार है यह कहना। असल में जो चमकता है उसका नाम ही बिजली है। मगर भाषा में दिक्कत होती है। भाषा में हम बिजली को अलग कर लेते हैं और चमकने को अलग कर लेते हैं। फिर हम कहते हैं, देखो, बिजली चमक रही है। जब कि चमकना और बिजली एक ही चीज के दो नाम हैं।

ठीक वैसे ही भूल होती है। हम कहते हैं, मन दौड़ता है। असल में, जो दौड़ता है, उसका नाम मन है। दौड़ का नाम मन है। तब ठहरे हुए मन का कोई अर्थ नही होता। जैसे कि न चमकने वाली बिजली का कोई मतलब नहीं होता। कोई कहे कि बिजली इस समय नही चमक रही है तो आप कहेंगे, है ही नहीं। क्योंकि बिजली नहीं चमक रही है, इसका कोई अर्थ नहीं होता। चमकती है तभी होती है। **मन अगर ठहर जाय, तो नहीं हो जाता है।** ठहरा हुआ मन अ-मन (No-mind) हो जाता है। कबीर ने जिसे अमनी अवस्था कहा है। वह ठहर जाता है तो फिर नहीं रह जाता। मन तभी तक है, जब तक दौड़ता है। इसलिए आप मन को कभी भी ठहरा न पायेंगे। ठहर जायेंगे तो पायेंगे मन नही है। मन कभी आत्मा को न जान सकेगा। क्योंकि दौड़ से कभी आत्मा जानी न जा सकेगी, और मन दौड़ का ही दूसरा नाम है। इसलिए **जिस दिन मन नहीं होता है उस दिन आत्मा जानी जाती है।** मन से हम सारे जगत् को जान लेते हैं। सिर्फ एक आत्मतत्त्व अनजाना रह जाता है। मन जब नहीं होगा तब हम आत्मतत्त्व को जान लेते हैं।

मन की दौड़ की अपनी तकनीक है, अपनी पूरी टेक्नालॉजी है। अकारण चूंकि नहीं दौड़ा जा सकता, इसलिए मन कारण निर्मित करता है। उन कारणों का नाम वासनाएँ (Desires) हैं। मन कहता है, वह चीज पानी है, इसलिए दौड़ेंगे। अगर आगे भविष्य में कुछ पाने को ही न हो, कोई मंजिल न हो तो दौड़ेंगे कैसे? इसलिए रोज भविष्य में मन मंजिल तय करता है कि वह रही मंजिल। वहाँ तक पहुँचना है। तब दौड़ शुरू हो जाती है। इसलिए जिस मंजिल पर मन पहुँच जाता है, वह बेकार हो जाती है। क्योंकि **वह तो सिर्फ बहाना**

था दौड़ का। जिस मंजिल को मन पा लेता है, वह मंजिल बेकार हो जाती है, क्योंकि वह तो सिर्फ बहाना था। तब दूसरा बहाना निर्मित करता है कि ठीक है यह तो पा लिया। अब इसमें कुछ सार नहीं। अब रही वह मंजिल—आगे, और आगे।

इसलिए मन सदा भविष्य में होता है, वह कभी वर्तमान में नहीं हो सकता। जिसे दौड़ना है उसे भविष्य में ही जीना होगा। वह सदा आगे ही होगा। वह वहाँ नहीं होगा, जहाँ आप हैं। **अगर वहीं होगा तो दौड़ बन्द हो जायेगी। और आत्मा वहाँ है जहाँ आप हैं। और मन वहाँ है जहाँ आप कभी नहीं होते—सदा आगे।** और मन जहाँ पहुँच जाता है, वहीं कह देता है, बेकार है। आगे चलो। तो मन मील के उस पत्थर की तरह है जिस पर तीर हमेशा आगे बताता रहता है। लेकिन मील के पत्थर पर तो कहीं-कहीं शून्य का पत्थर भी आ जाता है। शून्य के पत्थर पर तीर नहीं होता। कल मैं गुजर रहा था तो एक पत्थर मुझे आगे मिला, शून्य का पत्थर। वहाँ कोई तीर नहीं—न इस तरफ, न उस तरफ। **क्योंकि शून्य का मतलब ही होता है मंजिल,** उसके आर-पार कुछ नहीं होता। कहीं जाने को नहीं। जहाँ आप जाना चाहते थे, वहाँ आ गये। लेकिन मन हमेशा आगे तीर बताता रहता है। **मन की यात्रा में कभी वह पत्थर नहीं आता है जिस पर शून्य बना हो। और अगर किसी दिन वह पत्थर आ जाय तो उस जगह का नाम ध्यान है।** जहाँ शून्य बना हो, कोई तीर न हो। और अगर कभी वैसा पत्थर आ जाय मन की यात्रा में तो वही आत्मा की अनुभूति है। वह शून्य की जगह जहाँ है, वहीं आत्मा है। इसलिए जिन्होंने जाना है उन्होंने कहा है कि मन से तो न जान सकोगे, लेकिन शून्य से जान सकते हो। ध्यान रहे, जब भी इस तरह के जानने वाले लोग शून्य कहते हैं तो उसका मतलब होता है अ-मन (No-mind)।

मैंने कहा कि मन बहाने निर्मित करता है—कुछ पाना है। और मन की जो आखिरी तरकीब है, जब संसार की सब चीजें चुक जाती हैं और मन ऊबने लगता है तो कहता है, धन भी पाया बहुत, फिर कुछ मिला नहीं। मकान बनाये बहुत, कुछ मिला नहीं। शरीर खरीदे बहुत, लेकिन कुछ मिला नहीं। तब वह परलोक, स्वर्ग, मोक्ष, परमात्मा, इनके तीर बनाना शुरू कर देता है। तब भी वह थकता नहीं, तब भी वह तीर बनाये चला जाता है। तब भी वह यह नहीं कहता कि **अब शून्य बना लो, अब मत बनाओ तीर।** नहीं, वह कहता है अब इनको पा लो। धन को पाया, कुछ हुआ नहीं, छोड़ो अब धर्म को पा लो। लेकिन पायेंगे जरूर! कुछ पाते जरूर रहेंगे! वासना (Becoming)

जारी रहेगी। कुछ पाने की यात्रा जारी रहे तो मन फिर जारी रहेगा। ध्यान रहे, **धार्मिक आदमी वह नहीं है जो परमात्मा को पाना चाहता है।** क्योंकि जब तक कोई कुछ भी पाना चाहता है तब तक मन जारी रहेगा। धार्मिक आदमी वह है, जिसने इस सत्य को पहचान लिया है कि पाने की दौड़ ही मन है, इसलिए अब हम नहीं पाते। अब हम न पाने में खड़े हो जाते हैं। **अब परमात्मा भी हमसे कहे कि दो कदम चल कर आ जाओ, मैं यहाँ हूँ, तब भी हम नहीं जाते।** अब हम शून्य के पत्थर पर खड़े हो गये। अब हमारी कोई यात्रा नहीं। और बड़े मजे की बात है कि **जो खड़ा हो जाता है उसको परमात्मा मिल जाता है।** क्योंकि वह खड़ा हुआ है। जो परमात्मा को पाने के लिए भी दौड़ता है उसको परमात्मा कभी नहीं मिलता। क्योंकि दौड़ मन की है और मन से कोई आत्मतत्त्व उपलब्ध नहीं होने वाला है।

मन की सांसारिक दौड़ से जब तुम ऊब जाओगे, फिर तुम नये बहाने बना लोगे—आत्मा, परमात्मा, मोक्ष। बुद्ध तो इतना दूर तक जाते हैं, वह कहते हैं कोई आत्मा भी नहीं है। नहीं तो तुम आत्मा को ही पाने में लग जाओगे। मन इतना कुशल है कि वह कहेगा, चलो कुछ नहीं तो आत्मा तो है, तो आत्मा को ही पा लें। लेकिन पायें जरूर, दौड़ें जरूर। नहीं दौड़े घर की तरफ तो मन्दिर की तरफ दौड़ें। लेकिन दौड़ें जरूर। नहीं पदार्थ की तरफ, तो प्रभु की तरफ, लेकिन दौड़ें जरूर।

लेकिन पहुँचते वे हैं जो खड़े हो जाते हैं। इस सूत्र में यही कहा है। इन्द्रियों के पीछे है वह, मन के पार है वह। इन्द्रियों और मन से उसे नहीं पा सकेंगे। तो क्या करेंगे? अगर इन्द्रियों के पार है तो **इंद्रियों का भरोसा छोड़ दें उसे पाने में।** अगर मन के पार है तो मन की दौड़ के आधार तोड़ दें उसे पाने के। मन की दौड़ के आधार तोड़ दे, इन्द्रियों का भरोसा छोड़ दे। वही मैं आपसे कह रहा हूँ। अगर आपसे कहता हूँ कि आँख बन्द कर ले तो असल में एक भरोसा तोड़ने को कह रहा हूँ। कह रहा हूँ आँख से बहुत देखा, वह दिखायी नहीं पड़ा। जन्म-जन्म देखा, वह दिखायी नहीं पड़ा। अब आँख बन्द करके देखें। कानों से बहुत सुनना चाहा उसकी आवाज, वह सुनायी न पड़ी। बहुत सुनना चाहा उसका संगीत, नहीं कान पकड़ पाया। अब कान बन्द कर लें। सोचा-विचारा बहुत, उसका कोई सूत्र हाथ न लगा। बहुत मन को थका डाला, बहुत चिन्ता की, बहुत विचारणा की, बहुत दर्शन, बहुत धर्म, बहुत शास्त्र खोजे। बहुत शब्द, बहुत सिद्धान्त निर्मित किये। नहीं मिली उसकी कोई खोज-खबर। अब छोड़ दें सब। अब सोचना छोड़ दें। अब जरा अनसोचे (No-thinking) में

चले जायें। वहाँ शायद वह मिल जाय। शायद कहता हूँ आपके लिए। लेकिन वह मिल ही जाता है वहाँ। लेकिन आपके लिए शायद कहता हूँ। क्योंकि जब तक नहीं मिला है तब तक भरोसा करना पक्का कि मिल ही जायगा, खतरनाक है। कई बार ऐसे भरोसे रुकावट का कारण बन जाते हैं। वह कहते हैं बस, ठीक है—मिल ही जायगा, मिल ही जाता है। ऐसे, सिद्धान्त ही सिद्धि मालूम होने लगते हैं। इसलिए कहता हूँ शायद। प्रयोग कर सकें इसलिए मैं कहता हूँ—**PERHAPS.**

मिल तो जाता ही है, लेकिन इन्द्रियों को, इन्द्रियों के सहारे को छोड़ देना पड़ता है। मन को, मन की दौड़ को, गति को छोड़ देना पड़ता है। ऐसा है आत्मतत्त्व, जो सदा उपलब्ध है हमारे पास, लेकिन जिसे हम बड़ी व्यवस्था से चूकते चले जाते हैं। जिसे हमने कभी नहीं खोया, सिर्फ विस्मरण करते हैं। लेकिन उसके विस्मरण में ही सारा जीवन बेकार हो जाता है। और उसके विस्मरण में सारा जीवन नरक हो जाता है। और उसके विस्मरण में जीवन में सिवाय काँटों के कोई फूल नहीं खिलता। और उसके विस्मरण में जीवन एक रेगिस्तान हो जाता है—जहाँ कोई सरिता नहीं, कोई रस की धारा नहीं। सब सूख जाता है। हमारा जीवन है रेगिस्तान की तरह। कितना ही खोजते हैं, रेत ही हाथ आती है, कहीं कोई जलस्रोत नहीं दिखायी पड़ते। कितना ही चलते हैं, कहीं कोई छाया नहीं मिलती, कहीं कोई विश्राम दिखायी नहीं पड़ता। कहीं कोई विराम नहीं मालूम पड़ता। जानें कि उस आत्मतत्त्व की छाया को पाये बिना कोई विश्राम नही है। और उस आत्मतत्त्व को पाये बिना जीवन में कोई मरुद्यान (Oasis) नहीं। और उस आत्मतत्त्व को पाये बिना कभी कोई रस की धारा नहीं बही। वही है सब। लेकिन पत्तो में जो अटक गये, वे जड़ों तक नही पहुँच पाते। माना कि पत्ते जड़ों से ही आते हैं, फिर भी पत्तों में जो अटक गये वे जड़ों तक नहीं पहुँच पाते। पत्तों को छोड़ दें। नीचे गहरे उतरें—भीतर जायें, पार, भावातीत, इंद्रियातीत, विचारातीत। पीछे और पीछे सरकते जायें। उस जगह पहुँच जाना है जहाँ शून्य का पत्थर आ जाता है। वह सबके भीतर है। उस शून्य को हम सब लेकर घूम रहे हैं। नहीं तो घूम न पाते। जैसा मैंने कहा, अगर वह शून्य भीतर न हो, वह थिर, पूर्ण, भीतर न हो तो यह सारी परिवर्तन की धारा, यह इतना बड़ा चक्र-जाल चल नहीं सकता। यह जो आप अन्धड़ की तरह, आँधी की तरह दौड़ रहे हैं। यह जो आप बवण्डर की तरह घूम रहे हैं, वह सब उस शून्य के ऊपर है।

आखिरी बात इस सम्बन्ध में और कह दूं कि शून्य और पूर्ण एक ही बात

के कहने के दो ढंग हैं। उपनिषद् पूर्ण की भाषा पसन्द करते हैं। उपनिषद् जब पैदा हुए, जब ये उपनिषद् के सूत्र कहे गये, तब आदमी पूर्ण की ही भाषा समझने में समर्थ था। पूर्ण की भाषा का अर्थ है विधायक भाषा। शून्य की भाषा का अर्थ है, निषेधात्मक भाषा। पूर्ण की भाषा समझने के लिए बच्चों जैसा हृदय चाहिए, पूर्ण की भाषा बूढ़े नहीं समझ पाते। और आदमी रोज बचपन के बाहर होता चला गया है। जिस दिन इस सूत्र का जन्म हुआ होगा उस दिन आदमी बच्चों की तरह पूर्ण की भाषा समझते थे। कभी आपने बच्चों को अध्ययन किया हो, छोटे बच्चों को, तो आपको ख्याल होगा। एक बच्चा रास्ते में चलते बड़ी जिज्ञासाएँ उठाता है, सभी बच्चे उठाते हैं। बड़े कठिन सवाल उठाते हैं। लेकिन आप सरल-सा जवाब दे देते हैं और वे प्रसन्न होकर शान्त हो जाते हैं। सवाल बड़े कठिन उठाते हैं जिनके जवाब बूढ़ों के पास भी नहीं हैं। छोटा-सा बच्चा पूछता है, नया बच्चा घर में आ गया है, वह पूछता है, कहाँ से आ गया है? कठिन है सवाल। अभी बूढ़ों के पास भी ठीक-ठीक जवाब नहीं है। जो जानते हैं, जन्म-शास्त्री जो हैं, उनके पास भी ठीक-ठीक जवाब नहीं है। वह कहते हैं, अभी हम टटोलते हैं। कहाँ से आता है, अभी ठीक पक्का पता नहीं है। जहाँ तक हम पहुँचे हैं वहाँ तक हम कहते हैं, लेकिन वहाँ से भी पार से आता है जीवन, अभी कुछ पक्का नहीं है। तो जो जिन्दगी लगाये हैं इसी खोज में कि बच्चा कहाँ से आता है उनको भी पता नहीं है। जो बच्चे पैदा करते हैं उनको तो बिलकुल ही पता नहीं है, क्योंकि पैदा करने के लिए पता होने की कोई भी जरूरत नहीं। लेकिन एक भ्रम पैदा हो जाता है कि बाप,—जो सात बच्चों का बाप है, उसको तो मालूम होना ही चाहिए कि बच्चा कहाँ से आता है। उस भ्रम में वह भी जीता है। तो जवाब तो वह देगा। लेकिन कभी छोटे बच्चे की वृत्ति को देखें। वह इतना कठिन सवाल पूछता है कि बच्चे कहाँ से आते हैं? इसका अभी विज्ञान के पास भी उत्तर नहीं है। और मेरे देखे कभी भी नहीं हो सकेगा। लेकिन आप कह देते हैं, कौवा देखा है? वह ले आता है। ले आता होगा। बच्चा खेलने जा चुका। बात खत्म हो गयी। भरोसा कर लिया उसने।

यह अभी विधायक मन है। अभी अस्वीकार की बात नहीं उठती। अभी संदेह नहीं जागता। अभी वह यह नहीं कहता है कि कौवा कैसे ला सकता है! कहाँ से लायेगा? अभी वह यह नहीं पूछता। कल पूछेगा। एक वक्त आयेगा तब यह कौवे वाला उत्तर काम नहीं करेगा। तब वह सवाल उठाने शुरू करेगा। समझें, तब निषेधात्मक मन पैदा हुआ।

एक युग था कि सारी दुनिया, सारी पृथ्वी, सारी मनुष्य-जाति बच्चों की तरह

थी—इनोसेंट, सरल, जो बात कही जाती थी वह मान लेते थे। इसलिए जितने पुराने ग्रन्थ में जायेंगे, उतनी ही हैरानी होगी। हैरानी यह होगी कि न कोई तर्क है, न कोई युक्ति है, सीधा वक्तव्य है! ऋषि के पास कोई जाता है, वह पूछता है मन अशान्त है, मैं क्या करूँ? ऋषि कहता है कि तू राम का नाम ले। वह कहता है, ठीक है और चला जाता है। वह यह भी नहीं पूछता कि राम के नाम से क्या होगा। कुछ नहीं पूछता। ध्यान रहे, राम के नाम से तो कुछ नही होता लेकिन उसके इस चित्त की अवस्था में अगर उस ऋषि ने कहा होता कि तू पत्थर-पत्थर कह, तो उससे भी हो जाता। पत्थर से नही हो जाता, न राम से हो जाता है। यह चित्त की जो पाजिटिव स्थिति है, यह जो स्वीकार का सरल भाव है, यह जो इनकार रखता ही नहीं है, यह जो सन्देह जन्माता ही नहीं, इससे हो जाता है। इसलिए वह कहते थे तू जा, राम का नाम लेना, सब ठीक हो जायगा। वह घर जाकर राम का नाम ले लेता है और सब ठीक हो जाता है। ध्यान रखना, लेकिन मैं आपसे कह रहा हूँ कि राम के नाम से नही हो जाता है। वह हो जाता है उस चित्त की विधायक मनोदशा से। इस ऋषि ने कह दिया होता कि यह ताबीज ले जा। पानी उठाकर दे दिया होता और कह दिया होता कि जा उसे पी लेना। वह पी जाता और उससे भी हो जाता। किसी भी चीज से हो जाता, उससे कोई फर्क नही पडता है। सवाल पीछे विधायक मनोदशा का है, वह है, तो हो जायगा।

लेकिन अब नही रही विधायक मनोदशा। महावीर और बुद्ध के समय आते-आते विधायक दशा समाप्त हो गयी थी। इसलिए महावीर और बुद्ध दोनों के लिए निषेध की भाषा का उपयोग करना पड़ा। महावीर ने थोड़े-से निषेध का उपयोग किया और कहा कि कोई परमात्मा नही है। इसलिए नही कि परमात्मा नही रहा। इसलिए कि अब वह आदमी नही था कि जिससे कह दो, परमात्मा है और वह नाचने लगे आनन्द से। जो यह न पूछे कि कहाँ है? जिससे कह दो कि परमात्मा है और जो नाचने लगे उसकी धुन में—कहे कि है तो फिर हो जायगा, फिर खुल जायगा दरवाजा। और स्मरण रखे, इतने सरल मन के लिए कोई दरवाजा नहीं रुक सकता खुलने से। लेकिन अब वह आदमी नहीं था महावीर के सामने जिससे कहो कि परमात्मा है और वह नाचने लगे। किसी से कहा, परमात्मा है तो वह दस सवाल लेकर आने लगा था। तो महावीर ने कहा, परमात्मा नही है। असल मे परमात्मा तो उत्तर है। उस पर ही सवाल उठाने लगे कोई, तो बेकार हो गया। अगर उससे ही सवाल उठने लगे तो उसका कोई मतलब न रहा। वह तो उत्तर था पुराने ऋषि का। महावीर के वक्त लोग पूछने लगे, कैसा ईश्वर? कहाँ है, कितने उसके सिर हैं, कितने उसके हाथ है? कैसे पैदा हुआ, कहाँ से

आया, कहाँ मिलेगा ? तो महावीर ने कहा, वह है ही नहीं। वह उत्तर बेकार हो गया था। जिस उत्तर से प्रश्न उठने लगे वह उत्तर बेकार है। उत्तर का तो मतलब है, जिसमें प्रश्न समाधित हो जायें। जिस पर आकर प्रश्न गिर जायें।

परमात्मा परम उत्तर था। लेकिन महावीर को छोड़ देना पड़ा। बुद्ध को एक कदम और आगे बढ़ना पड़ा। महावीर ने आत्मा से काम चला लिया। लेकिन कितनी तीव्रता से अन्तर हुआ था। महावीर और बुद्ध की उम्र में ज्यादा फर्क नहीं था, केवल तीस साल का फर्क था। लेकिन बुद्ध को कहना पड़ा, आत्मा ही नहीं है। महावीर ने कहा, कोई परमात्मा नहीं है, आत्मा है। बुद्ध को कहना पड़ा, आत्मा भी नहीं है। क्योंकि बुद्ध के वक्त लोग पूछने लगे, आत्मा यानी क्या ? कोई भी उत्तर नहीं था। बुद्ध ने कहा, शून्य है। ध्यान रहे, शून्य के सम्बन्ध में प्रश्न नही उठाया जा सकता। क्योंकि शून्य का मतलब ही है, जो नहीं है। उसके बाबत प्रश्न क्या उठाइयेगा। शून्य के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। अगर उठाते हैं आप प्रश्न तो आप समझे नहीं। शून्य का मतलब ही है, जो नहीं है। अब आप और क्या सवाल उठा रहे हैं ? हम खुद ही कह रहे हैं कि नही है। बुद्ध ने कहा : शून्य। तुम शून्य मे ही लीन हो जाओ। भाषा बदल गयी। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि शून्य और पूर्ण एक ही चीज है। पूर्ण विधायक चित्त का उत्तर है, शून्य निषेध चित्त का उत्तर है।

और यह भी बड़े मजे की बात है कि इस हमारे जगत् मे शून्य के अतिरिक्त और हमें किसी पूर्ण का अनुभव नहीं। इसलिए शून्य का प्रतीक हमने बनाया है, सर्किल, वर्तुल। वह मनुष्य के द्वारा खींची गयी पूर्णतम आकृति है। वर्तुल जो है, सर्किल जो है, वह मनुष्य के द्वारा खींची गयी पूर्णतम आकृति है। और कोई आकृति पूर्ण नही है। और यह भी मजे की बात है कि शून्य की आकृति सबसे पहले भारत में खींची गयी। गणित के कारण नही, वेदान्त के कारण। ९ तक की संख्या भारत मे निर्मित हुई। लेकिन यह बड़े मजे की बात है कि एक, दो, तीन या नौ सभी अपूर्ण है। उनमें कुछ जोड़ा जा सकता है। एक मे और एक जोड़ा जा सकता है। जिसमें कुछ जोड़ा जा सकता है, वह पूर्ण नहीं है। क्योंकि जोड़ने से वह ज्यादा हो जाता है। उनमें से कुछ घटाया जा सकता है। क्योंकि जिसमें से कुछ घटाया जा सकता है और पीछे घट जाता है वह पूर्ण नही है। शून्य में न आप कुछ जोड़ सकते हैं, न कुछ घटा सकते हैं। वह पूर्ण है। शून्य में से आप कुछ घटा नहीं सकते। किसे घटाइयेगा, वहाँ कुछ है ही नही जिसमें से आप घटा दें। शून्य मे आप कुछ जोड़ नहीं सकते। कैसे जोड़ियेगा ?

शून्य पूर्ण की प्रतिकृति है। वह ज्यामिति में पूर्ण का प्रतिरूप है। यह जो

शून्य पूर्ण का प्रतिरूप है इसे हम अपने भीतर ले चलते हैं। अगर आपको पूर्ण से समझ में आता हो, तो ठीक है। अगर पूर्ण से समझ में न आता हो तो शून्य से समझ लें। अन्तिम परिणाम में कोई अन्तर न पड़ेगा। आपकी मनोदशा के लिए दो यात्राएँ हो जाती हैं। अगर आपको लगता है कि शून्य से नहीं समझ में आयेगा, अगर आपकी चित्त-दशा विधायक है, तो नाचें, गायें, आनन्द में मग्न हो जायें। अगर आपको लगता है कि मेरी विधायक दशा नहीं है चित्त की, सवाल उठते हैं, तो शान्त हों, शून्य हों, मौन हों, शून्य में खो जायें। अगर आपको लगता है है निषेध का मन है, निगेट का मन है, तो शून्य में खो जायें। अन्तिम फल फिर एक ही हो जायेंगे। **शून्य से भी नृत्य आ जायगा।** लेकिन वह शून्य होने से आयेगा। **नृत्य से भी शून्य आ जायगा,** लेकिन वह नृत्य से आयेगा।

पूर्ण की जिसकी भाव दशा है वह नाचेगा पहले, गायेगा पहले, कीर्तन करेगा, फिर शून्य हो जायगा। नाचते-नाचते उसकी नृत्य की ध्वनि के बीच में जब नृत्य तीव्र होगा, गतिमान् होगा, नृत्य ही बचेगा। और जब नृत्य एक बवण्डर बन जायगा, तभी उसे भीतर के शून्य का अनुभव होने लगेगा। पीछे कोई खड़ा हुआ मालूम होने लगेगा। शरीर नाचता रहेगा, भीतर शून्य आत्मा खड़ी हो जायेगी। **कील दिखायी पड़ने लगेगी घूमते हुए चक्र के साथ।** और ध्यान रहे, चाक अगर खड़ा हो तो कील को पहचानना मुश्किल पडेगा। क्योंकि दोनों ही खड़े होंगे। चाक अगर खड़ा हो तो कौन कील है, कौन चाक है पहचानना मुश्किल हो जायगा। चाक चल पड़े तो कील को पहचानना आसान पड़ जायगा, क्योंकि वह नहीं चलेगी और चाक चलेगा। पूर्ण के भाव में आनन्दमग्न होकर कोई चैतन्य, कोई मीरा नाचती है। नाचते-नाचते चाक पूरा घूमने लगता है और भीतर की कील अलग खड़ी मालूम पड़ने लगती है।

शून्य से शुरू करे तो फिर भीतर शून्य होता चला जाता है। जब भीतर सब शून्य हो जाता है तो बाहर का चाक दिखायी पडने लगता है जो चल रहा है—विचार चल रहे है, संसार चल रहा है।

कील से भी यात्रा शुरू हो सकती है, चाक से भी। दो ही यात्रा के छोर हैं। इस आत्मतत्त्व को या तो पूर्ण होकर जाना जा सकता है या शून्य होकर। लेकिन न तो इन्द्रियाँ पूर्ण तक ले जा सकती हैं, न शून्य तक। न मन पूर्ण तक ले जा सकता है, न मन शून्य तक ले जा सकता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता । वह दूर है और समीप भी है । वह सब के अन्तर्गत है और वही इस सब के बाहर भी है ॥५॥

नहीं चलता वह आत्मतत्त्व, फिर भी वही चलता है। निकट है वह आत्मतत्त्व—निकट से भी निकटतम, फिर भी दूर है। भीतर है वह आत्मतत्त्व, अन्तरात्मा है वह। फिर भी वही बाहर दिखती है। यह सूत्र मनुष्य के इतिहास में, जो भी महावचन कहे गये हैं, उनमें से एक है। बहुत सरल है और बहुत गहन भी। जीवन के जितने भी सरल सत्य हैं उनसे ज्यादा कोई गहन सत्य नही होते। और जो बहुत साफ-साफ मालूम पड़ता है, वही रहस्य है और उस रहस्य को प्रकट करने के लिए सदा ही पैराडाक्सिकल, विरोधाभासी शब्दों का उपयोग करना पडता है। अब अगर कोई तर्कशास्त्री इसको पढ़े तो कहेगा कि एकदम गलत है।

आर्थर कोएसलर ने, जो पश्चिम के आज के एक बड़े विचारक है, उन्होंने पूरब की इस तरह की दृष्टियों की बडी मखौल उडायी है, बड़ी मजाक उडायी है। कहा है कि एब्सर्ड हैं। इससे ज्यादा और अर्थहीन वक्तव्य क्या होगा कि वह आत्मतत्त्व पास से भी पास और दूर से भी दूर है! दिमाग ठीक है आपका? क्योंकि जो पास है वह पास ही हो सकता है, दूर कैसे होगा? वह आत्मतत्त्व ठहरा हुआ है और चलता हुआ भी है! क्या बातें कर रहे है आप—अर्थहीन, इनमें कुछ भी तो अर्थ नहीं है। वही भीतर और वही बाहर भी फैला हुआ है तो बाहर और भीतर मे फिर फर्क क्या रहा? अगर वह भीतर है तो बाहर कैसे हो सकेगा? और अगर बाहर है तो भीतर कैसे हो सकेगा? दूर है तो कृपा करके कहिये कि दूर है, पास मत कहिये। और अगर पास कहते हैं तो कृपा करके दूर कहना छोड़ दीजिये। कोएसलर यही कहेगा। और आपका मन भी राजी होगा कोएसलर से, अगर ईमानदार है तो बराबर राजी होगा। कोएसलर ईमानदार आदमियों में से

एक है और मैं मानता हूँ कि ईमानदार होना बेहतर है, उससे रास्ते खुल सकते हैं। कोएसलर कहता है कि मेरे लिए इस तरह के वक्तव्य इललॉजिकल, पागलखानो में निकले हुए वक्तव्य हैं। कोई पागल इस तरह की बात कहे तो माफ किया जा सकता है। लेकिन कोएसलर को पता नही है कि इधर दस वर्षों में विज्ञान भी इसी हालत मे पहुँच गया है। और इसी तरह के वक्तव्य देने लगा है। आइन्स्टीन भी इस तरह के वक्तव्य देता है। छोड़े, ऋषि पागल हो सकते हैं। **ऋषियों का दावा भी नहीं है कि वह पागल नहीं है।** क्योंकि इस जगत् में, पागल नही हैं ऐसे दावे सिवाय पागलों के और कोई नही करता है। ऋषि इतने बुद्धिमान् हैं कि पागल होने के लिए भी राजी हो सकते हैं। जो परम बुद्धि को उपलब्ध होते हैं वे परम अज्ञानी होने के लिए तैयारी दिखा पाते हैं।

कल मैं किसी से कह रहा था कि टु क्लेम विसडम इज द ओनली स्टुपिडिटी—बुद्धिमत्ता का दावा करना एकमात्र मूढ़ता है। मूढ़ों के अतिरिक्त बुद्धिमान् होने का दावा किसी ने किया नही। बुद्धिमान् तो, जितने बुद्धिमान् हुए हैं उन्होने कहा, हम महामूढ हैं। हमें कुछ भी पता नहीं। इतना ही पता है कि कुछ भी पता नही है। जितना जाना उतना ही पता चला कि अज्ञानी गहन है। जितना जाना, उतना ही जानने के सब द्वार गिर गये। लेकिन आइन्स्टीन को तो कोएसलर भी नही कह सकता कि पागल है। लेकिन अभी पिछले दस वर्षों में कठिनाई आ गयी। जैसी कठिनाई उपनिषद् को आ गयी थी। जब भी कोई विचार, कोई खोज परम रहस्य को छुयेगी, तभी यह उपद्रव आ जायगा। जब उपनिषद् का ऋषि इस परम रहस्य पर पहुँच गया, आखिरी आत्मतत्त्व पर, तब उसको पैरोडाक्सिकल लेंग्वेज, विरोधी भाषा का उपयोग करना पडा। एक ही साथ कहा कि दूर है और पास भी। और बड़ी जल्दी से कहा कि कही ऐसा न हो कि आप समझ जाये कि दूर है। कहा कि पास है और तत्काल शीघ्रता से कहा कि दूर भी, कही ऐसा न हो कि आप समझ जाये कि पास है। जो कहा उसको दूसरे वक्तव्य मे फौरन् खण्डित किया। अभी विज्ञान भी परम तत्त्व के बहुत निकट घूमने लगा है।

इलेक्ट्रान का आविष्कार हुआ तो वैज्ञानिक कठिनाई मे पड़ गये। कोई शब्द न मिला जिससे उसे कहे। आदमी के पास सब शब्द हैं, पर इलेक्ट्रान को क्या कहें? एक बड़ी कठिनाई खड़ी हो गयी कि उसको कण कहें कि तरग? कण और तरग निश्चित ही अलग-अलग और विपरीत चीजे है। कण तरंग नही हो सकता है। कण का मतलब ही हुआ कि जो ठहरा हुआ है। तरग का मतलब है, जो गतिमान् है। तरंग अगर ठहर जाय तो तरंग नहीं है। तरंग का मतलब ही है जो तैर रही है। बही जा रही है, हुई जा रही है, बनी जा रही है, मिटी जा रही

है—एक प्रोसिस। तरंग है एक प्रोसिस, एक प्रक्रिया। और कण? कण है एक स्थिति। प्रोसेस नही, स्टेटस। दो वैज्ञानिक उसका अध्ययन कर रहे हैं। एक वैज्ञानिक कहता है कि मुझे तरंग मालूम पड़ती है, एक वैज्ञानिक कहता है मुझे कण मालूम होता है। एक ही साथ। और एक वैज्ञानिक कहता है, क्षणभर को कण मालूम होता है, क्षणभर को तरंग मालूम होता है। दोनों हैं और एक साथ हैं। तो बहुत कठिनाई हुई। ऐसा कोई शब्द दुनिया की किसी भाषा में न था कि जिसका अर्थ एक ही साथ कण भी हो और तरंग भी। तो एक नया शब्द 'क्वांटा' उनको खोजना पड़ा। क्वांटा का मतलब होता है बोथ, दोनों, तरंग भी, कण भी।

पागल हैं—कोएसलर को कहना चाहिए, यह सब आइन्स्टीन और प्लांक, ये सब पागल हैं। आइन्स्टीन से किसी ने पूछा कि आप क्या कह रहे हैं, यह कैसे हो सकता है कि कण और तरंग दोनों हों? आइन्स्टीन ने कहा, हो सकता है कि नहीं हो सकता है, यह निर्णय मैं कैसे करूँ, लेकिन ऐसा है। हो सकता है कि नहीं हो सकता है, यह मैं कौन हूँ कहने वाला? इतना ही मैं खबर देता हूँ कि ऐसा है। उस पूछने वाले आदमी ने कहा कि यह तो हमारे सारे तर्क के नियमों को तोड़ देता है। यह तो अरस्तू का जो सारा तर्क है, वह सब खण्डित होता है। तो आइन्स्टीन ने कहा, मैं क्या करूँ? अगर तथ्य के सामने तर्क टूटता हो तो तर्क को ही टूटना पड़ेगा। तथ्य टूटने को राजी नहीं है। आप अपने तर्क को बदलें। तथ्य तो यही है। अरस्तू गलत हो। इलेक्ट्रान अरस्तू को सही करने के लिए कण होने को राजी नहीं हैं। अरस्तू को सही करने के लिए इलेक्ट्रान सिर्फ तरंग होने को राजी नहीं हैं, वह दोनों है। अरस्तू की उसे कोई फिक्र ही नही। अरस्तू का तर्क कहता है कि विपरीत चीजें एक साथ नहीं हो सकती हैं। ठीक कहता है। एक आदमी जिन्दा और मरा हुआ एक साथ कैसे होगा? लेकिन जो गहरे रहस्य को जानते हैं, वे कहते हैं, जिन्दगी और मौत एक ही आदमी के दो पैर हैं, बायें और दायें। आप जब जिन्दा हैं तब मर भी रहे हैं। नहीं तो एक दिन मर नहीं पायेंगे। जिस दिन आप जन्मे उसी दिन से मर रहे हैं। इधर जिन्दगी चल रही है, उधर मौत भी चल रही है। सत्तर साल में मुकाम आता है। यह बड़े मजे की बात है, मरा हुआ आदमी मर सकता है? जिन्दा आदमी चाहिए मरने के लिए। यानी मरने के लिए जिन्दा होना बिलकुल जरूरी है, अनिवार्य है। यह शर्त ढीली नहीं की जा सकती। कोई अगर जिन्दा नहीं हो तो नहीं मर सकता।

अब यह बड़ी उल्टी बात हो गयी कि मरने के लिए जिन्दा होना अनिवार्य शर्त है। तो फिर इसका मतलब हुआ कि जिन्दा होने के लिए मरना अनिवार्य

मर्त है। जो आदमी इसी वक्त मर नहीं रहा है, वह जिन्दा भी नहीं है। मौत और जिन्दगी एक ही प्रक्रिया के नाम हैं। एक साथ हम मर भी रहे हैं और हो भी रहे हैं। हम मिट भी रहे हैं और बन भी रहे हैं। अरस्तू कहता है, अँधेरा अँधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। अँधेरा और प्रकाश कभी एक नहीं हो सकते। साधारणतः ठीक दिखायी पड़ता है। लेकिन कोई अँधेरा ऐसा नहीं है, जहाँ प्रकाश नहीं है। और कोई प्रकाश ऐसा नहीं है, जहाँ अँधेरा नहीं है। और विज्ञान तो कहता है अँधेरा कम प्रकाश का ही नाम है। और प्रकाश कम अँधेरे का नाम है। डिग्री का अन्तर है। जैसे कि गर्मी और सर्दी दो चीजें नहीं हैं। कभी ऐसा करें तो यह उपनिषद् का सूत्र बड़ी अच्छी तरह समझ में आ जायगा। एक हाथ को आँच में थोडा गरम कर लें और एक हाथ पर बरफ रखकर उसे थोड़ा ठण्डा कर लें। और फिर दोनों हाथों को एक बाल्टी में, जिसमें पानी भरा हो, डाल दें। और फिर पूछें कि पानी ठण्डा है या गरम ? एक हाथ खबर देगा कि ठण्डा है और एक हाथ खबर देगा कि गरम है। तब आपको कहना पड़ेगा कि ठण्डा है, और कही भूल न हो जाय, इसलिए फौरन् कहना पड़ेगा, गरम भी है। विपरीत वक्तव्य देने पडेंगे। एब्सर्ड हो जायेंगे कोएसलर के हिसाब से। लेकिन पानी ठण्डा और गरम नहीं होता। आपके हाथ और पानी के बीच जो सम्बन्ध निर्मित होता है उससे डिग्री का पता चलता है।

उपनिषद् कहता है, आत्मा निकट भी है और दूर भी। निकट तो इसलिए कहता है कि पत्ते कितने ही दूर हों, जड़ के सदा निकट है। जड़ से जुड़े है, नहीं तो हो नही सकते। रस तो जड़ से ही आता है। अगर हम ठीक से समझें तो पत्ता जड़ का ही फैला हुआ हाथ है। एक्सटेंशन—जड ही फैलकर पत्ता बन गयी। कही भी तो बीच में डिसकन्टीन्यूटी (व्यवधान) नहीं पड़ा। कही तो ऐसी जगह नही है, जहाँ आप कह दें, जड़ खत्म हुई और पत्ता शुरू हुआ। सब जुड़ा है। उस कोने पर पत्ता है, इस कोने पर जड है। आपके पैर की अँगुली और आपके सिर के बाल कही भी तो टूटे हुए नही है। जुडे हैं, एक हैं। एक ही चीज के दो छोर हैं। तो जड़ निकटतम है पत्ते से, क्योंकि उसी से तो सारा जीवन मिलता है, सारा रस मिलता है, दूर हो कैसे सकते है ? फिर भी दूर हैं। बहुत दूर हैं। और पत्ते को अगर जड़ को जानना हो तो बड़ी लम्बी यात्रा करनी पड़ेगी। दूर क्यों है ? दूर इसलिए कि पत्ते को पता ही नहीं चलता कि जड़ है भी। सूरज भी पत्ते को पास मालूम पडता होगा। हालाँकि बहुत दूर है सूरज, दस करोड़ मील दूर का फासला है। लेकिन पत्ते को सूरज भी पास मालूम पड़ता होगा। सुबह सूरज निकलता है तो पत्ता नाच उठता है। सूरज का रोज पता चलता है। लेकिन

जड़ का कभी पता नहीं चलता, जो नीचे छिपी है, उसका ही हिस्सा है। इन अर्थों में सूरज पास है बहुत, जड़ बहुत दूर है।

आत्मतत्त्व पास है बहुत, क्योंकि उसके बिना हम हो नहीं सकते। और दूर भी है बहुत, क्योंकि कितने जन्मों से हम उसे खोज रहे हैं, उसका हमें कोई पता नहीं मिलता। कहते हैं, बिलकुल नहीं चलता, फिर भी सारा चलना उस पर ही खड़ा है। कील चलती नहीं, चाक चलता है। फिर भी यात्रा तो कील की भी हो जाती है उतनी ही। निकल पड़े आप गाड़ी पर बैठकर यात्रा करने के लिए। कील बिलकुल नहीं चलेगी, इंचभर नहीं चलेगी, चलेगा चाक। लेकिन जब दस मील बाद आप ठहरेंगे तो कील की भी यात्रा तो दस मील हो चुकी और चली इंचभर भी नहीं। कोएसलर कहेगा, पागलपन है! पर हुआ यही है। अब तथ्य को क्या करें? अरस्तू गलत हो तो हो, तथ्य गलत नहीं होते। कील बिलकुल नहीं चली और फिर भी दस मील की यात्रा हो गयी। क्षणभर भी नहीं चली, हिली भी नही और कितने जन्मों की यात्रा है, कितने पड़ाव और कितनी मंजिलें, कितने दूर निकल आये! इसलिए उपनिषद् का ऋषि कहता है, नहीं चलती, फिर भी बहुत चलती है।

कहता है, भीतर है और फिर भी बाहर है। असल में बाहर और भीतर कामचलाऊ फासले हैं। श्वाँस भीतर जाती है तब आप कहते हैं भीतर जा रही है। आप कह भी नहीं पाते और वह बाहर चली जाती है। कभी आपने ख्याल किया? कहते हैं, श्वाँस भीतर जा रही है—भीतर है। कह भी नहीं पाते, कह भी नहीं पाये, इतना भी समय व्यतीत नही हुआ कि बाहर जा चुकी। और जब तक कहते हैं कि बाहर है तब तक पाते हैं कि वह भीतर प्रवेश करती चली जा रही है। बाहर और भीतर मे फासला क्या है? दिशा का, और कोई फासला नहीं है। रुख, और कोई फासला नहीं है। घर से बाहर आपके जो आकाश है और घर के भीतर जो आकाश है उसमें रत्तीभर का फासला है? कोई फासला नहीं है। दीवाल आपने उठा ली और घेर लिया आकाश का एक टुकड़ा। वह बाहर का ही है। वह वही आकाश है, जो बाहर है। लेकिन फिर भी फासला है। जब धूप तेज हो जाती है तब पता चलता है कि बाहर का आकाश और है, भीतर का आकाश और है। भीतर विश्राम मिल जाता है, बाहर बड़ी पीड़ा हो जाती है। बाहर और भीतर का आकाश एक भी है और अलग भी है। जब रात उसके नीचे सोते हैं तो ज्यादा निश्चिंत होते हैं और बाहर होते हैं तो बड़े चिन्तित हो जाते हैं। इसलिए उपनिषद् कहते हैं वही भीतर है, वही बाहर है। फिर भी जानना है तो भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। जानने के बाद

यह कहा जा सकता है कि वही बाहर है। जानने के पहले यह नहीं कहा जा सकता है कि वही बाहर है। क्योंकि जिन्हें भीतर का ही पता नहीं उन्हें बाहर का कोई पता नही होगा। जिन्होंने अपने घर के ही छोटे से आकाश को नहीं जाना, वे इस बाहर के विराट् आकाश को कैसे जान पायेंगे ? इस छोटे से पहले परिचित हो लें, फिर उस बाहर के विराट् से भी परिचय हो जायगा। जिन्हें जानने निकलना है उन्हें भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। और जो जानने की अन्तिम मजिल पर पहुँच जाते हैं वह बाहर पूरा करते हैं। **प्राथमिक कदम भीतर उठता है, अंतिम कदम तो परम रूप से बाहर चला जाता है।** आत्मा से यात्रा शुरू होती है, परमात्मा पर पूर्ण होती है।

यह बहुत एब्सर्ड, बिलकुल तर्कहीन, असगत दीखने वाला वक्तव्य, बहुत गहन, बहुत सत्य, बहुत तथ्यपूर्ण है। लेकिन तर्क पर ही जो रुक जाते हैं, वे तथ्य तक नहीं पहुँच पाते। तथ्य पर तो केवल वे ही पहुँच पाते हैं जो तर्क भी छोड़ने का साहस रखते है। क्योंकि तथ्य आपके तर्कों को नही मानता। सब तर्क मनुष्य-निर्मित है। तथ्यो को कोई फिक्र नही है उनकी। आपका तर्क कुछ भी कहे, तथ्य जिये चले जायेंगे अपने ढग से। तथ्य अपने ढंग से काम करते चले जाते हैं। उन्हें आपके तर्कों की कोई फिक्र नही है। **इसलिए जब भी तथ्य और तर्क की टक्कर होती है तो तर्क को टूटना पड़ता है।** इसलिए पूरब के मनीषी जब तथ्य पर पहुँचे जीवन के तो उन्होंने तर्क की बात छोड दी। उन्होंने कहा, तर्क से कुछ होगा नही। इसलिए जो तर्क मे बहुत निष्णात हो जाते हैं उनका सत्य से परिचय जरा कठिन होने लगता है, मुश्किल होने लगता है। वह अपने तर्क को ही लिये बैठे रहते है। वह यही कहे चले जाते है कि पानी एक ही साथ ठण्डा और गरम कैसे हो सकता है ? लेकिन है। सर्दी और गर्मी एक कैसे हो सकती है ? कहाँ सर्दी और कहाँ गर्मी ! पर वे एक ही हैं। वह कहे चले जाते है, जन्म और मृत्यु एक कैसे हो सकते हैं—लेकिन हैं। **सत्य के खोजी को तर्क के छोड़ने का साहस करना पड़ता है, जो कि बड़े-से-बड़ा साहस है।**

यह सूत्र तर्कातीत है, बियोण्ड लाजिक है और इसीलिए परम है। इसलिए मैंने कहा कि मनुष्य-जाति के इतिहास में जो परम वचन बोले गये हैं—महावाक्य, उनमे से एक है। अब हम उस तर्कातीत परम तथ्य में प्रवेश करें। इसलिए सोचें न कि नाचने से क्या होगा ! चिल्लाने से क्या होगा ! रोने से क्या होगा ! हँसने से क्या होगा ! सोचे नही। छोडे तर्क और कूद पड़ें। ●

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह इस के कारण हो किसी से घृणा नहीं करता ॥६॥

मनुष्य की गहरी-से-गहरी उलझनों मे घृणा आधारभूत है। कहें कि घृणा का जहर ही मनुष्य की समस्त विषाक्त अभिव्यक्तियों में प्रकट होता है। घृणा का अर्थ है दूसरे के विनाश की आतुरता। प्रेम का अर्थ है—दूसरे के जीवन की आकांक्षा। घृणा का अर्थ है, दूसरे की मृत्यु की आकांक्षा। **प्रेम का अर्थ है जरूरत पड़े तो दूसरे के लिए स्वयं को समाप्त कर देने की तैयारी।** घृणा का अर्थ है, जरूरत न भी पड़े तो भी स्वयं के लिए दूसरे को समाप्त कर देने की तैयारी। और हम सब जैसे जीते हैं उसमे प्रेम का कोई स्वर नहीं होता, घृणा का ही विस्तार होता है। **वस्तुतः तो जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी हमारी घृणा का ही एक रूप होता है।** हम प्रेम में भी दूसरे को साधन बना लेते हैं। और जब भी कोई दूसरे को साधन बनाता है तभी घृणा शुरू हो जाती है। हम प्रेम मे भी अपने लिए जीते हैं। और अगर दूसरे के लिए कुछ करते हुए मालूम भी पड़ते हैं तो सिर्फ इसलिए कि उससे हमें कुछ मिलने को है। दूसरे के लिए हम कुछ करते हैं तभी, जब उससे कुछ मिलने की आशा—फल की आकांक्षा होती है। अन्यथा हम नहीं करते। इसीलिए हमारा प्रेम किसी भी क्षण घृणा बन सकता है। बन जाता है। घड़ी-भर पहले जिसे हमने प्रेम किया था, घड़ीभर बाद वही प्रेम घृणा बन सकता है। जरा-सी हमारी आकांक्षा में बाधा पड़ी कि प्रेम घृणा में रूपान्तरित हुआ। और जो प्रेम घृणा में बदल सकता है, जानना कि वह घृणा का ही छिपा हुआ रूप है। भीतर घृणा ही है, ऊपर आवरण है प्रेम का।

ईशावास्य बहुत बहुमूल्य सूत्र की बात कर रहा है। और तभी प्रेम सम्भव है, अन्यथा प्रेम सम्भव नहीं है। तभी प्रेम का फूल खिल सकता है। इस सूत्र

के अतिरिक्त प्रेम के फूल की कोई सम्भावना नहीं है। वह सूत्र यह है कि **जब कोई व्यक्ति समस्त भूतों में स्वयं को देखने लगता है और स्वयं में समस्त भूतों को देखने लगता है तभी घृणा का अन्त होता है।** ध्यान रहे, ईशावास्य यह नहीं कहता कि तभी प्रेम का जन्म होता है। कहता है, तभी घृणा का अन्त होता है। ऐसा कहने का बहुत सुविचारित कारण है। यह बहुत मजे की बात है कि प्रेम के जन्म में सिवाय घृणा की मौजूदगी के और कोई बाधा नहीं है। घृणा न हो तो प्रेम खिलता है—अपने-आप—स्पोंटेनियस—सहज। उसे खिलाने के लिए फिर और कुछ करना नहीं पडता। ठीक ऐसे ही जैसे किसी झरने के ऊपर एक पत्थर रखा हो और हम पत्थर को हटा लें और झरना फूट पड़े। ऐसे ही घृणा का पत्थर हमारे ऊपर है। घृणा के पत्थर के कारण न तो समस्त भूत हमारे लिए दर्पण बन पाते हैं कि हम अपने चेहरे को उनमे देखें। और न ही हम दर्पण बन पाते हैं कि समस्त भूतो का चेहरा हममे प्रतिफलित हो जाय। ये दोनों घटनाएँ एक साथ घटती हैं। जो व्यक्ति समस्त भूतों मे, समस्त प्राणियों में, समस्त अस्तित्व मे अपने को देख लेगा वह प्राणी अनिवार्यत: सबको अपने में ही देख पायेगा। **जिसके लिए जगत् दर्पण बन जायगा वह स्वयं भी जगत् के लिए दर्पण बन जाता है।** यह घटना एक ही साथ घटती है! एक ही घटना के दो पहलू हैं वे। और उपनिषद् कहता है कि ऐसा होते हुए घृणा गिर जाती है।

फिर क्या पैदा होता है? अब प्रेम पैदा होता है, ऐसा उपनिषद् ने नहीं कहा है। क्योंकि प्रेम शाश्वत है, वह हमारा स्वभाव है। वह न तो पैदा होता है, न मरता है। जैसे, वर्षा के दिन हैं और आकाश में बादल घिर गये हैं। सूरज ढँक गया। तो क्या हम यह कहेंगे कि जब बादल हट जायेंगे तो सूरज पैदा होगा? नहीं, तब हम इतना ही कहेंगे कि बादल हट जायेंगे तो सूरज, जो सदा था, प्रकट होगा। बादल जब आ गये हैं तब भी सूरज नष्ट नहीं हो गया है, सिर्फ दब गया, आच्छादित हो गया। दिखायी नहीं पड़ता, छिप गया, आड़ मे हो गया। बादल हट जायेंगे, सूरज प्रकट हो जायगा। **बादलों का जन्म होता है और बादलों की मृत्यु होती है—सूरज सदा है।** उसका न कोई जन्म होता है, न मृत्यु होती है। **प्रेम जीवन का स्वभाव है, इसलिए प्रेम का कोई जन्म नहीं है, कोई मृत्यु नहीं है।** घृणा के बादल जन्मते हैं और मरते हैं। जन्म जाते हैं तो प्रेम आच्छादित हो जाता है। विसर्जित हो जाते है, मर जाते हैं तो प्रेम प्रकट हो जाता है। लेकिन प्रेम शाश्वत है। इसलिए प्रेम के जन्मने की बात उपनिषद् नहीं कर रहा है। उपनिषद् कह रहा है, बस, घृणा मर जाती है, घृणा गिर जाती है।

पर कैसे? सूत्र जो सरल दिखायी पड़ता है, इतना सरल नहीं है। बहुत बार

जो चीजें बहुत कठिन दिखायी पड़ती हैं, वे कठिन नहीं होती हैं। बहुत बार, जो चीजें बहुत सरल दिखायी पड़ती हैं, सरल नहीं होती हैं। अधिकांशत: तो सरल के भीतर बहुत गहराई होती है और बहुत जटिलता होती है। लगता है, यह सूत्र सीधा-सा है। दो पंक्तियों में पूरा हो गया है कि जिसे समस्त भूतों में स्वयं का दर्शन हो जाय, या समस्त भूतों का दर्शन स्वयं में होने लगे, उसकी घृणा नष्ट हो जाती है। लेकिन सबको दर्पण बना लेना या सबके लिए स्वयं दर्पण बन जाना, सबसे बड़ी कीमिया और कला है। उससे बड़ा कोई आर्ट नहीं।

सुनी है मैंने एक छोटी-सी कहानी—वह मैं आपसे कहूँ। सुना है मैंने कि एक ईरानी बादशाह के दरबार में एक चीनी चित्रकार ने निवेदन किया कि मैं चीन से आया हूँ। बहुत बड़ी कला का धनी हूँ। चित्र बना सकता हूँ ऐसे, जैसे कि आपने कभी न देखे हों। सम्राट् ने कहा, जरूर बनाओ। लेकिन हमारे दरबार में चित्रकारों की कमी नहीं है और बहुत अनूठे चित्र मैंने देखे हैं। तो उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मैं प्रतियोगिता के लिए भी तैयार हूँ। जो श्रेष्ठतम कलाकार था सम्राट् के दरबार का, वह प्रतियोगिता के लिए चुना गया। और सम्राट् ने कहा कि पूरी शक्ति लगाना है, यह साम्राज्य की प्रतिष्ठा का सवाल है। एक परदेशी तुम्हें हरा न जाय। छह महीने का उन्हें समय मिला था। ईरानी चित्रकार बड़ी मेहनत में लग गया। दस-बीस सहयोगियों को लेकर उसने एक भवन की पूरी दीवाल को चित्रों से भर डाला। उसकी मेहनत की खबर दूर-दूर तक पहुँच गयी। लोग दूर-दूर से उसकी मेहनत को देखने आने लगे। लेकिन उससे भी ज्यादा चमत्कार की बात तो यह थी कि उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मुझे किसी उपकरण की जरूरत नहीं। और न रंगों की कोई जरूरत है। सिर्फ मेरा इतना ही आग्रह है कि जब तक चित्र पूरा न बन जाय तब तक मेरी दीवाल के सामने से पर्दा न उठाया जाये। वह रोज अपने पर्दे के पीछे चला जाता। साँझ को थका-माँदा लौटता, माथे पर पसीने की बूँदें होती। लेकिन बड़ी कठिनाई और बड़ी हैरानी और बड़ी अचंभे की बात यह थी कि न तो तूलिका ले जाता, न रंग ले जाता पर्दे के पीछे। उसके हाथों में रंग के कोई निशान न होते। उसके कपड़ों पर रंग के कोई दाग न होते। उसके हाथ में कोई तूलिका न होती। सम्राट् को शक होने लगा कि वह पागल तो नहीं है! क्योंकि प्रतियोगिता होगी कैसे? लेकिन छह महीने प्रतीक्षा करनी जरूरी थी। शर्त पूरी करनी जरूरी थी। छह महीने बड़ी मुश्किल से कटे। दूर-दूर तक ईरानी चित्रकार के चित्रों की खबर पहुँची। साथ में यह खबर भी पहुँची कि एक पागल प्रतियोगी भी है, जो बिना किसी रंग के प्रतियोगिता कर रहा है। छह महीने लोगों ने ऐसी आतुरता से प्रतीक्षा की कि जिसका कोई हिसाब नहीं।

छह् महीने बाद पर्दा उठने को था। सम्राट् गया। ईरानी चित्रकार के चित्र देखकर वह दंग हो गया। बहुत चित्र उसने जीवन में देखे थे। लेकिन नहीं—ऐसा श्रम शायद ही कभी किया गया हो। फिर उसने चीनी चित्रकार से कहा। चीनी चित्रकार ने अपनी दीवाल के सामने का पर्दा हटा दिया। सम्राट् तो बहुत हैरान हो गया। ठीक वही चित्र ! जो ईरानी चित्रकार ने बनाया था वही चित्र चीनी चित्रकार ने भी बनाया था। पर एक और खूबी थी कि वह चित्र दीवाल के ऊपर नहीं, दीवाल के भीतर बीस फीट अन्दर दिखायी पड़ता था। सम्राट् ने पूछा; तुमने यह किया क्या ! क्या जादू है ?

उसने कहा, मैंने कुछ किया नहीं। मैं सिर्फ दर्पण बनाने में कुशल हूँ। तो मैंने दीवाल को दर्पण बनाया। छह् महीने दीवार घिस-घिस कर मैंने दर्पण बनाया। और जो चित्र आप देख रहे हैं दीवाल में वह तो ईरानी चित्रकार का ही है सामने की दीवाल पर। मैंने सिर्फ दीवाल दर्पण बनायी।

जीत गया वह प्रतियोगिता। क्योंकि दर्पण मे झलक कर वही ईरानी चित्र इतना गहरा हो उठा, जैसा वह खुद स्वय मे नही था। क्योंकि ईरानी चित्र तो दीवाल के ऊपर था। दर्पण मे जाकर वह भीतर गहरे हो गया। डेप्थ—थ्री डायमेंशनल हो गया। ईरानी चित्र तो टू डायमेशन मे था—दो आयाम मे था। उसमे गहराई न थी। चीनी चित्रकार का चित्र तीन डायमेशन मे हो गया, उसमे गहराई भी थी। सम्राट् ने कहा : तुमने पहले क्यो नही कहा कि तुम सिर्फ दर्पण बनाना जानते हो। उस चीनी चित्रकार ने कहा : मै कोई चित्रकार नही हूँ, फकीर हूँ। सम्राट् ने कहा, और मजे की बात है। पहले तुमने यह न बताया कि तुम दर्पण बनाते हो, अब तुम बताते हो कि तुम फकीर हो। फकीर को दर्पण बनाने से क्या प्रयोजन ? उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मैने अपने को दर्पण बना कर जो चित्र देखा जगत् का, तब से मै दर्पण ही बनाता हूँ। जैसे इस दीवाल को घिस-घिस कर मैंने दर्पण कर दिया है ऐसे ही मैंने अपने को भी घिस-घिस कर दर्पण कर लिया। और मैंने इस जगत् की जो सुन्दर प्रतिमा देखी है, वैसी बाहर कहीं भी नही है। जिस दिन मैं दर्पण बन गया उस दिन मैने सारे जगत् को अपने में समाया हुआ देखा और जाना। सब भूत मेरे भीतर समा गये।

जिस दिन हमारा हृदय दर्पण की तरह बनता है उस दिन हम प्रभु को देख पाते हैं। समग्रीभूत अपने ही भीतर। और जिस दिन हम यह देख पाते है, उस दिन सारा जगत् भी दर्पण बन जाता है। फिर हम अपने को भी प्रतिपल सब जगह देख पाते है। लेकिन जगत् को दर्पण नही बनाया जा सकता। बनाया तो जा सकता है दर्पण स्वयं को ही। इसलिए यात्री—साधना का यात्री अपने को ही

दर्पण बनाने से शुरू करता है। अपने को दर्पण बनाने की कीमिया और कला—तीन बातें समझ लेनी चाहिए—एक, शायद दर्पण बनाना कहना ठीक नहीं है, दर्पण हम हैं, बस धूल से दबे हुए हैं। सब धूल झाड़नी-पोंछनी और साफ कर देनी है। दर्पण पर धूल जम जाय तो धूल से भरा दर्पण दर्पण नहीं रह जाता। फिर वह किसी चीज को प्रतिफलित नहीं करता। उसका प्रतिफलन मर जाता है। धूल से दब जाता है। हम भी धूल से दबे हुए दर्पण हैं। धूल भी हमारी अर्जित की हुई है। राह चलते, जैसे धूल इकट्ठी हो जाय दर्पण पर, ऐसे ही जीवन चलते, राह चलते जीवन की, अनन्त-अनन्त जीवन में यात्रा करते, न मालूम कितने-कितने मार्गों पर, न मालूम कितने कर्मों और कर्ताओं के होने की वासना में, न मालूम कितनी धूल हम इकट्ठी कर लेते हैं। कर्म की धूल है, कर्ता की धूल है, अहंता की धूल है। विचारों की, वासनाओं की, वृत्तियों की धूल है। एक बड़ी गहरी धूल की पर्त हमारे ऊपर है। उसे हटा देने की बात है। वह हट जाय तो हम दर्पण हैं। और जो स्वयं दर्पण है उसके लिए सब दर्पण जैसा हो जाता है। क्यों? क्योंकि एक और गहरा सूत्र ख्याल में ले लेना चाहिए कि जो हम हैं, वही हमें चारों तरफ दिखायी पड़ता है। हम वही देखते हैं, जो हैं, उससे अन्यथा कभी भी नहीं देखते। जो हमें बाहर दिखायी पड़ता है वह हमारा ही प्रक्षेपण (Projection) है। वह हम ही हैं। वह हमारी ही शक्ल है। इसलिए अगर बाहर बुरा दिखायी पड़ता है तो जानना कि कहीं भीतर बुरे का बीज है। बाहर अगर कुरूपता दिखायी पड़ती है तो जानना कोई अग्लीनेस, कोई कुरूपता भीतर जड़ जमा कर बैठी है। बाहर अगर बेईमानी दिखायी पड़ती है तो जानना कि बेईमान कहीं भीतर है। प्रोजेक्टर भीतर है, बाहर तो पर्दा है मात्र। उस पर हम प्रोजेक्ट करते चले जाते हैं। जो हमारे भीतर है उसे हम पर्दे पर फैलाये चले जाते हैं। अगर बाहर परमात्मा दिखायी नहीं पड़ता तो उसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि भीतर हमारे परमात्मा जैसा हमें कुछ भी अनुभव नहीं होता। जिसे भीतर परमात्मा अनुभव होता है, उसी क्षण उसे सब चीजों में परमात्मा अनुभव होने लगता है। फिर कोई उपाय नहीं है। फिर उसे पत्थर में भी परमात्मा है। अभी तो हमें परमात्मा में भी पत्थर ही दिखायी पड़ता है। मेटीरियलिस्ट जिसे हम कहते हैं, पदार्थवादी जिसे कहते हैं, उसका कोई और मतलब नहीं है मेरे लिए—जिसके भीतर हृदय में पत्थर है वह मेटीरियलिस्ट है। जिसका भीतर हृदय पत्थर जैसा है उसे सारे जगत् में पदार्थ दिखायी पड़ता है। जिसको अध्यात्मवादी हम कहें, मेरे लिए वह वही आदमी है जिसके भीतर हृदय पत्थर जैसा नहीं है। वह हृदय जैसा ही है—धड़कता हुआ, जीवन्त, प्राणवान्। वैज्ञानिक कहेगा, हमारे भीतर जो हृदय

धड़क रहा है, वहाँ हृदय जैसा कुछ भी नहीं है। फेफड़ा है—फुफ्फुस। वह सिस्टम से ज्यादा कुछ भी नहीं है। जिस हृदय की हम बात करते हैं, वैज्ञानिक कहेगा, हम बहुत काट-पीट कर देखते हैं, लेकिन वहाँ हम सिर्फ एक पाते हैं सिस्टम, जो वायु के दबाव को डाल कर खून को शरीर में चलाती है। इससे ज्यादा वहाँ कुछ भी नहीं है। अगर यह सच है तो फिर बाहर के जगत् में कभी भी जीवन और चेतना का कोई अनुभव नहीं हो सकेगा। अगर भीतर से खून के दबाव को डालने वाला हृदय एक यन्त्र है तो बाहर भी एक यान्त्रिक विस्तार होगा—बस। जगत् एक यान्त्रिकता होगी। पदार्थ होगा। पत्थर ही रह जायेंगे बाहर।

नहीं, लेकिन भीतर जाने के और भी उपाय हैं। वैज्ञानिक का उपाय अकेला उपाय होता तो बड़ी मुश्किल हो जाती। फिर वैज्ञानिक जीत गया होता। वह जीत नहीं सकता। उसकी हार सुनिश्चित है। देर-अबेर हो सकती है। क्योंकि भीतर जाने के और उपाय भी हैं। जैसे कि कोई वीणा को बजाये, लेकिन वीणा को जानने का एक और उपाय भी है कि वीणा को तोड़-फोड़ कर कोई भीतर देखे। सब तार उखाड़ दे, वीणा को तोड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दे और फिर भीतर झांके और कहे कि संगीत बिलकुल नहीं है! कौन कहता है कि संगीत है! यह वीणा सामने रखी है—खण्ड-खण्ड, विश्लिष्ट। कहीं उसमें कोई संगीत नहीं है। अगर यह एक ही रास्ता होता वीणा को जानने का तो संगीतज्ञ हार चुका था। लेकिन वीणा को जानने का एक और भी रास्ता है। निश्चित ही वह कठिन है। क्योंकि वीणा को तोड़ना बहुत आसान है, वीणा को बजाना बहुत कठिन है। और बजाकर ही वीणा के हृदय में जो छिपा है, वह जाना जाता है। निश्चित ही वह इतना सूक्ष्म है कि पकड़ में नहीं आता। और कान अगर बहरे हों तो फिर बिलकुल भी पकड़ में नहीं आता। और हृदय की समझ अगर न हो, सिर्फ बुद्धि ही की समझ हो तो फिर सुनायी भी पड़ जाय तो भी समझ में नहीं आता। जो सोचते हों कि संगीत उन्हें समझ में आ जाता है, जो सुन लेते हैं, तो वे गलती में हैं। सुनने से सिर्फ ध्वनियाँ भर समझ में आती हैं—आवाज, शोरगुल। संगीत सुनने से कुछ ज्यादा है। उस सुनने में कुछ और भी जोड़ना पड़ता है। हृदय भी डालना पड़ता है, तब ध्वनियाँ संगीत बनती हैं। नहीं तो सिर्फ शोरगुल रह जाता है। आवाजें रह जाती हैं।

हृदय को भी जानने का अगर एक ही रास्ता होता—काट-पीट कर, जैसा सर्जन जानता है, अपनी ऑपरेशन थियेटर की टेबल पर—अगर वही एक रास्ता होता तब तो ठीक था, लेकिन और भी एक रास्ता है। धार्मिक भी जानता है, संत भी जानता है। उसने हृदय को बजा कर जाना है, तोड़ कर नहीं। उसने हृदय

में संगीत को पैदा करके जाना है। तो वह कहता है—भीतर तुम किस फुप्फुस, किस फेफड़े की बात कर रहे हो ! तुम वैसे ही नासमझ और पागल हो जैसे कि कोई बिजली के बल्ब को तोड़ ले, काँच के टुकड़ों को घर ले जाय और कहे कि यह रोशनी है। माना कि रोशनी इससे प्रकट होती थी, लेकिन काँच के टुकड़े, जो घर ले गये हैं आप बीन कर, वह रोशनी नहीं हैं, न थे। और यह भी सच है कि उन काँच के टुकड़ों को तोड़ देने पर रोशनी विलीन हो गयी है। इसलिए तर्क ठीक मालूम पड़ता है कि जब तोड़ दिया हमने बल्ब तो रोशनी खत्म हो गयी, तो निश्चित ही बल्ब ही रोशनी था। नहीं तो तोड़ने से रोशनी को खत्म नहीं होना था। जो टुकड़े हम घर ले आये हैं यही रोशनी है कुल जमा। सच है यह भी कि बल्ब टूट जाय तो रोशनी विलीन हो जाती है। मिटती नही, सिर्फ विलीन हो जाती है, अप्रकट हो जाती है। प्रकट होने का माध्यम टूट जाता है। अगर फेफड़े को हम तोड़ डालें तो हृदय के प्रकट होने का माध्यम टूट जाता है। बल्ब टूट जाता है। फिर हृदय नहीं मिलता, जैसे कि बल्ब तोड़कर फिर रोशनी नहीं मिलती। हृदय पीछे छिप जाता है। फेफड़ा सिर्फ हृदय को प्रकट करता है। लेकिन हममें से बहुत कम लोग हैं, जिन्होंने हृदय को जाना है। फेफड़े को ही हम जानते हैं जहाँ हवा चलती है। वायु का एक स्पंदन होता है, प्राण सचालित होते हैं। उस यान्त्रिक व्यवस्था को ही हमने जाना है इसीलिए बाहर भी यन्त्र का ही विस्तार मालूम होता है।

भीतर जिस दिन हम जानेंगे चैतन्य को, उस दिन बाहर भी चैतन्य का विस्तार हो जाता है। भीतर हम बनेंगे दर्पण तो बाहर भी सारा जगत् दर्पण है। पत्थर के पास खड़े होंगे तो भी स्वयं को पत्थर में देख पायेंगे। तब पत्थर को भी इस कठोरता से न देखेंगे जैसे अभी आदमी को देखते हैं। तब पत्थर पर भी हाथ ऐसे रखेंगे जैसे किसी ने अपने प्रेमी को छुआ हो। क्योंकि तब पत्थर पत्थर नहीं है, परमात्मा ही है। तब जमीन पर पैर भी ऐसे रखेंगे—सम्हल के, विवेक से, होश-पूर्वक। वहाँ भी जीवन छिपा है। वहाँ भी जीवन का विस्तार है। वहाँ भी जीवन स्पंदित है। वहाँ भी कोई नाच रहा है। अलग-अलग आयामों में, अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग दिशाओं में जीवन का नृत्य है। हम अकेले ही जीवन के मालिक नहीं हैं। हम नहीं होंगे तो भी जीवन होगा। अनन्त हैं उसके रूप। हम भी एक रूप हैं—अनन्त में एक। एक छोटी-सी हमारी भी दिशा है। लेकिन हमें अपने भीतर के ही जीवन की दिशा का कोई परिचय नहीं है।

दर्पण कैसे बनें ? दर्पण बनने के लिए ऊपर जमी धूल को हटाना पड़ेगा, फेंकना पड़ेगा। न केवल हटाना पड़े, बल्कि नया संग्रह भी रोकना पड़े। इधर

धूल पोंछते चले आयें और धूल इकट्ठा करने की जो व्यवस्था है, वह जारी रहे तो भी दर्पण नहीं बनेगा। दोहरे काम करने पड़ेंगे। पुरानी धूल को, अर्जित धूल को हटा देना पड़ेगा और नयी धूल को अर्जित करना बन्द कर देना पड़ेगा। पुरानी धूल अर्जित हुई है स्मृतियों में, और नयी धूल अर्जित होती है वासना में। पुरानी धूल टिकती है स्मृति में और नयी धूल आती है वासना में। दोहरे काम करने पड़ेंगे। स्मृति से मुक्त होना पड़ेगा। वासना से भी मुक्त होना पड़ेगा। वासना को कहना पड़ेगा, नहीं पाना है कुछ आगे। कोई आगे की यात्रा नहीं है। और स्मृति से कहना पड़ेगा, पीछे जो हुआ था, वह स्वप्न था, अब व्यर्थ इस बोझ को न ढोओ। लेकिन हम सब ढोते हैं स्मृति के बोझ को। हम कुछ भूलते ही नहीं, सब सम्हाल कर चलते हैं। सब पकड़ कर रखते हैं। कचरे को इकट्ठा करते हैं और लगाकर रखते हैं छाती के साथ। जन्मों-जन्मों का कचरा इकट्ठा है। स्मृति को विदा करना पड़ेगा। कहना पड़ेगा; वह जो बीत गया, बीत गया, अब मैं वह नहीं हूँ। बीते कल से अपने को तोड़ लेना पड़ेगा। अतीत से छूट जाना होगा, और भविष्य से भी। बस—यही दो और चित्त दर्पण हो जायगा। मैं जिसको संन्यास कहता हूँ, ऐसे ही व्यक्ति को संन्यासी कहता हूँ, जो कहता है कि अतीत से मैं अपने को तोड़ता हूँ। अब मैं वही नहीं रहूँगा जो मैं कल तक था। वह आइडेन्टिटी समाप्त करता हूँ। इसलिए नाम परिवर्तन करते हैं। नाम परिवर्तन सांकेतिक है, सूचक है इस बात का कि वह जो पुराना नाम था, वह जो पुराना 'मैं' था, अब नही रहूँगा। अब उससे छुटकारा करता हूँ। अब वह स्मृतियाँ, वह सारा जाल अतीत का उस पुराने नाम के साथ दफना देता हूँ। अब मैं नया आदमी होता हूँ। मैं अ-ब-स से यात्रा शुरू करता हूँ। नया होता हूँ आज से और अब आज से कभी भी पुराना नहीं होऊँगा इस बात का संकल्प संन्यास है।

ध्यान रहे, कल से छूटा जा सकता है लेकिन कल अगर फिर पुरानी आदत जारी रखी तो कल फिर पुराने पड़ जायेंगे। नाम कितनी देर नया रहेगा, क्षण भर भी तो नया नही रहेगा। पुराने से टूट कर अगर मैंने पुरानी आदत जारी रखी तो मैं नये नाम के आस-पास फिर स्मृतियाँ इकट्ठी कर लूंगा। कल फिर वही बोझ खड़ा हो जायगा, दर्पण फिर दब जायगा। इसलिए संन्यास दोहरा संकल्प है। अतीत से छुटकारा, कि अब मैं वह नहीं हूँ जो कल था। तोड़ता हूँ उस सातत्य को। जानता हूँ, अब मैं नया आदमी हूँ। न अब वह मेरा नाम है, न अब वे मेरे पिता हैं, न अब वह मेरा वंश है। नहीं, अब वह अतीत मेरा कुछ भी नही। मैं आज से फिर से शुरू होता हूँ—रीबार्न।

मेकोडेनियस नाम का एक युवक गया जीसस के पास। और उसने कहा कि

मैं क्या करूँ कि तुम जिस आनन्द की बात करते हो वह मुझे भी मिल जाय । तो जीसस ने कहा : 'यू विल हैव टु बी बार्न अगेन—तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा । मैकोडैनियस ने कहा, यह कैसे हो सकता है ? यह आप कैसी बात करते हैं ? हो कैसे सकता है ? जन्म तो मैं ले चुका । अब जवान भी हो चुका, अब फिर से जन्म कैसे ले सकता हूँ ? जीसस ने कहा कि तुम समझे नहीं । वह जन्म तुमने कभी लिया ही नहीं था । मैं तुमसे कहता हूँ, तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा । तुम्हें नया आदमी होना पड़ेगा । तुम्हें अपने पुराने, वह जो सम्बन्धों का स्मृति-जाल है, उससे छुटकारा पाना पड़ेगा ।

इस मुल्क में, हम अपने मुल्क में, उस आदमी को द्विज (Twice Born) कहते थे । द्विज का मतलब यह नहीं था कि जनेऊ डाल दिया तो वह द्विज हो गया । द्विज का अर्थ है दुबारा जन्मा—ट्वाइस बार्न—जिसका दूसरा जन्म हुआ । संन्यास के पहले कोई भी द्विज नहीं हो सकता । जनेऊ डालने से कोई द्विज नहीं हो सकता । ब्राह्मण होने से कोई द्विज नहीं हो सकता । द्विज का मतलब है, जिसने दूसरा जन्म लिया । एक जन्म तो वह है, जो माँ-बाप दे देते हैं और एक जन्म वह है, जो स्वयं के संकल्प से होता है । यह दोहरी प्रक्रिया है । अतीत से तोड़ता हूँ अपने को और उस पुरानी व्यवस्था को भी तोड़ता हूँ, जिससे मैं रोज-रोज पुराना पड़ जाता था । अब मैं रोज-रोज नया ही रहूँगा । अब मेरे दर्पण पर कोई धूल नहीं जमेगी । अब यह नाम ताजा और ताजा ही रहेगा । अब इसके साथ मैं कोई स्मृति न जोड़ूँगा । अब मैं कभी नहीं कहूँगा कि मैंने यह किया और मैंने यह नहीं किया । अब मैं कभी न कहूँगा कि मैं कर्ता हुआ । अब मैं कभी न कहूँगा कि मकान मेरा है, कि धन मेरा है, कि सम्पत्ति मेरी है । ध्यान रहे, संन्यासी का यह अर्थ नहीं है कि मकान छोड़कर चला जाय और आश्रम को कहने लगे कि मेरा है । संन्यासी का मतलब है कि वह मेरा कहना बन्द कर दे । वह कहाँ रहता है, इससे कोई प्रयोजन नही है । वह दूकान में बैठा रहे, बस मेरी दूकान न रह जाय । फिर बात पूरी हो गयी । लेकिन दूकान छोड़ने की आदत है हमें, छोड़ सकते हैं । फिर जाकर आश्रम में वही पुरानी आदत काम करती है, कहती है मेरा आश्रम । उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता । नाम बदलना बेकार हो गया । वैसा ही बेकार हो गया जैसा कि अक्सर हम देखते हैं । हाथी स्नान कर लेता है और स्नान करके बाहर निकल कर धूल फेंक लेता है ऊपर । इससे कोई प्रयोजन हल नहीं होता । व्यर्थ श्रम हो जाता है ।

उपनिषद् का यह सूत्र कह रहा है कि दर्पण बन जाओ । सम्यक् चित्त दर्पण है । जिसने कहा कि न कोई मेरा अतीत है अब, न मेरा कोई भविष्य है । अभी

और यहाँ—हियर एण्ड नाउ—बस, इसी क्षण में मैं हूँ। यह क्षण ही मेरा होना है। और जिसने ऐसा जाना वह तत्काल दर्पण बन जाता है। और जब सब भूतों की प्रतिकृति अपने दर्पण में बनने लगती है तो फिर कैसी घृणा ? और जब स्वयं की प्रतिकृति सब भूतों में बनने लगती है तो फिर कैसी घृणा ? घृणा खो जाती है। घृणा का धुआँ विलीन हो जाता है। धुएँ के बादल विदा हो जाते हैं। और तब जो प्रकट होता है सूर्य, वह प्रेम है। ध्यान रहे, घृणा के रहते हुए जिस प्रेम को करते हैं, करते चले जाते हैं, वह घृणा का ही रूप होता है। घृणा के मूल रूप के विदा हो जाने पर, आधारभूत विदा हो जाने पर जिसका जन्म होता है, वही प्रेम है। सिर्फ संन्यासी ही प्रेम कर सकता है। सिर्फ आत्मा से ही प्रेम की धारा बहती है। शरीर से तो घृणा ही बहेगी। मन से तो घृणा ही बहेगी। मेरे-तेरे के भाव से तो घृणा ही बहेगी। साधक के लिए दर्पण की यह कला ठीक से ख्याल में ले लेनी चाहिए। और जितनी शीघ्रता से हो सके उतनी शीघ्रता से वर्तमान के क्षण को ही अस्तित्व बना लेना चाहिए। अतीत से छुटकारा, भविष्य से भी छुटकारा। स्मृति से मुक्ति, वासना से भी मुक्ति। फिर पिछली धूल भी चली जायेगी और आगे धूल आने का उपाय भी नहीं रह जायेगा।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखने वाले को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ॥७॥

जाना जिसने स्वयं को सर्व भूतों में। या जाना जिसने स्वयं में सर्व भूतों को, उस विद्वान् पुरुष को, उस ज्ञानी व्यक्ति को कैसा शोक? कैसा मोह? तीन-चार बातें इस सूत्र में समझ लेनी चाहिए। एक तो, उपनिषद् किसे विद्वान् कहते हैं? विद्वान् उसी मूल शब्द से निर्मित होता है जिससे वेद। वेद का अर्थ होता है—जानना। विद्वान् का अर्थ है जो जानता है। क्या जानता है? कोई गणित जानता है, कोई केमिस्ट्री जानता है, कोई फिजिक्स जानता है। हजार जानने की चीजें हैं। हजार बातें लोग जानते हैं। कोई धर्मशास्त्र भी जानता है। कोई, सन्तों ने जो-जो रहस्य की बातें कही हैं, वह उनसे परिचित है। लेकिन उपनिषद् उसे विद्वान् नहीं कहते। बहुत अद्भुत और मजे की बात है। उपनिषद् सूचनाओं के संग्रह को जानना नहीं कहते। उपनिषद् तो सिर्फ एक ही तत्त्व को जानने वाले को विद्वान् कहते हैं, जो स्वयं को जानता है। क्योंकि जो स्वयं को जान लेता है वह सर्व को जान लेता है।

स्वयं को जानता है तो दर्पण बन जाता है। दर्पण बनता है तो सबकी प्रतिच्छवि बनने लगती है। लेकिन सर्व को जान लेता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसने स्वयं को जान लिया, वह बड़ा गणितज्ञ हो जायगा स्वयं को जानने से। कि स्वयं को जानने से वह बहुत बड़ा रसायनविद् हो जायेगा। कि स्वयं को जान लेने से वह कोई बहुत बड़ा वैज्ञानिक हो जायेगा। नहीं, यह अर्थ नहीं है। स्वयं को जान लेने से वह सर्व को जान लेता है, इसका अर्थ यही है सिर्फ कि जैसे ही वह स्वयं को जानता है, सबके भीतर जो छिपा है, गहनतम, गूढ़तम, पवित्रतम,—दी आकल्ट, वह जो सबके भीतर छिपा है रहस्य, उसे जान लेता है। वह उस सूत्र

को जान लेता है जिसका सब खेल है। उस नियति को जान लेता है जिसका सब फैलाव है। उस नियन्ता को जान लेता है जो सबके भीतर है। सब गुड्डे और गुड्डियों के पीछे, जिसके हाथ में सबके धागे हैं उसे जान लेता है।

वह कोई विशेषज्ञ नहीं होता, कोई एक्सपर्ट नहीं होता। उसका कोई स्पेशलाइजेशन नहीं है। वह बिलकुल ही विशेषज्ञ नहीं है। अगर कोई एक चीज आप उससे पूछने जायें तो वह बिलकुल नहीं जानता। वह तो, समस्त के भीतर जो सारभूत है, उसे जान लेता है—दी एसेंसियल। वह पत्ते-पत्ते को नहीं जानता, वह तो जड़ को पकड़ लेता है। वह तो, जो गहरा प्राण है, महाप्राण है, उसे जान लेता है। और उसे जानते ही वह समस्त शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। वह लक्षण है—वह विद्वान् का लक्षण है। विद्वान् का लक्षण बड़ा अजीब है। वह यह नहीं है कि आप उससे सवाल पूछें तो वह जवाब दे सके। वह यह नहीं है कि कोई समस्या खड़ी हो जाय तो वह उसका समाधान कर सके। वह यह है कि वह शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। कोई कितना ही बड़ा गणितज्ञ हो जाय, शोक और मोह से मुक्त नहीं हो पाता। और कोई कितना ही मनसविद् हो जाय—फ्रायड जैसे मनसविद् पृथ्वी पर कम ही हुए हैं—इतना मन के सम्बन्ध में जानकर भी फ्रायड का मन ठीक वैसा ही है, जैसा किसी साधारण जन का। उसमें कोई फर्क नहीं है, उसमें रत्ती भर की कोई क्रान्ति नहीं है। वह उसी तरह चिन्ता से चिन्तातुर होता है। उसी तरह भय से भयभीत होता है। उसी तरह क्रोध से जलता है। उसी तरह से ईर्ष्या से भरता है। उसी तरह मोह, उसी तरह शोक। और मजा यह है कि भय के सम्बन्ध में वह बहुत जानता है। ईर्ष्या के सम्बन्ध में बहुत जानता है, जितना शायद मनुष्य-जाति में किसी दूसरे आदमी ने नहीं जाना। वह काम-वासना के सम्बन्ध मे बहुत जानता है। लेकिन बूढ़े होकर भी काम-वासना वैसे ही मन को आन्दोलित कर जाती है, जैसे किसी और को।

उपनिषद् इसको विद्वान् नहीं कहते। वह तो इसको विद्या भी नही कहेंगे। वह तो कहेंगे, यह सूचनाओं का संग्रह है। विशेषज्ञ है यह आदमी—जो-जो भय के सम्बन्ध में जाना गया है, यह जानता है। ही नोज अबाउट द फियर—नाट दी फियर इट-सेल्फ। भय के सम्बन्ध में जो-जो कहा गया है वह जानता है—भय को नही जानता। भय को जान लेता तो भय से मुक्त हो जाता। एक धर्मशास्त्री धर्म के सम्बन्ध में सब जानता है। धर्म को नहीं। क्या कहते हैं वेद, क्या कहते हैं उपनिषद्, क्या कहती है गीता, क्या कहती है कुरान, बाइबिल—सब जानता है। जो कहा गया है, वह जानता है। लेकिन जिसके लिए कहा गया है, जिस भाँति कहा गया है, जो जान कर कहा गया है, वह नहीं जानता।

मानो ऐसा ही है जैसे कोई आदमी तैरने के सम्बन्ध में जानता है और तैरना नहीं जानता। तैरने के सम्बन्ध में जानने में कोई कठिनाई नहीं है। तैरने पर किताब पढ़ी जा सकती है। तैरने के सम्बन्ध में जितने शास्त्र हैं, सब कण्ठस्थ किये जा सकते हैं। एक आदमी तैरने के सम्बन्ध में बड़ा विशेषज्ञ हो सकता है। और कोई तैरने के सम्बन्ध में कैसा ही सवाल ले जाय, उत्तर दे सकता है। लेकिन फिर भी भूलकर उसे नदी में धक्का मत दे देना। क्योंकि तैरना जानना बिलकुल दूसरी बात है। और जरूरी नहीं है कि जो तैरना जानता है वह तैरने के सम्बन्ध में सब जानता हो। हो सकता है, वह सिर्फ तैरना ही जानता हो। लेकिन जब जिन्दगी मुसीबत में पड़ी हो और नाव डूब रही हो तो तैरने के सम्बन्ध में जानने वाले का सारा ज्ञान जरा भी काम नहीं आयेगा। उस वक्त तो वह अज्ञानी तैर कर निकल जायगा जो तैरने के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, लेकिन तैरना जानता है। इसलिए उपनिषद् का ऋषि बहुत ठीक सूत्र लक्षण के गिना देता है। वह कहता है विद्वान् जन, जो सर्वभूतों में स्वयं को और स्वयं में सर्वभूतों को जान लेते, वे शोक और मोह इन दो से मुक्त हो जाते हैं।

इन दो की क्यों एक साथ गिनाने की बात आ गयी। वे एक ही हैं, एक ही मनोदशा के अनिवार्य अंग हैं, इसलिए। उन दो में से एक कभी नहीं होता, एक अकेला कभी नहीं होता। इसलिए इसे ठीक से समझ लें। जिस चित्त में मोह है, उसी चित्त में शोक हो सकता है। जिस चित्त में मोह नहीं है, उसमें शोक नहीं हो सकता। असल में शोक होता ही है मोहभंग से। और तो कोई शोक का कारण नहीं। किसी से मुझे मोह है, वह मर गया। तो मैं शोकग्रस्त हुआ। शोक पीछे की छाया है। वह मोह की छाया है। अगर मुझे किसी से मोह नहीं है तो शोक असम्भव है। चाहूँ तो भी नहीं कर सकता। एक मकान है, जिससे मुझे मोह है। उसमें आग लग गयी तो फिर मुझे शोक होगा। जहाँ मोह असफल होगा, जहाँ मोह व्यवधान पायेगा, जहाँ मोह को अड़चन होगी, जहाँ मोह टूटेगा, जहाँ मोह टकरायेगा, वहीं शोक खड़ा हो जायगा। और ध्यान रहे, जब भी शोक खड़ा होगा तब उससे बचने को आपको नये मोह निर्मित करने पड़ेंगे। जब भी शोक खड़ा होगा उससे बचने के लिए, उससे बाहर निकलने के लिए आपको नये मोह निर्मित करने होंगे। अगर मैं किसी को प्रेम करता हूँ, वह मर गया, तो मैं तब तक उसे न भूल पाऊँगा जब तक कोई पूरक प्रेम करने वाला न खोज लूँ। जब तक मैं उसकी जगह किसी और प्रेम करने वाले को न बिठा लूँ और अपने सारे मोह को उससे हटा कर नये व्यक्ति पर न लगा दूँ, तब तक कठिन होगा भूलना। इसलिए मोह खण्डित होता है तो शोक पैदा होता है और उस शोक

से पलायन करने के लिए फिर नया मोह पैदा करना पड़ता है। फिर एक दुष्टचक्र चलता है। हर मोह शोक लाता है। हर शोक को फिर नये मोह से दबाना पड़ता है। बीमारी आती है, दवा देनी पड़ती है। दवा नयी बीमारियाँ पैदा करती हैं। फिर दवा देनी पड़ती है, फिर दवा नयी बीमारियाँ पैदा करती हैं। और एक चक्र चलता चला जाता है। उन दोनों को साथ गिनाना बहुत सुविचारित है। इसलिए कहा कि शोक और मोह दोनों से, जो जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। क्योंकि तब जो समस्त भूतों को अपने में देख लेता है और अपने को समस्त भूतों में देख लेता है—फिर कौन मेरा और कौन तेरा ? फिर मोह कैसे निर्मित हो ? मोह तभी निर्मित होता है, जब मैं किसी के साथ अपने को बाँधता हूँ और कहता हूँ, यह मेरा, और शेष मेरे नहीं। जब मैं कहता हूँ, यह मकान मेरा है, बाकी मकान मेरे नहीं हैं।

अभी एक महिला—मैं आ रहा था, उसी दिन मुझसे मिलने आयी और कहा कि आपकी बड़ी कृपा कि मेरे लड़के की दूकान बच गयी। ठीक बगल तक, करीब तक आग आ गयी थी। आग लगी दूसरे के मकान में। पर मेरे लडके की दूकान बच गयी। मिठाई लायी थी मुझे भेंट करने को। बडी प्रसन्न थी कि उसके लड़के की दूकान बच गयी।

नही, जरा भी शोक नही पकड़ा है इस बात का कि जो मकान जल गये है, उनके भी हैं। कोई शोक न पकड़ा क्योंकि उसे कोई मोह न था। खुशी हुई, क्योंकि जिस मकान से मोह था, वह बच गया है। **मोह सदा एक्सक्लूसिव है, वह किसी के साथ होता है और शेष को बाहर छोड़ देता है।** वह कहता है, यह रही मेरी पत्नी, यह रहे मेरे पति, यह रहा मेरा बेटा, यह मेरा मकान, यह मेरी दूकान, यह मैं, बाकी मैं नहीं हूँ। तो बाकी का कुछ भी हो जाय, उससे कोई अन्तर नही पड़ता। बस, इतना बच जाय। फिर इस मोह के भी विस्तार में निश्चित ही मात्रा कम होती चली जाती है। सबसे ज्यादा मोह हमें स्वयं से होता है, क्योंकि उससे ज्यादा मेरा कुछ भी नहीं मालूम पड़ता। इसलिए अगर ऐसी स्थिति आ जाय कि नाव डूब रही हो, पत्नी और पति दोनों हों और सवाल उठे कि एक ही बच सकता है तो दोनों बचना चाहेंगे। मकान में आग लग गयी है तो आदमी भाग कर पहले बाहर निकल जायगा। फिर सोचेगा कि अपने वाले और भी आ सके या नहीं। लेकिन आग लगी हो तब पहले स्वयं बाहर आ जायगा। तो **मोह जो है, सर्वाधिक 'मैं' के निकट केन्द्रित होगा। सबसे ज्यादा 'मैं' के पास घना होगा।** फिर जैसे-जैसे मेरे का फैलाव बढ़ेगा, वैसे-वैसे कम होता चला जायगा। फिर परिवार पर कम होगा—गाँव पर और कम हो जायगा। फिर देश पर

और कम हो जायगा। फिर मनुष्यता पर और कम हो जायगा। और अगर और भी किन्हीं ग्रहों पर लोग होंगे तो उनके लिए कुछ मालूम नहीं पड़ता। वैज्ञानिक कहते हैं, कोई पचास हजार ग्रहों पर जीवन है। उनके लिए कुछ मालूम नहीं पड़ता है। मनुष्यता के लिए भी बहुत ज्यादा नहीं मालूम पड़ता। पाकिस्तान में सात लाख लोग मर गये तो कुछ लगता नहीं, लेकिन अपने गाँव में सात ही मर जाते तो ज्यादा मालूम पड़ते सात लाख से। और अपने घर में एक भी मर जाता तो सात लाख से ज्यादा मालूम पड़ता। और अपनी एक अँगुली भी टूट जाती तो सात लाख से ज्यादा मालूम पड़ती—कंसंट्रेटेड। जैसे-जैसे 'मैं' के पास आयेंगे, मोह घना होता चला जायेगा। जैसे-जैसे मेरे से दूर जायेंगे, छाया विरल होती चली जायेगी।

मोह 'मैं' की छाया है। जहाँ-जहाँ मैं देखता हूँ, मैं हूँ, वहाँ-वहाँ मोह पकड़ जाता है। लेकिन मैंने कहा, मोह एक्सक्लूजिव होता है। वह किसी को छोड़ता है, वर्जित करता है, तभी निर्मित होता है। इसलिए ऋषि कहता है कि जिसने समस्त भूतों को अपने में देखा,—नान-एक्सक्लूजिव हो गया, अब सभी मेरे हैं—सभी—आल इनक्लूजिव। तो फिर मोह निर्मित नहीं हो सकता। क्योंकि अब कोई मतलब ही न रहा। सभी मेरे हैं तो अब किसी को भी मेरे कहने का कोई प्रयोजन नहीं। मेरे कहने का प्रयोजन तभी तक था जब तक तेरा भी था। कोई था, जो मेरा नहीं था। तब मैं सीमा बनाता था, रेखा खींचता था कि ये रहे मेरे। एक दीवाल बना लेता था, एक सीमान्त था मेरा। उसके पार वह दुनिया शुरू होती थी जो मरे, समाप्त हो, दुख में पड़े तो मुझे कुछ मतलब नहीं। इधर मेरी दुनिया थी, जो दुखी न हो, पीड़ित न हो। उसके दुख से मेरा दुख है।

उपनिषद् कहते हैं, न केवल समस्त प्राणियों में, समस्त जीवन में, बल्कि समस्त भूतों में, वह सब, जो है—रेत का टुकड़ा है, कण, वह भी भूत है, जो भी है उस सबमें अपने को जो देख लेता है, फिर उसका मोह गिर जाता है। फिर मोह नहीं बचता। मोह खड़ा हो सकता था सीमा बना कर। अब कोई सीमा न रही। असीम मोह नहीं होता। ध्यान रखें, असीम मोह असम्भव है। मोह सदा सीमा बना कर जीता है। और जितनी बड़ी सीमा बनाता है, उतना ही विरल हो जाता है। जितनी छोटी सीमा बनाता है, उतना घना होता है। लेकिन अगर असीम हो तो विलीन हो जाता है। और जहाँ मोह विलीन हो गया, वहाँ शोक कैसे पैदा होगा? वह मोह के बिना पैदा नहीं होता। मोह नहीं तो शोक भी नहीं। तो विद्वान् उसे कहते हैं उपनिषद्, जो शोक और मोह के बाहर चला गया। और चला कैसे गया—समस्त भूतों में स्वयं को देखकर। भूत (Exis-

tence) तो चारों तरफ मौजूद हैं । चारों तरफ अस्तित्व फैला हुआ है। लेकिन हमें दिखायी नहीं पड़ता कि मैं ही हूँ वहाँ भी ।

रवीन्द्रनाथ के जीवन की एक घटना है। रवीन्द्रनाथ ने लिखी गीतांजलि तो प्रभु के गीत गाये । नोबुल प्राइज भी मिली और सारी दुनिया में चर्चा हो गयी; लेकिन रवीन्द्रनाथ के घर के पास-पड़ोस में एक बूढ़ा रहता था। वह रवीन्द्रनाथ को बहुत सताने लगा। वह, जहाँ भी रवीन्द्रनाथ से मिल जाता, तो उनको ओर से पकड़ कर कहता कि सच-सच बताओ, ईश्वर को जाना है ?

वह आदमी हठी मालूम पड़ता और ईमानदार आदमी थे रवीन्द्रनाथ, तो झूठ बोल भी नहीं सकते थे । वह ऐसे जोर से आँख में आँख गड़ा कर पूछता था, कि उनके हाथ-पैर काँप जाते। कहाँ नोबुल प्राइज विनर—जहाँ भी गये, वहाँ सम्मान मिला, जहाँ भी गये, वहाँ लोगों ने कहा; उपनिषद् के ऋषियों ने जैसा कहा है वैसा ही महर्षि है यह । और पड़ोस का एक बूढ़ा दिक्कत देने लगा ! और एक आज नहीं, सुबह-साँझ नहीं, कब तक उससे बच कर निकलोगे । पड़ोस में ही वह बैठा रहे अपनी कुर्सी डाल कर दरवाजे पर। बूढ़ा आदमी—उसको कोई काम भी नहीं । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि मेरा घर से निकलना मुश्किल कर दिया। मैं देख लूं कि वह बूढ़ा बैठा तो नहीं है, क्योंकि मैं वहाँ से निकला कि उसने पूछा, सुनना । ईश्वर को जाना है ? तो मेरे प्राण कँप जायें, क्योंकि ईश्वर का मुझे कुछ पता नहीं । और वह खिलखिला कर हँसे । उसकी खिल-खिलाहट मेरी नींद को खराब कर देती। और उसकी हँसी मेरा पीछा करने लगी । हंटिंग पैदा हो गयी । और मुझे डर लगने लगा, भय लगने लगा उससे । मैंने सोचा, यह गीतांजलि लिख कर और एक मुसीबत कर ली ।

बूढ़ा कुछ जानता रहा होगा, नहीं तो इतनी हंटिंग पैदा नहीं कर सकता था । उसकी आँखों में कुछ बात रही होगी। रवीन्द्रनाथ आँख उठा कर कह न सके उसके सामने कि गीतांजलि का एक पद दोहरा देते । पूरी गीतांजलि तो ईश्वर का ही गीत है, कि एक गीत दोहरा देते । नहीं दोहरा सके । वर्ष बीते और बूढ़ा पीछा करता ही रहा । रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि जिस दिन उस बूढ़े को मैं कह पाया, उस दिन मेरे मन से एक बड़ा बोझ हट गया ।

वर्षा के दिन थे । नयी-नयी वर्षा आयी । आषाढ़ का महीना और पहले मेघ बरसे । डबरे, तालाब, पोखरों पर नया पानी भर गया है । सड़क के किनारे जगह-जगह गड्ढे भर गये हैं। मेंढक बोलने लगे हैं । रवीन्द्रनाथ सुबह ही उठे हैं, मेंढक की पुकार, वर्षा की आवाज, मिट्टी की गंध, प्राण उनके खिंचे बाहर को । देखा कि वह बूढ़ा तो नहीं । अभी वह शायद उठा नहीं होगा। दरवाजे पर

नहीं था। वह भागे वहाँ से। चैतन्य समुद्र की तरफ सूरज निकला। समुद्र के तट पर खड़े थे, सूरज निकला। समुद्र में सूरज की छाया बनी—प्रतिबिम्ब बना। सूरज समुद्र में झलकने लगा। दर्शन किया सूरज का, दर्शन किया प्रतिबिम्ब का। लौटने लगे घर को। एक-एक पोखरे में सूरज झलकता था। एक-एक छोटे-से डबरे में, सड़क के किनारे गंदा पानी भरा था, वहाँ भी सूरज झलकता था। सब तरफ सूरज झलकता था। गन्दे डबरे में भी, सागर में भी, स्वच्छ पोखरे में भी, सब तरफ सूरज झलकता था। कोई धुन, कोई स्वर भीतर छिड़ गया। नाचते हुए लौटे। नाच रहे थे इस बात से कि प्रतिबिम्ब गंदा नहीं होता। नाच रहे थे इस बात से कि सूरज का प्रतिबिम्ब स्वच्छतम पानी में भी पड़ा है तो भी उतना ही ताजा और स्वच्छ है, और गन्दे-से-गन्दे पानी में बना है तो भी उतना ही ताजा और स्वच्छ है। प्रतिबिम्ब—प्रतिबिम्ब तो गंदा नहीं हो सकता। रिफ्लेक्शन तो कैसे गंदा होगा। गंदा पानी ही हो सकता है। पर जो सूरज की छाया उसमें बन रही है, जो सूरज उसमें झाँक रहा है वह तो गंदा नहीं है। वह तो बिलकुल ताजा, वह तो बिलकुल स्वच्छ है। उसे तो कोई पानी गंदा नहीं कर सकता। इस अनुभव को—यह एक बड़ा क्रान्तिकारी अनुभव है—इसका मतलब यह हुआ कि बुरे-से-बुरे आदमी के भीतर भी जो परमात्मा है वह तो गंदा नहीं हो सकता। पापी-से-पापी के भीतर जो प्रतिबिम्ब है प्रभु का वह तो उतना ही शुद्ध है, जितना पुण्यात्मा के भीतर है। इसलिए नाचते लौट रहे थे। एक द्वार खुल गया था। वह बूढ़ा बैठा था अपने दरवाजे पर। पहली दफा उस बूढ़े को देख कर डर नहीं लगा। और पहली दफा उस बूढ़े ने कहा, अच्छा! तो मालूम होता है तुमने जाना। और वह बूढ़ा आया और रवीन्द्रनाथ को गले लगा लिया और कहा कि आज, आज तेरी मस्ती कहती है कि तूने जाना। मैं तो अब तुझे पुरस्कार दे सकता हूँ।

तीन दिन फिर रवीन्द्रनाथ की जिन्दगी बड़ी पागल की जिन्दगी थी। घर के लोग डर गये। पर सिर्फ एक बूढ़ा बार-बार घर के लोगों से आकर कहने लगा, प्रसन्न होओ, आनन्दित होओ। पास-पड़ोस में खबर करने लगा कि उसने जान लिया। लेकिन घर के लोग डर गये, क्योंकि रवीन्द्रनाथ एक अजीब काम करने लगें। खम्भा मिले, तो खम्भे से गले लगें। रास्ते से गाय निकल रही है, तो गाय से गले मिलें। दरख्त खड़ा है, तो दरख्त से आलिंगन कर रहे हैं। घर के लोग समझे कि पागल हो गये। पर वह बूढ़ा कहने लगा कि घबराओ मत। यह पागल अब तक था, अब यह ठीक हुआ। अब इसको सर्वभूतों में वही दिखायी पड़ने लगा, जिसके दिखायी पड़े बिना यह सब जो गा रहा था, वह सब बेकार था, तुकबन्दी थी। अब इसके जीवन में संगीत का जन्म हुआ।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि बहुत धीरे—धीरे-धीरे मैं अपने को संयमी बना पाया। अपने को रोक पाया। नहीं तो कुछ भी मिले, लगे कि बसे मिलो। प्रभु द्वार पर आ गया। तब तक मैं खोजता था कि प्रभु, तेरा द्वार कहाँ है? और अब जहाँ मैंने देखा, वहीं उसका द्वार पाया। अब तक मैं खोजता था कि तू छिपा कहाँ है और अब मेरी मुश्किल हो गयी, क्योंकि वही वही था, और कुछ भी न था।

सर्वभूतों में दिखायी पड़ जाय जिसे स्वयं का होना या स्वयं में सर्वभूतों का होना, वही विद्वान् है। और ऐसा विद्वान् मोह और शोक के ऊपर उठ जाता है। ध्यान रहे, उसके जीवन में न सुख है, न दुख, उसके जीवन में है आनन्द। उसके जीवन में न मोह है, न शोक, उसके जीवन में है नृत्य। उसके जीवन में सिर्फ शुद्ध जीवन का नृत्य है। सिर्फ जीवन ही कीर्तन कर रहा है उसके जीवन में। सिर्फ जीवन का ही संगीत है। और सब, वह सब जो पीड़ा लाये, वह सब जो बाँधे, वह सब जो बन्धन बनाये, वह सब जो आज सुख देता मालूम पड़े और कल दुख का निमन्त्रण बन जाय—वह सब उसके जीवन में नहीं है। वह दर्पण की भाँति ही हो जाता है।

दर्पण के सामने आप खड़े होते हैं तो दिखायी पड़ते हैं कि दर्पण में हैं। हट जाते हैं तब दर्पण तत्काल आपको छोड़ देता है। पकड़ता नहीं। इधर आप गये, उधर दर्पण खाली हुआ। जब थे, तब दिखायी पड़ते थे। जब हट गये तो दर्पण खाली हो गया। दर्पण ने कोई मोह नहीं किया। इसलिए जब आप हटते हैं तो दर्पण आपके दुख में चूर-चूर नहीं हो जाता। हृदय उसका टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता। वह यह नहीं कहता कि अब तुम्हारे बिना मैं कैसे जीऊँगा। थे तो बड़े सुन्दर थे। थे तो बड़े अच्छे थे। थे तो बड़ी कृपा थी, बड़ा अनुग्रह था। चले गये तो कृपा में कोई अन्तर नहीं। दर्पण खाली भी उतना ही आनन्दित है जितना भर कर था। ऐसा विद्वान् जीता है जगत् में दर्पण की भाँति। जो भी आता है सामने, प्रसन्न है। फूल आयें तो आनन्दित है। तो उनका प्रतिबिम्ब बन जाता है, तो उनमें परमात्मा को देख लेता है। काँटे आयें तो आनन्दित है। उनका प्रतिबिम्ब बन जाता है, तो उनमें परमात्मा को देख लेता है। नहीं कोई आया, सब खाली हो गया तो खालीपन भी परमात्मा है। 'द वेरी एम्पटीनेस—वह खालीपन भी परमात्मा है। फिर वह उस खालीपन में भी नाच रहा है; उस खालीपन में भी प्रफुल्लित है।

आज इतना ही। अब हम दर्पण बनने की कोशिश में लगें।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, और स्वयंभू है। उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है ॥८॥

उस आत्मतत्त्व के लिए, उस आत्मतत्त्व के स्वभाव के लिए कुछ सूचनाएँ इस सूत्र में हैं। सबसे पहली—वह आत्मतत्त्व स्वयंभू है। इस जगत् में अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी स्वयंभू नहीं है। स्वयंभू का अर्थ है सेल्फ ओरिजिनेटिड। स्वयंभू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा पैदा नहीं किया गया। स्वयम्भू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा सृजा नहीं गया। जो स्वयं ही हुआ है। जिसका होना स्वयं से ही निकला है। जिसका अस्तित्व किसी और के हाथ में नहीं। जिसका अस्तित्व स्वयं में ही निर्भर है। आत्मतत्त्व स्वयम्भू है, यह पहली बात ख्याल में ले लेनी चाहिए। हम जिन चीजों को देखते हैं वे निर्मित हो सकती हैं। जो-जो निर्मित हो सकता है, जो भी बनाया जा सकता है, वह आत्मतत्त्व नहीं होगा। एक मकान हम बनाते हैं। मकान स्वयम्भू नहीं है—निर्मित है। एक यन्त्र हम बनाते हैं, स्वयम्भू नहीं है, निर्मित है—हमने बनाया है। उस तत्त्व को खोजें, जो हमनें नहीं बनाया है, जो किसी ने भी नहीं बनाया है। जो अनबना है—अन-क्रियेटेड है। उस तत्त्व का नाम ही आत्मतत्त्व है। यदि हम जगत् के अस्तित्व में खोजते हुए वहाँ तक पहुँच जायँ, उस आधार को पकड़ लें, जिसे किसी ने भी नहीं बनाया, जो है सदा से, अनबना, स्वयं ही, तो हम परमात्मा को पा लेंगे। और अगर हम अपने भीतर प्रवेश करें और खोजते चले जायँ और वहाँ पहुँच जायँ, जो अनबना है, स्वयं है, तो हम आत्मा को पा लेंगे।

आत्मा और परमात्मा दो बातें नहीं हैं। एक ही वस्तु को दो दिशाओं से दिये गये नाम हैं। अगर आपने स्वयं में खोजा तो उस अनिर्मित, असृष्ट, स्वयम्भू-तत्त्व का नाम आत्मा है। और अगर आपने पर में खोजा और पाया, तो उस तत्त्व

का नाम परमात्म तत्त्व है। आत्मा परमात्मा ही है—भीतर की तरफ से पकड़ी गयी। परमात्मा आत्मा ही है—बाहर की तरफ से खोजी गयी।

स्वयं में यदि हम प्रवेश करें तो यह शरीर सृष्ट है। यह आपके माँ और पिता के सहयोग के बिना निर्मित नहीं होता। या कल टेस्टट्यूब में भी निर्मित हो सके तो भी सृष्ट ही होगा। इसलिए पश्चिम के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री आज नहीं कल अपने दावे को पूरा कर लेंगे। वह शरीर को निर्मित कर लेंगे। शरीर को निर्मित करने से उन्हें लगता है कि शायद वह आत्मवादियों को आखिरी पराजय दे देंगे। वे भूल में हैं, क्योंकि आत्मवादी ने कभी आग्रह किया नहीं कि यह शरीर आत्मा है। आत्मवादी कहता है, जो असृष्ट है, वही आत्मा है। शरीर का सृजन करके वह इतना ही सिद्ध करेंगे कि शरीर आत्मा नहीं है। शरीर किसी दिन निर्मित हो जायगा। मैं इसमें कहीं कोई कारण नहीं देखता हूँ कि निर्मित क्यों नहीं हो जायगा। बहुत से आत्मवादी डरे हुए हैं कि जिस दिन टेस्टट्यूब में, लेबोरेटरी में, प्रयोगशाला में शरीर निर्मित हो जायगा उस दिन आत्मा का क्या होगा? जिस दिन हम बच्चे को बिना माँ-बाप की सहायता के केमिकल, रासायनिक व्यवस्था से निर्मित कर लेंगे और वह ठीक मनुष्य जैसा खड़ा हो जायगा, फिर उस दिन तो आत्मा नहीं है, यह सिद्ध हो गया। लेकिन उन आत्मवादियों को भी पता नहीं है कि आत्मवाद ने कभी शरीर को आत्मा कहा ही नहीं। किसी दिन वैज्ञानिक अगर यह कर सके तो उससे सिर्फ उपनिषद् का यह सूत्र ही सिद्ध होगा कि देखो, यह शरीर भी आत्मा नहीं है। इतना ही सिद्ध होगा, और कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। अभी भी हम जानते हैं कि शरीर आत्मा नहीं है। अभी प्राकृतिक व्यवस्था से वह निर्मित होता है। कल कृत्रिम और वैज्ञानिक व्यवस्था से निर्मित हो सकेगा। आज भी जब माँ और पिता के रासायनिक तत्त्व मिलकर उस सेल का निर्माण करते हैं जो शरीर का पहला घटक है तो आत्मा उसमें प्रवेश करती है। कल अगर विज्ञान की प्रयोगशाला में वह घटक, वह सेल निर्मित हो गया, वह जैनेटिक सिचुएशन, वह स्थिति पैदा हो गयी, जो माँ-बाप के द्वारा पैदा होती रही है अभी तक, तो वहाँ भी आत्मा प्रवेश कर जायेगी। लेकिन वह कोष्ठ, रासायनिक कोष्ठ, जो शरीर का पहला घटक है, वह आत्मा नहीं है। वह निर्मित है, स्वयम्भू नहीं है। किसी के द्वारा बना है। किसी के ऊपर उसका होना निर्भर है इसलिए उसे आत्मतत्त्व कहने को आत्मज्ञानी तैयार नहीं होंगे। वह आत्मतत्त्व नहीं है। और पीछे चलना पड़ेगा, और गहरे उतरना पड़ेगा।

तो मैं तो खुश होता हूँ कि विज्ञान जितने जल्दी शरीर को निर्मित कर ले उतना अच्छा है। क्योंकि तब हमें जो शरीर के साथ तादात्म्य है उसे तोड़ने में

सहायता मिलेगी । तब हम ठीक जान पायेंगे कि शरीर एक यन्त्र है और शरीर को उसकी व्याख्या जानकारी है । अभी भी नासमझी है, लेकिन अभी हमें पता नहीं चलता है कि शरीर यन्त्र है । अभी भी यन्त्र है । वह प्रकृति से उत्पन्न है । फिर हम प्रकृति के राज को समझकर स्वयं निर्माण कर लेंगे । तब शरीर से तादात्म्य तोड़ने में सहयोग मिलेगा । स्वयं के भीतर प्रवेश करके उस जगह तक पहुँचना है, जिसे निर्मित न किया जा सके । और जहाँ तक निर्मित किया जा सके, वहाँ तक जानना कि आत्मतत्त्व नहीं है । इसलिए विज्ञान जितने गहरे तक निर्माण कर ले, उतना धर्म के पक्ष में है । क्योंकि उतने दूर तक तय हो जायगा कि आत्मतत्त्व नहीं है, आत्मतत्त्व और आगे है । आत्मतत्त्व सदा ही जहाँ तक निर्माण होगा उसके पार, उसके अतीत है । तो विज्ञान की बड़ी कृपा है कि वह निर्माण करता चला जाय । जहाँ तक निर्माण हो जायगा वहाँ तक सीमा निर्धारित हो जायेगी कि अब यहाँ तक तो आत्मतत्त्व नहीं है । क्योंकि आत्मतत्त्व हम कहते हैं स्वयंभू को, जो अनिर्मित है । जो निर्मित नहीं हो सकता । स्वयम्भू का अर्थ है, मूल में जो है । निश्चित ही इस अस्तित्व के होने के लिए कहीं कोई आधारभूत, अल्टीमेट, आत्यंतिक तत्त्व चाहिए, जो अनिर्मित हो । अगर हर चीज को निर्मित होने की जरूरत पड़े तो निर्माण असम्भव हो जायगा । कहें कि जगत् को बनाने के लिए परमात्मा की जरूरत है । फिर कहें कि परमात्मा को बनाने के लिए किसी और परमात्मा की जरूरत है । फिर इस जरूरत का कोई अन्त नहीं होगा । कहीं वह जगह न आये, जहाँ हम कह सकें कि बस ठीक है, यहाँ वह जगह आ गयी, जिसके निर्माण की किसी को जरूरत नहीं है ।

इसे ऐसा समझें तो और भी अच्छा और वैज्ञानिक होगा । आत्मतत्त्व स्वयम्भू है, ऐसा न कहकर ज्यादा वैज्ञानिक होगा कहना कि हम कहें, जो स्वयम्भू है वह आत्मतत्त्व है । ऐसा न कहकर कि परमात्मा को किसी ने नहीं बनाया, यह कहना ज्यादा वैज्ञानिक होगा कि जिसे किसी ने नहीं बनाया है, जो अनबना है, हम उसे ही परमात्मा कहते हैं । विज्ञान को भी अनुभव होता है । जगह-जगह सीमा आ जाती है और लगता है कि इसके पार जो है, वह निर्माण के बाहर है । जैसे अभी, विज्ञान निरन्तर सोचता था, खोजता था तत्त्वों (Elements) को, तो पुराने वैज्ञानिक कहते थे, पाँच तत्त्व हैं । पुराने धार्मिक नहीं, क्योंकि धार्मिक को तत्त्वों से प्रयोजन ही नहीं है । धार्मिक को तो सिर्फ एक से ही प्रयोजन है, स्वयम्भू तत्त्व से । पुराने सभ्य, पुराने ढंग का चार या पाँच हजार साल का पुराना जो वैज्ञानिक चिन्तन था, वह कहता था, पंचतत्त्व से निर्मित है सब । गलती यह हो गयी कि उन दिनों में कोई विज्ञान की किताबें अलग नहीं होती थीं धर्म,

की किताबों में ही सब कुछ लिखा जाता था। धर्म की किताबें उस समय के ज्ञान का समुच्चय हैं इसलिए यह बात भी कि पंचतत्त्वों से सब निर्मित है, धर्म की किताबों में उपलब्ध है। **लेकिन यह बात वैज्ञानिक है, यह बात धार्मिक नहीं है।** धर्म को तो एक ही तत्त्व की खोज है—स्वयम्भू तत्त्व की। फिर विज्ञान खोज करता चला गया। उसने पाया कि पाँच तत्त्वों का सिद्धान्त गलत है। जब विज्ञान ने यह पाया कि पचतत्त्व का सिद्धान्त गलत है तो नासमझ धार्मिक बड़े परेशान हुए। उन्होंने समझा कि सब गड़बड़ हो गयी। क्योंकि हम तो मानते थे, पंच-तत्त्व है। विज्ञान धीरे-धीरे नये तत्त्व खोजता चला गया और एक सौ आठ तक संख्या पहुँच गयी। लेकिन मैं कहता हूँ कि विज्ञान की नयी खोज सिर्फ पुराने विज्ञान को गलत करती है। **विज्ञान की कोई खोज धर्म को गलत नहीं कर सकती।** उसका कारण है कि दोनों के आयाम अलग हैं। कोई कितनी ही अच्छी कविता निर्मित कर ले, किसी गणित के सिद्धान्त को गलत नहीं कर सकता। कविता और गणित की कोई संगति नहीं है। कोई कितना ही गणित का गहरा सिद्धान्त खोज ले, उससे कोई कविता गलत नहीं होने वाली है। क्योंकि काव्य का आयाम अलग है, वे कहीं कटते नहीं। वे कहीं एक-दूसरे को आर-पार नहीं करते। वे छूते भी नहीं। यह सब आयाम रेल की पटरियों की तरह दौड़ते है—समानान्तर। कहीं अगर मिलते हुए मालूम पड़ते हैं तो वह आपकी भ्रान्ति है। जब आप वहाँ जायेंगे तो पायेंगे वह कहीं नहीं मिलते, वह समानान्तर दौड़ते ही चले जाते हैं। रेल की पटरियों की तरह मिलने का भ्रम हो सकता है।

विज्ञान जब भी किसी चीज को गलत करता है तो वह पुराने विज्ञान को गलत करता है। अगर विज्ञान ने कहा कि जमीन चपटी नहीं है, जमीन गोल है तो ईसाइयत बहुत घबरा गयी। क्योंकि बाइबिल में लिखा है कि जमीन चपटी है। लेकिन **बाइबिल में जो लिखा है कि जमीन चपटी है, वह बाइबिल के जमाने के वैज्ञानिकों की घोषणा है।** यह कोई धार्मिक घोषणा नहीं है। इसलिए अगर विज्ञान ने खोज कर ली कि जमीन गोल है तो ठीक है, पुरानी बात गलत हो गयी। लेकिन इससे पुराना विज्ञान ही गलत हुआ। विज्ञान कभी भी धर्म को गलत नहीं कर सकता और न धर्म कभी विज्ञान को गलत कर सकता है। उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कोई लेन-देन नहीं है। उनके बीच कोई कम्युनिकेशन भी नहीं है, वह आयाम ही भिन्न हैं। वे दिशाएँ बिलकुल अलग हैं।

पाँच तत्त्वों की खोज एक सौ आठ तत्त्वों तक चली गयी और विज्ञान ने पाया कि पुराने पाँच तत्त्व गलत थे। गलत ही थे। असल में जिनको पहले तत्त्व कहा था, वह तत्त्व नहीं थे, यौगिक थे। कम्पाउण्ड्स थे, एलीमेंट्स नहीं थे। जैसे

मिट्टी, अब मिट्टी में हजारों तत्व हैं। कोई मिट्टी में एक तत्व नहीं है। जैसे पानी, तो पानी में, अब विज्ञान कहता है, दो तत्व हैं, हाइड्रोजन और आक्सीजन। एक तत्व नहीं है पानी। पानी दो तत्वों का जोड़ है। जोड़ को विज्ञान तत्व नहीं कहता, संयोग कहता है। तो पानी तो कोई तत्व नहीं रहा। आक्सीजन और हाइड्रोजन तत्व हो गये। इस तरह एक सौ आठ तत्व विज्ञान ने खोज लिये। लेकिन फिर विज्ञान को भी धीरे-धीरे, जैसे-जैसे गहरी खोज हुई, एक बात ख्याल में आने लगी कि इन सब तत्वों के, एक सौ आठ तत्वों के घटक समान हैं। हाइड्रोजन हो कि आक्सीजन हो, उन दोनों का निर्माण विद्युत्-कणों से ही होता है। तो, फिर तो इसका मतलब हुआ कि हाइड्रोजन और आक्सीजन भी तत्व नहीं रह गये। तत्व तो विद्युत् हो गयी, इलेक्ट्रिसिटी हो गयी। विद्युत् के ही कुछ कणों का जोड़ हाइड्रोजन बनता है और कुछ कणों का जोड़ आक्सीजन बनता है। और ये एक सौ आठ तत्व विद्युत् के ही कणों के जोड़ हैं। अगर तीन कण होते हैं तो एक तत्व बन जाता है। दो कण होते हैं तो दूसरा तत्व बन जाता है। चार होते हैं तो एक तत्व बन जाता है। लेकिन वह तीन हों कि चार हों कि दो हों, वह हैं सब बिजली के कण। तो फिर विज्ञान को एक नयी अनुभूति हुई और वह यह हुई कि तत्व तो सिर्फ विद्युत् है एक। बाकी ये एक सौ आठ तत्व भी गहरे में कम्पाउण्ड्स हैं। ये भी जोड़ हैं। ये भी तत्व नहीं हैं। ये भी मूल नहीं हैं।

आज जो विज्ञान की स्थिति है उसमें वह यह मानने को तैयार हो गया है कि विद्युत् अनिर्मित है—स्वयम्भू है। और विद्युत् एकमात्र तत्व है, जिसका सारा फैलाव है। विद्युत्, चूंकि कम्पाउण्ड नहीं है, मिलाकर नहीं बनी है दो तत्वों से, इसलिए अनिर्मित है। तत्व कहता विज्ञान उसे है, जो स्वयम्भू है। तो अब विज्ञान कहता है कि विद्युत् स्वयम्भू तत्व है। वह बनाया नहीं जा सकता। क्योंकि, जो चीज जोड़कर बन सकती है, वह बनायी जा सकती है। दो चीजों को आप जोड़ देंगे, तीसरी चीज बन जायेगी। तीन चीजों को जोड़ देंगे, चौथी चीज बन जायेगी। लेकिन मूल तत्व, जो ओरीजनल एलीमेन्ट है, जो बिना जोड़ का है, उसको आप कैसे बनायेंगे ? उसको बना भी नहीं सकते, मिटा भी नहीं सकते। अगर हमें पानी को मिटाना हो तो मिटा सकते हैं। हाइड्रोजन और आक्सीजन को अलग कर देंगे, पानी मिट जायगा, क्योंकि वह जोड़ है। अगर हमें हाइड्रोजन को मिटाना है तो हम उसे भी मिटा देंगे। अगर हमने उसके विद्युत् के कणों को अलग कर दिया—जिसको हम एटामिक इनर्जी कहते हैं, वह सिर्फ विद्युत् के कणों को अलग करना है। तो हाइड्रोजन मिट जायगा। हाइड्रोजन नहीं बचेगा। सिर्फ विद्युत् ऊर्जा रह जायेगी। सिर्फ शक्ति रह जायेगी। लेकिन उस शक्ति को

हम नहीं मिटा सकते, क्योंकि उसमें दो का जोड़ नहीं है, जिसको हम अलग कर सकें। हम सिर्फ इतना ही कर सकते हैं, या तो चीजों को जोड़ सकते हैं या तोड़ सकते हैं। सृजन नहीं कर सकते। तत्त्व वह है, जो असृजित है, तो इसको हम सृजन नहीं कह सकते।

विज्ञान अभी कहता है कि इलेक्ट्रिसिटी, विद्युत् ऊर्जा स्वयम्भू तत्त्व है। लेकिन धर्म कहता है, आत्मतत्त्व स्वयम्भू है। कोई हैरानी न होगी कि आज नहीं कल विज्ञान की और खोज विद्युत् को भी तोड़ ले। और हम पायें कि विद्युत् भी स्वयम्भू नहीं है। क्योंकि पहले हम पाते थे कि पानी तत्त्व है, फिर हमने तोड़ा तो पाया कि हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्त्व है, पानी तत्त्व नहीं है। फिर हाइड्रोजन को भी तोड़ लिया तो पाया कि हाइड्रोजन भी तत्त्व नहीं है, विद्युत् तत्त्व है। अब या तो आत्मतत्त्व और विद्युत् एक ही चीज सिद्ध हों, और या फिर विद्युत् भी टूट जाय, और हमें पता चले कि वह भी तत्त्व नहीं है। जहाँ तक मेरी समझ है, विद्युत् भी टूट सकेगी। और जिस दिन विद्युत् टूटेगी उस दिन हम पायेंगे कि चेतना—कांसेसनेस बचती है विद्युत् के टूटते ही।

अब यह बहुत मजे की बात है कि पत्थर को कोई भी नहीं कह पायेगा कि इनर्जी है, शक्ति है। पत्थर पदार्थ है। पुराना भेद हमारा है मैटर और इनर्जी का, पदार्थ और शक्ति का। पदार्थ—पत्थर है पदार्थ। लेकिन जब पत्थर को तोड़ा गया, और इनालिसिस, और विश्लेषण और जब अन्तिम जाकर अणु का विस्फोट हुआ तो पदार्थ खो गया—बची ऊर्जा। और विज्ञान को एक पुराना, जो निरन्तर का द्वैत था, वह समाप्त कर देना पड़ा। मैटर और इनर्जी का जो पुराना द्वैत था कि एक है पदार्थ और एक है शक्ति, वह समाप्त कर देना पड़ा। पदार्थ के टूटने पर पता चला कि पदार्थ नहीं है, सिर्फ शक्ति ही है। मैटर इज इनर्जी। कहना पड़ा कि पदार्थ ही ऊर्जा है। अब पदार्थ जैसी कोई चीज नहीं है। आज विज्ञान की जो नवीनतम शोध है उसमें पदार्थ जैसी कोई भी चीज नहीं है। पदार्थवादी को बहुत सचेत हो जाना चाहिए। अब पदार्थ जैसी कोई चीज ही नही, सिर्फ ऊर्जा है।

जब तक पदार्थ के नीचे हम नही उतरे थे तब तक दो चीजें थीं। पदार्थ था और ऊर्जा थी। निश्चित ही, एक पत्थर को उठायें हाथ में और फिर बिजली के तार को छुएँ तो फर्क पता चलेगा। पत्थर को हाथ में उठायें और बिजली के तार को छुएँ तो पत्थर पदार्थ मालूम होता है और बिजली के तार से जो बहती है वह ऊर्जा है। दोनों मे बड़ा भेद है। लेकिन अब विज्ञान कहता है कि पत्थर को भी तोड़ दें हम तो आखीर में, वही ऊर्जा मिल जाती है, जो बिजली के तार से बहती

है। उसी को तोड़कर तो हिरोशिमा में हमने एक लाख आदमी मारे। वह बिजली का कमाल है। पदार्थ के विघटन से—एक छोटे-से अणु के विस्फोट से इतनी ऊर्जा पैदा हुई कि हिरोशिमा में एक लाख और नागासाकी में एक लाख बीस हजार आदमी मरे। बड़ी-से-बड़ी बिजली को भी छूकर इतने आदमी नहीं मर सकते। एक छोटे-से कण से इतनी बिजली पैदा हुई। लेकिन वह कण खो गया बिजली होकर। तो अब विज्ञान कहता है कि हमारा पुराना जो द्वैत था—पदार्थ और ऊर्जा का—वह नष्ट हो गया। अब तो ऊर्जा है। लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि एक और अभी भेद रह गया है, ऊर्जा और चेतना का। इनर्जी और कांसेसनेस का। बिजली को हम छूते हैं तो पता लगता है, शक्ति है। लेकिन जब एक आदमी से हम बात करते हैं तो सिर्फ इतना ही नहीं लगता कि यह शक्ति है—चेतना भी मालूम पड़ती है। बिजली दौड़ रही है, यह टेपरिकार्डर बोलेगा। लेकिन टेपरिकार्डर वही बोलेगा जो मैं बोल रहा हूँ। तो जब टेपरिकार्डर बोलेगा तो सिर्फ ऊर्जा है। लेकिन जब मैं बोलता हूँ तो सिर्फ ऊर्जा नहीं है, चेतना भी है। इसलिए टेपरिकार्डर अदल-बदल नहीं कर सकेगा। जो मैंने बोला है, वही बोलेगा। और मैं चाहूँ भी तो कल वह नहीं बोल सकूँगा जो आज बोल रहा हूँ। क्योंकि मैं कोई यन्त्र नहीं हूँ। मुझे खुद भी पता नहीं है कि इस वचन के बाद कौन-सा वचन निकलेगा। जब आप सुनेंगे तभी मैं भी सुनूँगा।

चेतना और ऊर्जा का फासला अभी कायम है। कहना चाहिए, पुराना जो था जगत् वह द्वैत नहीं था, त्रैत था—पदार्थ, ऊर्जा, चेतना—मैटर, इनर्जी, कांसेसनेस। वह त्रैत था। उसमें से एक तो गिर गया। पदार्थ गिर गया। अब द्वैत रह गया—ऊर्जा और चेतना। पदार्थ को गहरे में खोजने से पदार्थ नष्ट हो गया और हमने पाया कि ऊर्जा है। और मैं आपसे कहता हूँ कि ऊर्जा को गहरे में खोजने से ऊर्जा भी गिर जायेगी और हम पायेंगे कि चेतना है। उस चेतना का नाम आत्मतत्त्व है। जहाँ सब गिर जायगा, न पदार्थ होगा, न ऊर्जा होगी, सिर्फ चेतना होगी। इसलिए हमने उस परम तत्त्व को सच्चिदानन्द कहा है। तीन शब्दों का उपयोग किया है उस आत्मतत्त्व के लिए। सत्—सत् का अर्थ होता है एक्जिस्टेंस, जो है। और जो कभी नहीं होता, जो सदा है। सत् का अर्थ है, जो सदा है। जो कभी भी ऐसी स्थिति में नहीं होता कि आप कह सकें कि नहीं है। है ही। सब कुछ बदलता चला जाय, वह है ही। चित् का अर्थ होता है चैतन्य—कांसेसनेस। वह अकेला है ही ऐसा नहीं, उसे पता भी है कि मैं हूँ। एक चीज हो सकती है, एक पत्थर पड़ा है, वह भी है। वह सिर्फ अस्तित्व है। लेकिन उस पत्थर को यह भी पता है कि मैं हूँ, तब वह चित् भी है। तब वह कांसेसनेस भी है।

और तीसरा शब्द हम कहते हैं, आनन्द। इतना ही नहीं कि वह आत्मतत्त्व है, इतना ही नहीं कि वह चैतन्य है, इतना ही नहीं कि वह है और उसे पता है कि मैं हूँ। इतना भी कि जैसे ही उसे पता चलता है कि हूँ, मैं हूँ, उसे यह भी पता चलता है कि मैं आनन्द हूँ।

इस आत्मतत्त्व को स्वयम्भू कहा है इस सूत्र में। उसे किसी ने बनाया नहीं है। उसे कोई मिटा नहीं सकेगा इसीलिए। ध्यान रहे स्वयम्भू है, इसीलिए अमृत है। जो चीज बनेगी, वह मिटेगी। जो चीज निर्मित होगी, वह नष्ट होगी। कोई निर्माण शाश्वत नहीं हो सकता। कोई निर्माण नित्य नहीं हो सकता।

सब निर्मितियाँ समय में बनती हैं और समय में मिट जाती हैं। असल में जिस चीज का भी जन्म होगा, वह मरेगी। कितना ही मजबूत बनायें, थोड़ी देर लगेगी मिटने में, लेकिन मिटेगी। महल चाहे कागज के पत्तों के बनाये जायें—गिर जाते हैं। और चाहे सख्त पत्थर के बनाये जायें—गिर जाते हैं। और चाहे फौलाद के बनाये जायें तो गिर जाते हैं। हाँ, देर लगती है। समय लगता है। ताश के पत्तों के घर को हवा का एक झोंका गिरा देता है। पत्थर की दीवालों के महलों को हवा के लाखों झोंके गिरा पाते हैं, लेकिन गिरा देते हैं। मात्रा का फर्क पड़ता है। ताश के पत्तों के घर में और पत्थर के घर में जो फर्क है, वह मात्रा का फर्क है कि कितने हवा के झोंके गिरा पायेंगे। बुनियादी अन्तर नहीं है। क्योंकि ताश का घर भी बनाया गया है इसलिए गिरेगा और महल भी बनाये गये हैं इसलिए गिरेंगे। जहाँ एक छोर पर निर्माण होगा वहाँ दूसरे छोर पर विध्वंस होगा। स्वयम्भू है, इसलिए आत्मतत्त्व अमृत है। क्योंकि एक छोर पर कभी बना नहीं इसलिए दूसरे छोर पर कभी मिटेगा नहीं। तो स्वयम्भू में एक बात तो है कि अनिर्मित है और दूसरी बात है कि अमृत है, नष्ट नहीं हो सकता। यह भी आपसे कह दूँ कि इससे विज्ञान भी राजी होता है कि जो तत्त्व दो से मिलकर बना है, वह मिटेगा। जो तत्त्व एक से बना है, वह नहीं मिट सकता। उसके मिटने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि उसके बनने का कोई उपाय नहीं है। बनाना हो तो चीजें मिलानी पड़ती हैं। मिटाना हो तो अलग कर देनी पड़ती हैं। बनाना जोड़ना है, मिटाना बिखराना है। लेकिन जो तत्त्व इकहरा है, जिसमें कोई दूसरा तत्त्व नहीं है, उसको मिटाया नहीं जा सकता है। उसको मिटायेंगे कैसे? उसे तोड़ा नहीं जा सकता। वह दो होता तो टूट जाता। वह एक ही है। वह सदा रहेगा। जो तत्त्व स्वयम्भू होगा वह अमृत होगा और उसी को उपनिषद् आत्मतत्त्व कहते हैं। फिर कुछ और बातें भी गिनायी हैं जो इसके बाद अनिवार्य हैं।

कहा है कि वह स्वयम्भू आत्मतत्त्व सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ का क्या अर्थ होगा?

सर्वज्ञ के दो अर्थ हो सकते हैं, और आमतौर से जो गलत अर्थ है वो ही, वही प्रचलित है। अक्सर ऐसा होता है कि जो चीज प्रचलित होती है, अक्सर गलत होती है। ज्ञान इतना सूक्ष्म है कि बहुत प्रचलित नहीं होता। अज्ञान सबकी समझ में आ जाता है। सहज प्रचलित हो जाता है। सर्वज्ञ का एक अर्थ तो होता है, आल नोइंग—सब कुछ जानता है। यही अर्थ प्रचलित है। इसलिए ऐसे उदाहरण के लिए जैनों ने महावीर को सर्वज्ञ कहा है। कहा था इसीलिए कि जब आत्म-तत्त्व जान लिया गया तो आदमी सर्वज्ञ हो गया। क्योंकि आत्मतत्त्व का लक्षण है सर्वज्ञ होना—सब जान लिया। महावीर ने खुद कहा है, जिसने एक को जाना उसने सब जान लिया। तो ठीक है, महावीर ने सब जान लिया। तो फिर पीछे अनुयायी जो हैं, वह सोचता है कि महावीर को यह भी पता होगा कि साइकिल का पंक्चर कैसे जोड़ा जाता है। लेकिन महावीर को साइकिल का भी कोई पता नहीं। तो फिर महावीर को पता होना चाहिए कि हवाई जहाज कैसे बनाया जाता है। सर्वज्ञ का अगर यह अर्थ लिया तो बड़ी भ्रान्ति होगी और इससे बड़ी तकलीफ होगी। महावीर को जिस दिन इस तरह सर्वज्ञ माना जैनों ने, उसी दिन तकलीफ में पड़ गये। फिर उनकी इस बात की बुद्ध ने बहुत मजाक उड़ायी। बुद्ध ने बहुत जगह बहुत मजाक उड़ायी है। असल में वह महावीर की सर्वज्ञता के अनुयायियों की मजाक है। क्योंकि अनुयायियों ने जो दावा करना शुरू किया वह यह है कि महावीर सब जानते हैं। तो बुद्ध ने बहुत जगह मजाक में कहा है कि मैंने सुना है कि किसी के सम्बन्ध में कुछ लोग दावा करते हैं कि वह सर्वज्ञ हैं। लेकिन उन्हें मैंने ऐसे घर के सामने भीख माँगते देखा है कि जिस घर में कोई था ही नहीं। पीछे पता चला कि घर खाली है। उन्हें मैंने सुबह के धुँधले अँधेरे में चलते हुए देखा है और सुना है कि कुत्ते की पूँछ पर पैर पड़ गया तब उन्हें पता चला कि कुत्ता रास्ते में सोया था। यह बुद्ध ने मजाक उड़ायी है—सर्वज्ञता के उस अर्थ की। सर्वज्ञता का वह अर्थ नहीं है। बुद्ध ने कहा है, जिन्हें लोग सर्वज्ञ कहते हैं उनके सम्बन्ध में मैंने सुना है कि वह भी गाँव के बाहर आकर लोगों से पूछते हैं कि यह रास्ता कहाँ जाता है। तो ठीक है, महावीर को भी पूछना पड़ता है कि रास्ता कहाँ जाता है। लेकिन यह मजाक महावीर की नहीं है। महावीर का ऐसा कोई दावा नहीं है। दावेदार अनुयायी हैं। वे कहते हैं कि उनके महावीर सब जानते हैं। कौन-सा रास्ता कहाँ जाता है, यह भी जानते हैं।

नहीं, सर्वज्ञ का दूसरा ही अर्थ है। बहुत निगेटिव। यह बहुत पॉजीटिव अर्थ गलत है। यह बहुत विधायक कि सब जानते हैं। नहीं, सर्वज्ञ का निषेधात्मक

अर्थ है कि जानने को कुछ शेष नहीं रहा। ऐसा कुछ नहीं बचा जो जानने योग्य है। रास्ता कहाँ जाता है, यह भी कोई जानने योग्य बात है। घर में कोई है या नहीं, यह भी कोई जानने योग्य बात है, न जाना तो हर्ज क्या है? रास्ते पर कुत्ता सोया है या नहीं सोया है, यह भी कोई जानने योग्य बात है? न जाना तो हर्ज क्या है?

सर्वज्ञ का, मेरी दृष्टि में, जो अर्थ है वह यह कि ऐसा कुछ भी नहीं बचता आत्म-तत्त्व में, जो जानने योग्य है और न जान लिया गया हो। जो भी जानने योग्य है वह जान लिया गया—आल दैट इज वर्थ नोइंग। कामचलाऊ जगत् में बहुत-सी बातें मालूम पड़ती हैं कि जानने योग्य हैं, लेकिन उन्हें जानने से क्या फर्क पड़ता है। सर्वज्ञ का मेरे लिए जो अर्थ है वह है—ऐसा कुछ भी नहीं बचा जो जानने योग्य है। ऐसा कुछ भी नहीं बचा, जिसके कारण जीवन के आनन्द में रत्तीभर भी फर्क पड़ता हो। ऐसा कुछ भी जानने को नहीं बचा जिससे सच्चिदानन्द होने में कोई भी भेद पड़ता है। रास्ता यह बायें जाता है तो पहुँचता होगा कहीं। रास्ता दायें जाता है तो पहुँचता होगा कहीं, लेकिन इससे सच्चिदानन्द स्वरूप मे कोई फर्क नहीं पड़ता है। और महावीर भटक भी जाये और गलत गाँव पहुँच जायें तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि ठीक मंजिल पर पहुँचा हुआ आदमी कहीं भी भटके, क्या फर्क पड़ता है! और हम जो कि ठीक मंजिल पर नहीं पहुँचे, बिलकुल ठीक गाँव भी पहुँच जायँ तो क्या होने को है? और हमें सब रास्ते बिलकुल ठीक-ठीक पता हैं, हम बिलकुल भौगोलिक नकशा हैं तो भी क्या फर्क पड़ता है?

सर्वज्ञ के गलत अर्थ के कारण महावीर को बहुत मखौल व्यर्थ झेलनी पड़ी उनके पीछे चलने वाले लोगों की वजह से। क्योंकि उन्होने जो दावे किये, वह बेमानी थे। इसलिए अब बड़ी तकलीफ है उन दावेदारो को। अभी जैसे कि पहली दफा अन्तरिक्ष यात्री चाँद पर उतरे तो जैन साधुओं को बड़ा कष्ट हुआ। कष्ट हुआ—क्योंकि वह कहते हैं कि उनके शास्त्र में लिखा है कि चाँद कैसा है। लेकिन चाँद वैसा नहीं पाया गया। और शास्त्र को उन्होंने कहा है, जो सर्वज्ञ थे तो उनकी बात गलत हो नहीं सकती! तो जैन साधुओं ने यहाँ तक कहा कि यह लोग भ्रान्ति में हैं कि चाँद पर उतर गये हैं। ये चाँद पर नहीं उतरे, बल्कि चाँद के इस तरफ देवताओं के जो वाहन ठहरे रहते हैं, बैलगाड़ियाँ, रथ, ये उन पर उतर गये हैं। और वहीं से लौट आये, ये चाँद पर नहीं उतरे हैं। एक जैन मुनि ने तो पैसा इकट्ठा करना शुरू कर दिया और नासमझ मिल गये जिन्होंने लाखों रुपया भी दिया, यह सिद्ध करने के लिए कि वह सिद्ध करेंगे प्रयोगशाला

में कि वे किसी देवता के वाहन पर उतर कर लौट आवें वापस, चाँद तक नहीं पहुँचे। चाँद पर पहुँचेंगे तो चाँद वैसा ही होगा जैसा हमारे शास्त्र में लिखा है। क्योंकि वह शास्त्र सर्वज्ञ का कहा हुआ है। अगर ऐसा दावा किया तो वह शास्त्र दो कौड़ी का हो जायगा हमारी नासमझी की वजह से।

अगर तुम्हारे शास्त्र में कहीं भी कहा हुआ है कि चाँद कैसा है और पत्थर होता है तो वह शास्त्र का वक्तव्य उस जमाने के वैज्ञानिक का वक्तव्य है, आत्मज्ञानी का नहीं। और आत्मज्ञानी को क्या मतलब है कि वह वक्तव्य दे कि चाँद पर किस तरह के पत्थर हैं और किस तरह के नहीं हैं। और अगर देता भी हो ऐसा वक्तव्य तो वह आत्मज्ञानी की हैसियत से दिया गया नहीं है। पर इससे बड़ी मुश्किल होती है। अब आइन्स्टीन जैसा विचारक है, गणितज्ञ है। पर गणितज्ञ होने पर ही पूरा समाप्त थोड़ी है, उसकी जिन्दगी में और भी बहुत-कुछ है। जब वह ताश खेलता है तब गणितज्ञ नही है। और जब किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है तब गणित का क्या लेना-देना है। तब अगर वह स्त्री से कह दे कि तुमसे सुन्दर कोई भी नही तो यह कोई मैथमेटिकल स्टेटमेण्ट नहीं है, कि इसको कल कोई दावा करे कि आइन्स्टीन ने कहा, कि इतना बड़ा गणितज्ञ, उसने सारी दुनिया की स्त्रियों के सौन्दर्य को नाप-जोख के कहा होगा कि यह स्त्री सबसे ज्यादा सुन्दर है। नहीं, यह तो कोई भी कहता रहा है। हर स्त्री को यह कहने वाले मिल जाते हैं। इसके लिए किसी के गणितज्ञ होने की जरूरत नही है। यह गणितज्ञ की हैसियत से नहीं कहा गया है। यह हैसियत एक प्रेमी की है।

तो सर्वज्ञ का अर्थ है कि अब ऐसा कुछ भी नही बचा है जिसे जानने से उसके आनन्द में कोई बढ़ती होगी। उसका आनन्द पूरा है। ऐसा कोई भी अज्ञान नहीं बचा है जो उसके आनन्द मे बाधा डालता हो। उसका सब अज्ञान नष्ट हो गया। उसका क्रोध, उसका मोह, उसका लोभ नष्ट हो गया। वह परम आनन्दित है। सर्वज्ञ का अर्थ है परम आनन्द में प्रतिष्ठित। ऐसे ज्ञान को जान लिया जिसने, वह आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है और दुख की सम्भावना विदा हो जाती है।

तो आत्मतत्त्व सर्वज्ञ है, इस अर्थ में—त्रिकालज्ञ के अर्थ में नहीं कि तीनों काल का उसे पता है। कि कल क्या होगा और परसों क्या होगा। कि एलेक्शन में कौन जीतेगा और कौन नहीं जीतेगा। ऐसा उसे कुछ भी पता नहीं है। ऐसा पता करने का कोई कारण भी नहीं है, कोई जरूरत भी नहीं है। यह सारा समय के भीतर होने वाला खेल उसके लिए पानी पर खींची गयी रेखाओं जैसा हो गया है। वह इसका कोई हिसाब नहीं रखता है। यह उसके लिए स्वप्नवत् हो गया

है कि कौन जीतता है और कौन हारता है। यह बच्चों की दुनिया की बात हो गयी, वह प्रौढ़ हो गया। उसे इस सबसे कोई लेना-देना नहीं है। उस तत्त्व को जान कर सर्वज्ञता आ जाती है। अर्थात् अज्ञान गिर जाता है। अर्थात् लोभ, मोह, क्रोध जो अज्ञान से पैदा होते हैं, वे गिर जाते हैं। अर्थात्, आनन्द—जो ज्ञान से जन्मता है, वह उपलब्ध हो जाता है। वह दिया जल जाता है, जो ज्ञान का है और जिसकी रोशनी में परम आनन्द की प्रतिष्ठा है। शाश्वत, नित्य आनन्द की प्रतिष्ठा है।

ऐसा जो आत्मतत्त्व है उसका तीसरा लक्षण कहा है, शुद्ध—सदा शुद्ध, सदा पवित्र, सदा निर्दोष। जब हम अशुद्ध हुए मालूम पड़ते हैं तब भी वह अशुद्ध नहीं हुआ। हमारी सारी अशुद्धि हमारी भ्रान्ति है। जैसा कल मैं रात कह रहा था कि सूर्य का प्रतिबिम्ब गन्दे डबरे में भी उतना ही शुद्ध है, ऐसा ही वह आत्मतत्त्व रावण के भीतर भी उतना ही शुद्ध है जितना राम के भीतर। जरा भी फर्क नहीं है उसकी शुद्धि में। असल में शुद्ध होना उसका कोई सांयोगिक लक्षण नहीं है। वह उसका स्वभावगत लक्षण है। इसलिए सांयोगिक लक्षण और स्वभावगत लक्षण के भेद को समझ लें तो यह बात ख्याल में आ जायेगी।

दो तरह के लक्षण होते हैं। एक है एक्सीडेंटल, सांयोगिक। दूसरा है स्वभावगत। सांयोगिक लक्षण वह है, जो फॉरेन है, विजातीय है। जो आपसे जुड़ता है, आपके भीतर से नही आता। जैसे एक आदमी बेईमान है। बेईमानी एक्सीडेंटल है, सांयोगिक है। स्वरूपगत नही है। सीखी गयी है, अर्जित है। इसीलिए तो कोई आदमी चौबीस घण्टे बेईमान नहीं रह सकता। बेईमान-से-बेईमान भी चौबीस घण्टे बेईमान नहीं रह सकता। क्योंकि जो भी अर्जित है वह बोझ रूप है, उसे उतार कर रखना पड़ता है, विश्राम करना पड़ता है। वह स्वभाव नहीं है। इसलिए बेईमान-से-बेईमान आदमी किन्हीं के साथ ईमानदार होता है। और कई बार तो ऐसा होता है कि बेईमान आदमी आपस में जितने ईमानदार होते हैं, उतने ईमानदार आदमी भी आपस में ईमानदार नहीं होते। उसका कारण है कि जिसको हम ईमानदारी कहते हैं, वह भी अर्जित है। उससे भी छुटकारा लेना पड़ता है। जो भी चीज अर्जित है, एक्सीडेंटल है उसके साथ आप सदा नहीं हो सकते। आपको बीच-बीच में छुट्टी लेनी पड़ेगी। आपको थोड़ी छुट्टी लेनी पड़ेगी नहीं तो बोझ हो जायगा, तनाव बढ़ जायगा। इसलिए गम्भीर आदमी को मनोरंजन करना पड़ता है। नही तो गम्भीरता बोझ हो जाती है। महावीर को या बुद्ध को मनोरंजन की कोई जरूरत नहीं होती। क्योंकि कोई गम्भीरता का बोझ ही नहीं है। यह आप ध्यान में ले लें। हम आमतौर

पर समझते हैं, वह इतने गम्भीर हैं, इसलिए सिनेमा गृह में नहीं बैठते, नाटक देखने नहीं जाते। नहीं, अगर इतने गम्भीर हैं तो उनको नाटक देखने जाना ही पड़ेगा। नहीं, वह गम्भीर हैं ही नहीं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि वह गैरगम्भीर हैं। गम्भीरता और गैरगम्भीरता बेमानी हैं। वह तो वही हैं, जो निजता है, जो स्वभाव है। वह कुछ अर्जित नहीं करते ऊपर से, इसलिए किसी चीज से छुट्टी नहीं लेनी पड़ती। अगर किसी आदमी ने सन्तत्व को भी आदत बना ली तो उसको हॉली-डे पर आना पड़ेगा। उसको दो-चार दिन के लिए, महीने-पन्द्रह दिन में सन्तत्व से छुट्टी लेनी पड़ेगी। और जब तक घण्टे-दो घण्टे वह गैर सन्त की दुनिया में प्रवेश न कर जाय तब तक वापिस फिर सन्त होना नहीं हो पायगा। मुश्किल पड़ जायेगी।

एक्सीडेंटल क्वालिटी, सांयोगिक गुण वे हैं, जो हम सीखते हैं, अर्जित करते हैं। बाहर से जो हम पर आते हैं। भीतर से नहीं आते। सब कुछ हमारा सीखा हुआ है। जैसे समझें भाषा—भाषा सांयोगिक है, सीखी हुई है। कोई हिन्दी सीख सकता है, कोई मराठी, कोई अंग्रेजी, कोई जर्मन। हजार भाषाएँ हैं। और हजार और हो सकती हैं, कोई अड़चन नहीं है। एक-एक आदमी एक-एक भाषा बोल सकता है। कोई अड़चन नहीं है। जितनी भाषाएँ हम बना सकते हैं, सब सांयोगिक हैं। लेकिन मौन? मौन सांयोगिक नहीं है। इसलिए दो आदमी बोलते हों तो बोलने में भेद हो सकता है, लेकिन दो आदमी पूरी तरह मौन हो जायें तो उनमें कोई भेद नहीं हो सकता है। भाषा में विवाद हो सकता है, मौन में कोई विवाद नहीं हो सकता। और जब दो आदमी बिलकुल मौन होते हैं तो उनकी भीतरी क्वालिटी मे कोई फर्क नहीं रह जाता। दो साइलेंस मे क्या फर्क होगा? दो मौन में क्या भेद होगा? लेकिन मौन अगर ऊपर से थोपा हुआ हो तो भेद होगा, क्योंकि भीतर भाषा चलती रहेगी। सिर्फ चुप हैं दो आदमी तो भेद होगा। मैं चुप बैठा हूँ, आप मेरे बगल मे चुप बैठे हैं। मैं अपना सोचता रहूँगा, आप अपना सोचते रहेंगे। सोचना जारी रहेगा। ओठ बन्द रहेंगे। ओंठ तो लगेंगे, बिलकुल एक-से हैं, लेकिन भीतर सब भेद चलता रहेगा। हम भीतर हजारों मील के फासले पर होंगे। पता नहीं आप कहाँ होंगे, और मैं कहाँ। लेकिन अगर सच में मौन आ गया—ऊपर से अर्जित नहीं, भीतर से खिला हुआ। ऊपर से थोपा गया नहीं, भीतर से आविर्भूत। हम बिलकुल ही चुप हो गये। भीतर भी शब्द खो गये, भाषा खो गयी, तो मुझमें और आपमें कौन-सा भेद होगा? कौन-सा फासला होगा? हम एक ही जगह हो जायेंगे। हम एक जैसे हो जायेंगे। हमारी ज्योतियाँ धीरे-धीरे मौन होते-होते एक

क्योंकि एक बचेगी। दो भी नहीं बच जायेंगी। क्योंकि दो का —अन्तर करनेवाली बीच की कोई बाउण्ड्री, लाइन नहीं बची। भेद से बनती है सीमा, अभेद में गिर जाती है। तो मौन तो—चिर मौन, अन्तर मौन, स्वभाव है। भाषा सांयोगिक है। जो-जो सांयोगिक है वह सदा रहने वाला नहीं है। इसलिए मजे की बात है, आप चौबीस घण्टे क्रोध नहीं कर सकते, लेकिन चौबीस घण्टे क्षमा में हो सकते हैं। सोचें इसे, चौबीस घण्टे क्रोध में नहीं हो सकते। क्रोध में चढ़ेंगे—उतरेंगे। चौबीस घण्टे क्रोध में नहीं हो सकते। लेकिन क्षमा में चौबीस घण्टे होने में कोई बाधा नहीं है। चौबीस घण्टे हो सकते हैं। घृणा में अगर जीना हो तो चौबीस घण्टे नहीं जी सकते, नर्क हो जायगा खुद के लिए। लेकिन अगर प्रेम में जीना हो तो चौबीस घण्टे जी सकते हैं। लेकिन जिसे अभी हम प्रेम कहते हैं उसमें तो नहीं जी सकते। क्योंकि वह कोई प्रेम नहीं है, वह भी पीरियाडिकल है, वह भी सावधिक है। चौबीस घण्टे में दस-पाँच मिनट प्रेम पूर्ण हो सकते हैं, बाकी नहीं हो सकते। और अगर कोई ज्यादा आग्रह करे कि और प्रेमपूर्ण हों तो दस-पाँच मिनट भी होना मुश्किल हो जाय। क्यो? क्योंकि जो स्वभाव है उसी में हम सदा हो सकते हैं। जो भी विभाव है और बाहर से लिया गया है उसमें हम सदा नहीं हो सकते। उसे उतारना ही पड़ेगा। उस बोझ से हटना ही पड़ेगा।

आत्मा शुद्ध है, इसका यह अर्थ नही है कि वह कभी अशुद्ध हो जाती है और फिर हमें शुद्ध करनी पड़ती है। अगर आत्मा अशुद्ध हो सके तो फिर हम शुद्ध न कर पायेंगे। फिर कौन शुद्ध करेगा? हम ही अशुद्ध हो गये। शुद्ध करने वाला भी नहीं बचेगा। कौन करेगा शुद्ध? जो शुद्ध कर सकता था, वह खुद ही अशुद्ध हो गया है। अब तो वह अशुद्ध आत्मा जो भी करेगी वह सभी अशुद्ध होगा। नही, आत्मा अशुद्ध हो जाती है और हमें शुद्ध करनी पड़ती है, ऐसा नहीं। आत्मा शुद्ध है ही। सिर्फ हम अशुद्ध गुणों को अपने चारों तरफ इकट्ठा कर लेते हैं, जैसे कि एक दिये के चारों तरफ हम काला पर्दा लटका दें। दिया इससे अँधेरा नहीं हो जाता। दिया अब भी अपनी रोशनी में ही जलता है। लेकिन चारों तरफ का काला पर्दा रोशनी को बाहर फैलने से रोक देता है। और अगर दिया हमारे जैसा पागल हो और धीरे-धीरे भूल जाय कि मैं दिया हूँ और समझने लगे कि मैं काला पर्दा हूँ तो जो कठिनाई पैदा हो जायेगी वही कठिनाई हमारे साथ है। हमारा स्वयं के निज स्वभाव से तो सम्बन्ध टूट जाता है और शरीर और मन और विचार और वृत्ति और वासना का जो हमारे चारों तरफ जाल है उससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। हम कहने लगते हैं, यह हूँ मैं। वह, जो भीतर

है, वह किसी चीज के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है और कहने लगता है, यह हूँ मैं। और इतना शुद्ध है वह भीतर का तत्त्व, इतना निर्मल है कि किसी भी चीज की जब छाया उसमें बनती है तो पूरी बन जाती है। और उस छाया को हम पकड़ लेते हैं। कहने लगते हैं, यह हूँ मैं। शुद्धि के कारण ही यह दुर्घटना भी घटती है। अगर दर्पण होश में आ जाय और आप दर्पण के सामने खड़े हों और दर्पण अपने भीतर झाँक कर देखे और पाये कि आपकी तस्वीर बनी और आपको सामने खड़ा देखे, और दर्पण कहे कि यह हूँ मैं, वही भूल हो जाती है।

शुद्ध है आत्मा। उसकी शुद्धि के कारण इतनी निर्मल झील की तरह है कि जो भी उसके पास आता है, वह उसमें दर्पण की तरह झलकता है। जो भी। शरीर पास आता है तो दर्पण की तरह झलकता है और आत्मा कहती है, मैं हूँ शरीर। और कितना शरीर बदलता जाता है, फिर भी आपको ख्याल नहीं आता कि कितने शरीरों से आप अपना तादात्म्य कर लेते हैं। अगर माँ के पेट मे जो पहला अणु बनता है, वह निकाल कर आपके सामने रख दिया जाय और कहा जाय कि ये थे आप एक दिन। तो आप बिलकुल इनकार करेंगे कि ये और मैं! कभी नहीं! अगर आपके बचपन से ले कर बुढ़ापे तक के रोज दस-पाँच चित्र लिये जायँ तो एक लम्बी सीरीज, श्रृंखला चित्रों की हो जायेगी। हर चित्र से आपने एक दिन कहा है कि यह हूँ मैं। कहाँ बचपन का चित्र और कहाँ बुढ़ापे का चित्र! कहाँ जन्म लेता हुआ बच्चा और कहाँ कब्र में उतरता ताबूत! इन सबसे आप एक रहे हैं। जो-जो दर्पण में आपके झलका है, आपने कहा है, यह हूँ मैं। दिस इज मी—यही हूँ मैं। कल फिर दर्पण पर दूसरी झलक आयी और आपने कहा, यही हूँ। कभी अपने बचपन के चित्र को उठा कर और फिर अपनी जवानी के चित्र को उठा कर देखें, कोई भी ताल-मेल है उनमें? कोई भी सम्बन्ध है? यह आप हैं? नहीं, एक दिन दावा किया था यह, फिर स्मृति में दावा बैठ गया, अभी भी है कि एक दिन मैं यह था। रोज शरीर बदलता है। वैज्ञानिक कहते हैं सात वर्षों में शरीर का कण-कण बदल जाता है, एक कण भी नहीं बचता पुराना। लेकिन आइडेण्टिटी जारी रहती है। तादात्म्य जारी रहता है। हड्डी बदल जाती है, मांस बदल जाता है, खून बदल जाता है, सब सेल्स बदल जाते हैं, सब बदल जाता है सात साल में। सत्तर साल एक आदमी जीता है तो दस बार टोटल शरीर बदल चुका होता है। पूरा शरीर दस बार बदल चुका होता है। शरीर प्रतिपल बदल रहा है। लेकिन एक शुद्ध दर्पण है भीतर। जो भी झलक बनती है, जो भी तस्वीर बनती है, वह कह देती है, यह हूँ मैं।

यही तादात्म्य टूट जाय, यही नासमझी टूट जाय, यह हम कहना छोड़ दें कि

यह हूँ मैं, और कहने लगें, इस सबको जानने वाला हूँ मैं, इस सबका साक्षी हूँ मैं, विटनेस हूँ मैं। मैंने बचपन को भी जाना था, वह मैं नहीं था। मैंने जवानी भी जानी, वह भी मैं नहीं था। मैं बुढ़ापा भी जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूँ। मैंने जन्म भी जाना, वह भी मैं नहीं हूँ। मृत्यु भी मैं जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो वह हूँ, जिसने यह सब कुछ जाना। एक लम्बी सीरीज है। यह फिल्मों का लम्बा काफिला, यह सब जाना जिसने—वह हूँ मैं। जानने वाला हूँ मैं, जो जाना जाता है वह नहीं हूँ। जो प्रतिफलित होता है, प्रतिबिम्बित होता है वह नहीं हूँ मैं। जिसमें प्रतिबिम्बित होता है वह हूँ मैं। तब आत्मा परम शुद्ध है। तब वह निर्मल दर्पण है, तब वह बिलकुल निर्दोष झील है। जहाँ कोई लहर अशुद्धि की कभी नहीं उठी।

जब उपनिषद् कहते हैं कि शुद्ध बुद्ध है वह, शुद्ध है पूरा। लेशमात्र भी कोई अशुद्धि कभी आत्मा में प्रवेश नहीं की है। तो इस तादात्म्य को तोड़कर वे कहते हैं, हम भी उतने ही शुद्ध हैं। कोई कभी अशुद्ध हुआ नहीं, हो नहीं सकता है, उपाय नहीं है। लेकिन तादात्म्य अशुद्ध कर जाता है। तादात्म्य पापी बना देता है, पुण्यात्मा बना देता है। ध्यान रहे, पुण्यात्मा भी शुद्ध नहीं है। क्योंकि पुण्य से तादात्म्य है उसका। कोई कहता है कि लोहे की जंजीर हूँ मैं और कोई कहता है, सोने की जंजीर हूँ मैं। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है ? बाजार में कीमत अलग होगी सोने और लोहे की, लेकिन तादात्म्य जारी है। कोई कहता है, पापी हूँ मैं, कोई कहता है, पुण्यात्मा हूँ मै। जब तक हम कहते हैं, 'यह हूँ मैं', तब तक हम अशुद्ध अपने को नाहक किये चले जाते हैं। होते नही और फिर भी किये चले जाते हैं। जिस दिन हम कह देते हैं, यह भी नहीं हूँ मैं, वह भी नहीं हूँ—नेति नेति जिस दिन हम कह देते हैं—नाट दिस, नाट दैट। मैं तो वह हूँ, जिसमें सब प्रतिबिम्बित होता है। मैं तो वह दर्पण हूँ, जिसमें सब छायाएँ बनती हैं और खो जाती हैं। मैं हूँ शून्य, जिसमें सब झलकता है और बिदा हो जाता है। न मालूम कितने जन्म झलके। न मालूम कितने शरीर झलके। न मालूम कितने रूप, न मालूम कितनी आकृतियाँ। न मालूम कितने अर्जित गुण, न मालूम कितनी योग्यताएँ। कितने पद, कितनी उपाधियाँ।

अनन्त-अनन्त यात्रा है, लेकिन झील एक है। और झील सदा निर्मल है। झील के किनारे पर से यात्री गुजरते जाते हैं, झील में नये-नये प्रतिबिम्ब बनते जाते हैं और झील सोचती चली जाती है, यह हूँ मैं, यह हूँ मैं। कभी राह से गुजरता है कोई चोर और झील कहती है, चोर हूँ मैं। और कभी राह से गुजरता है कोई साधु और झील कहती है, साधु हूँ मैं। और कभी राह से गुजरता है कोई पुण्यात्मा और झील कहती है, पुण्यात्मा हूँ मैं। और कभी गुजरता है कोई पापी और झील

कहती है, पानी हूँ मैं । और झील कहे चली जाती है और राह के किनारे से काफिले गुजरते चले जाते हैं प्रतिबिम्बों के। और इतनी तेजी से गुजरते हैं वह कि एक प्रतिबिम्ब मिट नहीं पाता है कि दूसरा बन जाता है । बीच में क्षण नहीं मिलता कि हम देख लें उस झील को, जिसमें कोई प्रतिबिम्ब नहीं है ।

ध्यान की प्रक्रिया उस बीच के गैप को देने की है—एक अन्तराल, एक इन्टरवल देने की है । जब कोई प्रतिबिम्ब नहीं बनता और बीच में हम झांक कर देख लेते हैं कि मैं तो झील हूँ, काफिला नहीं हूँ—वह जो गुजरता है किनारे से, वह नहीं हूँ । वह जो चित्र मुझ पर बनते हैं, वह मैं नहीं हूँ । मैं तो वह हूँ, जिस पर सब बनता है और जो फिर भी अन-बना है । मैं अन-बना छूट जाता हूँ—अनिर्मित, असृष्ट । ये तीन बातें ख्याल में ले लें । बाकी और जो बातें ईशावास्य ने गिनायी हैं, वह इनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥९॥

बहुत गहन और बहुत गहरे तल से कही गयी है बात। बड़े साहस की उद्-घोषणा है। ऋषि ही कह सकते हैं। कहा है कि **जो अविद्या के मार्ग पर चलते हैं वे तो अंधकार में भटकते ही हैं, जो विद्या के मार्ग पर चलते हैं वे महा अन्धकार में भटक जाते हैं।** मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे साहस की उद्घोषणा दूसरी खोजनी मुश्किल है। दूसरा समानान्तर सूत्र पूरे मनुष्य-जाति के इतिहास में खोजना मुश्किल है इतने साहस का, जिसमें कहा है, अज्ञानी तो भटकते ही हैं अंधकार में, ज्ञानी महा अंधकार में भटक जाते हैं। जिसने कहा है उसने बड़े गहरे जान कर कहा है। अज्ञानी भटकते हैं, यह हमारी समझ में आ जाता है, इसमें कोई अड़चन नहीं है। बात सीधी और साफ है। निश्चित ही अज्ञानी भटकते हैं। लेकिन ऋषि कहता है, अंधकार में—गहन अन्धकार में नहीं, महा अन्धकार में नहीं। अज्ञानी केवल अन्धकार में ही भटकते हैं। फिर ज्ञानी महा अन्धकार में क्यों भटक जाते हैं? और अगर अज्ञानी अन्धकार में भटकते हैं और ज्ञानी महा अन्धकार में भटक जाते हैं तो फिर भटकने से छूटने का उपाय कहाँ बचा? अज्ञानी सिर्फ अन्धकार में भटकता है, बहुत गहन में नहीं। क्योंकि अज्ञान कितना ही भटकाता है, ज्यादा नहीं भटका सकता है। **ज्यादा भटकाने वाला तत्त्व अज्ञान नहीं, अहंकार है।** अज्ञान में भूलें हो सकती हैं, लेकिन अज्ञान सदा भूलों को सुधारने को तत्पर होता है। इसलिए बहुत नहीं भटकाता। अज्ञान भूलें करने को सदा ही तैयार है, लेकिन सुधारने को भी सदा तैयार है। अज्ञान की अपनी विनम्रता है। ध्यान रखें, अज्ञान की अपनी ह्युमिलिटी है। इसलिए बच्चे जल्दी सीख पाते हैं, बूढ़े जल्दी नहीं सीख पाते। क्योंकि बच्चे अज्ञानी हैं, जो सुधरने को तत्पर हैं।

भूल बतायी कि वे सुधार लेंगे। लेकिन बूढ़ों को अगर भूल बतायी तो वे नाराज हो जाते हैं, सुधारेंगे नहीं। पहले तो सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि यह भूल ही नहीं है। बच्चे को भूल बतायी तो वह राजी हो जायगा कि भूल है। वह सुधार लेगा। इसलिए बच्चे इतने जल्दी सीख पाते हैं। बच्चे दिनो में जो सीख लेते हैं बूढ़े वर्षों मे नहीं सीख पाते। सीखने की क्षमता उनकी क्षीण हो जाती है। क्या बात है? बूढ़े के सीखने की क्षमता तो बढ़नी चाहिए। नही, लेकिन बूढ़ा ज्ञान के भ्रम को उपलब्ध हो जाता है। बच्चा सिर्फ अन्धकार मे है, बूढ़ा एक और गहन अन्धकार में गिरता है। उसको भ्रम पैदा होता है कि मैं कुछ जानता हूँ। बच्चा जानता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ इसलिए वह सीखने को तैयार है। जो भी आप बतायें, वह राजी है। तो बच्चे अन्धकार में ही भटक सकते हैं। बूढे महा अन्धकार मे भटक जाते है।

अज्ञानी विनम्र है। और अज्ञान का बोध आ जाय तो महा विनम्र हो जाता है। अज्ञान का स्मरण आ जाय, याद आ जाय कि मै अज्ञानी हूँ, नही जानता हूँ, तो अहंकार के खड़े होने के लिए जगह नही रह जाती। अहंकार कहाँ निर्माण करे अपने भवन को, उसे कोई स्थान नही मिलता। यह भी मजे की बात है कि **अज्ञान अगर बोधपूर्ण हो जाय कि मैं अज्ञानी हूँ तो भटकाव टूटने लगता है, बन्द होने लगता है, भूल-चूक बन्द होने लगती है।** राह पर आने लगता है आदमी। और ज्ञानी अगर ख्याल से भर जाय कि मैं ज्ञानी हूँ तो महा अन्धकार में उतरना शुरू हो जाता है। अज्ञानी को ख्याल आ जाय कि मैं अज्ञानी हूँ तो प्रकाश की तरफ यात्रा शुरू हो जाती है। और ज्ञानी को ख्याल आ जाय कि मैं ज्ञानी हूँ तो महा अन्धकार की तरफ कदम उठने शुरू हो जाते हैं। क्योंकि अज्ञान की स्मृति विनम्रता में ले जाती है और ज्ञान का दम्भ, ज्ञान का दावा अहंकार में ले जाता है। **असली भटकाव अहंकार है।** अज्ञान गहन अन्धकार नही है। वह संध्या की भाँति है। सूरज नही है, ज्ञान का प्रकाश अभी नही है। लेकिन अभी अहंकार की अँधेरी रात भी नहीं है। सध्या की तरह है। अज्ञान द्वार पर खड़ा है, जहाँ से प्रकाश में भी जाया जा सकता है। लेकिन ज्ञानी को जैसे-जैसे दम्भ मजबूत होता है और ख्याल आता है कि 'मैं जानता हूँ', 'मैं जानता हूँ', 'मैं जानता हूँ'—जितना ही यह मजबूत होता चला जाता है उतनी अन्धेरी रात शुरू होने लगती है, संध्या खो जाती है। अब वह गहरी रात में उतर रहा है। और जितना मजबूत होता चला जायगा दम्भ, उतनी रात अमावस की होती चली जायेगी।

अहंकार महा अन्धकार में ले जाता है, इसलिए बहुत मजे की घटना इस जगत् मे घटती है कि ज्ञानी अपने को कहने लगते हैं कि हम अज्ञानी हैं, नहीं जानते।

और अज्ञानी दावे करते चले जाते हैं कि हम जानते हैं। फिर उपाय क्या है? फिर मार्ग क्या है? अज्ञान भी भटका देता है, ज्ञान भी भटका देता है।

फिर हम जायें कहाँ? हम करें क्या? कहाँ से है मार्ग?

दो बातें ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं। एक तो सदा अपने अज्ञान के स्मरण को बढ़ाते चले जायें। अज्ञान का स्मरण अज्ञान की हत्या है। टु बिकम अवेयर आफ वन्स इगनोरेंस—बस अज्ञान कटने लगा। यह बोध कि मैं अज्ञानी हूँ ऐसा ही है, जैसे किसी ने दिया जला दिया हो और कमरे के भीतर अँधेरे को खोजने चला गया हो। और कहा कि मैं दिया जलाकर देखूँ कि अँधेरा कहाँ है। दिया जला और अँधेरे को खोजने निकल पड़ा। अँधेरा फिर कहीं नहीं मिलेगा। बोध घना हुआ भीतर कि मैं जानूं कि कहाँ-कहाँ अज्ञान है और अज्ञान जहाँ-जहाँ है, वहाँ जाऊँ और जानूं कि यहाँ-यहाँ अज्ञान है। **जहाँ-जहाँ गये बोध के दिये को लेकर, वहाँ-वहाँ अज्ञान नहीं है।** तो पहली बात कि अज्ञान की स्मृति—रिमेंबरेंस—स्मरण कि मैं अज्ञानी हूँ। अगर कभी भी ज्ञान के जगत् में प्रवेश करना हो तो अज्ञान के प्रति होश से भर जाना। और दिन-रात खोज में लगे रहना कि कहाँ-कहाँ मेरा अज्ञान है। और जहाँ अज्ञान दिखायी पड़े वहाँ तत्काल स्वीकार करना, क्षणभर की देर मत करना। और जो दर्शा दे कि यह अज्ञान है उसके चरणों पर सिर रख देना, वह गुरु हो गया। और अपने अज्ञान को सिद्ध करने की कोशिश मत करना कि नहीं है, क्योंकि मन कोशिश करेगा। अहंकार कहेगा कि मानो मत। मैं और अज्ञानी! कभी नहीं! इसलिए हम सब अपने अज्ञान की जिद किये चले जाते हैं। हम सब कहे चले जाते हैं कि यही ठीक है।

जिन्हें कुछ भी पता नही है वे ठीक के बड़े दावे करते हैं। जिन्हें राह के किनारे पड़े पत्थर का भी कोई पता नहीं, वे भी परमात्मा के सम्बन्ध में दावे किये चले जाते हैं कि मेरा ही परमात्मा ठीक है। जिन्हे कुछ भी पता नहीं उनके दावों का कोई अन्त नही है। अज्ञान बड़ा दावेदार है। वह दावे करता है। दावे से बचना। **और अगर दावा ही करना हो तो सिर्फ अज्ञानी होने का करना।** कहना कि नहीं जानता हूँ। और जितना अवसर मिले, जितनी सुविधाएँ मिलें, जितनी स्थितियाँ मिलें, जहाँ आपका अज्ञान प्रकट होता हो, वहाँ जरूर रुक जाना और जान लेना कि अज्ञानी हूँ। जो आपके अज्ञान की तरफ इशारा करे, उसे गुरु बना लेना। लेकिन हम गुरु उसे बनाते हैं, जो हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। जिसके पास आकर हम थोड़ी ज्ञान की बातें सीख कर और दम्भ से भर कर लौट आयें और कहें कि अब हम भी जानते हैं। जो हमारे ज्ञान के दम्भ को घना करे, उसे हम गुरु कहते हैं। और गुरु असल में वह है, जिसके पास आकर हमें पता लगे कि

हमसे अज्ञानी और कोई भी नहीं है। जो हमारे ज्ञान को छीन ले, जो हमारे ज्ञान के दावों को तहस-नहस कर दे, जो हमारे अहंकार के भवन को भूमिसात् कर दे, जो हमें गिरा दे जमीन पर और कह दे कि कुछ भी तो नहीं हो, कहीं भी तो नहीं हो। कुछ भी तो नहीं जाना है। वही है गुरु—जिससे ज्ञान मिलता है वह नहीं—जिससे हमें अज्ञान का स्मरण मिलता है। और ध्यान रहे, अज्ञान का स्मरण ज्ञान में ले जाता है। और ज्ञान का संग्रह महा अन्धकार में ले जाता है। तो पहली बात,—अज्ञान के प्रति जागना, होश से भरना, अज्ञान को पहचानना, खोजना। अपने को जानना कि महा अज्ञानी हूँ।

दूसरी बात, जहाँ-जहाँ ख्याल आये कि मैं जानता हूँ, वहाँ एक बार रीकंसीडर करना, पुनर्विचार करना। जहाँ-जहाँ ख्याल आये कि मैं जानता हूँ, फिर से सोचना—सच में जानता हूँ? और एक ही बार सोचना काफी हो जायगा। ईमानदार होना और एक बार फिर से सोच लेना कहने के पहले कि मैं जानता हूँ? अज्ञान के प्रति भी होश से भरना और ज्ञान के प्रति भी सचेत रहना कि सच में मैं जानता हूँ? वस्तुतः मुझे पता है? और जब इसकी जाँच करने बैठेंगे तो पता चलेगा; शब्दों का पता है, सिद्धान्तों का पता है, शास्त्रों का पता है, सत्य का कोई भी पता नहीं। जिनके मन में भरे हैं शास्त्र, भरे है शब्द, बोझ लिये है जो शब्दों का, दावे हैं जिनके, वे ज्ञानी ही ऋषि के लिए इस सूत्र में मजाक का कारण बने हैं। कहा है. वे महा अन्धकार में भटक जायेंगे।

सुना है मैंने, एक ईसाई पादरी एक साँझ अपने चर्च मे बोलता है रविवार को। ज्ञानी है, लेकिन उस दिन ऐसा हो गया कि चश्मा लाना भूल गया। आधा ज्ञान मुश्किल में पड़ गया। क्योंकि सब लिख कर लाया था। चश्मे के बिना आधा ज्ञान मुश्किल में पड़ गया। पर अब बताना भी कठिन था कि चश्मा घर भूल आया हूँ। लोग मौजूद थे, सुनने को तैयार थे। तो उसने सोचा कि बिना इसके आज काम चला लूँ। कागज में से कुछ देख-देख कर बोलना शुरू किया। भूलें होनी निश्चित थीं। क्योंकि जो भी कहा जा रहा था वह स्मृति से कहा जा रहा था। और आज स्मृति का बड़ा सहारा घर छूट गया था। ज्ञान से तो कुछ कहा नहीं जा रहा था नहीं तो बिना आँखों के भी कहा जा सकता है, चश्मे की तो जरूरत ही क्या है। जान कर तो कुछ कहा नहीं जा रहा था—स्मरण, स्मृति, मेमोरी से कुछ कहा जा रहा था। सहारा छूट गया था। बीच में बोल रहा था जीसस के चमत्कारों के सम्बन्ध में तो गलती हो गयी। कहा कि जीसस जंगल में थे अपने शिष्यों के साथ। तो जीसस के चमत्कारों में एक चमत्कार है कि चौबीस हजार शिष्य साथ थे और केवल छह रोटियाँ थीं। तो जीसस ने सबको

खिला दिया खाना, फिर भी रोटियाँ बच गयीं। चौबीस हजार शिष्य थे, लेकिन भूल हो गयी और उसने कहा, छह शिष्य थे और चौबीस हजार रोटियाँ थीं और जीसस ने सबको खाना खिला दिया और देखो चमत्कार कि रोटियाँ फिर भी बच गयीं।

अधिक लोग तो सोये थे, जैसा कि मन्दिर और मस्जिद और चर्च में होता है। तो उन्होंने कुछ ख्याल न दिया। कुछ जो जाग रहे थे उन्होंने सुना। लेकिन मन्दिर में और मस्जिद में जाने वाले लोग बुद्धि तो घर रख आते हैं। सुना जरूर, लेकिन समझे नहीं। सिर्फ एक आदमी थोड़ा बेचैन हुआ कि मामला क्या है? यह कैसा चमत्कार है! छह आदमी, चौबीस हजार रोटियाँ! उसने खड़े होकर कहा, महाशय, यह भी कोई चमत्कार हुआ? यह तो कोई भी कर सकता है। पादरी गुस्से से भर गया। उसे पता भी नहीं था कि भूल हो गयी है। वह समझ रहा था कि उसने यही कहा है कि छह रोटियाँ थीं और चौबीस हजार शिष्य थे। पादरी को तो जैसे आग ही लग गयी। उसने कहा, कोई भी कर सकता है? तुम जीसस का अपमान कर रहे हो! उस आदमी ने कहा, महाशय, कोई भी क्या, मैं खुद ही कर सकता हूँ।

पादरी को कुछ समझ में न आया। बाद में उसने लोगों से पूछा। किसी ने कहा, आपसे भूल हो गयी। आप उलटा बोल गये। चौबीस हजार रोटियाँ बोल दीं आपने, छह शिष्य बोल दिये, तो ठीक ही है, यह तो कोई भी कर सकता है। इसमें कोई चमत्कार ही न था।

पादरी ने सोचा, यह तो बहुत दुःखद हो गया। ज्ञानी को धक्का भारी पहुँचा। उसने सोचा, अगली बार उस आदमी को ठीक रास्ते पर लगाना जरूरी है। वह दूसरी बार पूरी तैयारी करके आया। फिर उसने चर्चा के दौरान चमत्कार की बातें निकालीं। और कहा कि जीसस गये जंगल में। चौबीस हजार शिष्य थे, ठीक से सुन लेना, और छह रोटियाँ थीं और जीसस ने लोगों को खाना खिला दिया। सबके पेट भर गये, फिर भी रोटियाँ बच गयीं।

फिर उसने उस आदमी की तरफ देखा, जिसने पिछली बार उसे दिक्कत में डाल दिया था। और कहा, क्यों भाई, अब भी कर सकते हो चमत्कार? उस आदमी ने खड़े होकर कहा, हाँ, अब भी कर सकता हूँ। अब तो वह पादरी बहुत घबरा गया। उसने कहा, अब तुम कैसे कर सकते हो? उस आदमी ने कहा कि पिछली दफे की जो रोटियाँ बची हैं उनके द्वारा!

शब्दों का जाल, कण्ठस्थ शब्द और शास्त्र मखौल ही हैं, मजाक ही हैं। कुछ अर्थ नहीं है बहुत। और दूसरे को ठीक करने की कोशिश बड़ी अज्ञानपूर्ण

है। और अपनी भूल कभी स्वीकार न करने की कोशिश बड़ी अहंकारपूर्ण है। वह गरीब पादरी इतना भी न कह सका कि मुझसे भूल हो गयी। छोटी-सी बात थी, उसी दिन कह देता कि क्षमा करें। लेकिन अहंकार भूल मानने को कभी राजी नहीं। दूसरे से भूल मनवाने को राजी है। तो दूसरी बात स्मरण रखना कि जहाँ भी ख्याल लगे कि मैं जानता हूँ वहीं थोड़ा, फिर से एक बार सोचना। फिर से एक बार पूछना, सच, मैं जानता हूँ, कि शब्द, शास्त्र, सिद्धान्त, स्मृति मात्र है? ध्यान है कुछ, जाना है मैंने कुछ? जिया है मैंने कुछ? कहीं मेरे प्राण ने अनुभव किये हैं कुछ? नाचा हूँ मै उस परमात्मा के अनुभव में? उसकी धड़कनें मैंने अपनी धड़कनों के निकट अनुभव की हैं? या कि सिर्फ रात दिये जलाये और शास्त्रों के शब्द कण्ठस्थ किये हैं? शास्त्र जिनको कण्ठस्थ हो जाते हैं, उनकी बुद्धि से किरोसिन की बास आने लगती है। मिट्टी का तेल—काफी धुआँ इकट्ठा हो जाता है। **पण्डितों से ज्यादा अज्ञानी खोजना बहुत मुश्किल है।**

इसलिए यह सूत्र कहता है—अज्ञानी तो भटकते ही हैं, पण्डित जन महा अन्धकार में भटक जाते हैं। पण्डित बनने से तो अज्ञानी बन जाना अच्छा है। उससे रास्ता है, द्वार है। महा अन्धकार में मत जाना, अन्धकार में ही रहना बेहतर है। उससे प्रकाश में आने में सुविधा पड़ेगी। महा अन्धकार से बड़ी यात्रा करनी पड़ेगी।

आज के लिए इतना। अब हम ध्यान में लगें। अन्धकार से प्रकाश की तरफ दो-चार कदम उठायें।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्या से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१०॥

उपनिषद् अविद्या का अर्थ मात्र अज्ञान नहीं करते हैं। और विद्या का अर्थ मात्र ज्ञान नहीं करते हैं। अविद्या से उपनिषद् का अभिप्रेत भौतिक ज्ञान है। अविद्या से अर्थ है वैसी विद्या, जिससे स्वयं नहीं जाना जाता, लेकिन और सब जान लिया जाता है। अविद्या, पदार्थ विद्या का नाम है। साधारणतः भाषा कोश में खोजने जायेंगे तो अविद्या का अर्थ होगा अज्ञान। लेकिन उपनिषद् अविद्या का अर्थ करते हैं **ऐसा ज्ञान, जो ज्ञान जैसा प्रतीत होता है, फिर भी स्वयं व्यक्ति अज्ञानी रह जाता है।** ऐसा ज्ञान, जिससे हम और सब जान लेते हैं, लेकिन स्वयं से अपरिचित रह जाते हैं। धोखा देता है जो ज्ञान का, ऐसी विद्या को उपनिषद् अविद्या कहते हैं। अगर ठीक से अनुवाद करें तो अविद्या का अर्थ होगा साइंस। बहुत अजीब लगेगी यह बात। **अविद्या का अर्थ होगा पदार्थज्ञान, परज्ञान। और विद्या का अर्थ होता है आत्मज्ञान।** विद्या से सिर्फ ज्ञान अभिप्रेत नहीं है। विद्या से ट्रांसफर्मेशन, रूपान्तरण अभिप्रेत है। जो ज्ञान स्वयं को बिना बदले ही छोड़ जाय, उसे उपनिषद् ज्ञान नहीं कहेंगे, उसे विद्या नहीं कहेंगे। मैंने कुछ जाना और जानकर भी मैं वैसा ही रह गया, जैसा न जानने पर था तो ऐसे जानने को उपनिषद् विद्या न कहेंगे। विद्या कहेंगे तभी, जब जानते ही मैं रूपान्तरित हो जाऊँ। मैंने जाना कि मैं बदला। मैंने जाना कि मैं दूसरा हुआ। जान कर मैं वही न रह जाऊँ, जो मैं न जान कर था। अगर मैं वही रह गया तो वह अविद्या है। अगर मैं रूपान्तरित हो गया तो वह विद्या है। ऐसा ज्ञान जो सिर्फ एडीशन नहीं है, जो आपमें कुछ जानकारी नहीं जोड़ जाता वरन् ट्रांसफर्मेशन है, रूपान्तरण है, आपको बदल जाता है, आपको और ही कर जाता है। **आपको जो नया जन्म दे जाता है, उसे उपनिषद् विद्या कहते हैं।**

सुकरात ने ठीक इसी अर्थों में, उपनिषद् के अर्थों में, एक छोटा-सा सूत्र कहा है। कहा है, नालेज इज वर्च्यू। ज्ञान ही सद्‌गुण है। यूनान में सैकड़ों वर्ष तक इस पर विवाद चला। क्योंकि साधारणतः हम सोचते हैं, अकेले ज्ञान से सद्‌गुण का क्या सम्बन्ध है? एक आदमी जान लेता है, क्रोध बुरा है। फिर भी क्रोध तो नहीं जाता। एक आदमी जान लेता है, चोरी बुरी है। फिर भी चोरी तो बन्द नहीं होती। एक आदमी जान लेता है, लोभ बुरा है। फिर भी लोभ तो जारी रहता है। लेकिन सुकरात कहता है कि जिसने जान लिया है कि लोभ बुरा है, उसका लोभ चला ही जायगा।

जिसने जाना कि लोभ बुरा है और लोभ न गया तो अविद्या है। तो जानने का धोखा है। फाल्स नालेज है। भ्रम पैदा हुआ है। **ज्ञान की कसौटी यही है कि वह आचरण बन जाय तत्क्षण, बनाना भी न पड़े।** अगर कोई सोचता हो कि पहले हम जानेंगे और फिर आचरण में ढालेंगे तो फिर वह विद्या नहीं है, अविद्या है। जानते ही—जैसे कि आपके सामने रखी है कोई चीज और आपको पता चला कि जहर है। आपने जाना कि जहर है, कि जो हाथ उठता था प्याली को लिये होठों की तरफ, वह तत्काल रुक जायगा। जाना कि जहर है और हाथ से प्याली छूटी। जानना ही आचरण बन गया तो विद्या है। और अगर जानने के बाद चेष्टा करनी पड़े, कोशिश करनी पड़े, एफर्ट करना पड़े और आचरण को बदलना पड़े तो फिर आचरण थोपा हुआ है। जबरदस्ती लादा गया है। ज्ञान से निर्मित नहीं है। आरोपित है। और ऐसा ज्ञान जिसको आचरण बनाने के लिए आरोपित करना पड़े, जो अपने-आप आचरण न बने, उसे उपनिषद् अविद्या कहते हैं। **उपनिषद् उसे विद्या कहते हैं, जिसे जाना नहीं कि जीवन बदला—इधर जला दिया, उधर अन्धेरा खो गया।** अगर ऐसा हम कोई दिया बना सकें कि दिया तो जल जाय और अन्धेरा न खोये! अगर हम ऐसा कोई दिया बना सकें कि दिया जल जाय और अन्धेरा न खोये और फिर दिया जला के हमको अन्धेरे को मिटाने की भी अलग से चेष्टा करनी पड़े, तो वह अविद्या का प्रतीक होगा। दिया जला और अन्धेरा नहीं रह जाता है। दिये का जलना अँधेरे का मिट जाना बन जाता है। तो ऐसा दिया, ऐसी विद्या उपनिषद् के अभिप्रेत हैं। इसमें दो बातें और ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं।

ऐसा क्यों होता है कि हम जान लेते हैं, लेकिन रूपान्तरण नहीं होता। न मालूम कितने लोग मुझे आकर कहते हैं कि हमें पता है कि क्रोध बुरा है, जहर है, जलाता है, आग है, नर्क है। फिर भी क्रोध छूटता तो नहीं, जानते तो हम हैं। तो उनसे मैं कहता हूँ कि तुम सोचते हो कि जानते हैं, यहीं तुम्हारी भूल हो रही है।

तुम सोचते हो, जानते तो हम हैं, अब हम क्या करें जिससे कि क्रोध बन्द हो जाय। यहीं तुम्हारी भूल हो रही है। तुम जानते नहीं हो। तुम्हें पता नहीं है कि सच में ही क्रोध नर्क है। क्या यह सम्भव है कि किसी को पता हो कि क्रोध नर्क है और वह क्रोध के बाहर छलांग न लगा जाय ?

बुद्ध ने एक जगह कहा है कि एक व्यक्ति को मैंने समझाया। एक दुख था उसका जीवन, पीड़ा से भरा था। चारों ओर सिवाय चिन्ताओं के उसके जीवन में कुछ भी न था। मैंने उससे कहा, तू इन सारी चिन्ताओं को छोड़ कर बाहर आ जा। मैं तुझे मार्ग बता देता हूँ। उस आदमी ने कहा, मार्ग आप अभी बता दें, फिर बाद में मैं कोशिश करूँगा बाहर आने की——आहिस्ता, क्रमशः। तो बुद्ध ने कहा, तू उस आदमी जैसा है, जिसके घर में आग लगी हो। हम उससे कहें कि तेरे घर में आग लगी है और वह कहे कि आपने बताया तो बड़ी कृपा है। अब मैं क्रमशः, आहिस्ता, धीरे-धीरे बाहर निकलने की कोशिश करूँगा। बुद्ध ने कहा, अच्छा होता, वह आदमी कह देता कि तुम झूठ कहते हो, मुझे कोई आग दिखायी नही पडती। लेकिन वह यह नहीं कहता। वह यह कहता है कि माना, तुम ठीक कहते हो, आग लगी है, लेकिन मैं धीरे-धीरे निकलूंगा। आग अगर सच में ही दिखायी पड जाय तो कोई धीरे-धीरे निकलता है ? छलांग लगाकर बाहर हो जाता है। बताने वाला भले पीछे रह जाय। जिसे पता चले कि आग लगी है, वह तो पहले बाहर हो जायगा। धन्यवाद भी बाहर ही देगा घर के। तो बुद्ध ने कहा कि तुम कहते हो, माना कि आग लगी है, लेकिन तुम्हें आग दिखायी नहीं पड़ती है। तुम व्यर्थ ही हाँ भर रहे हो। तुम खोजने का कष्ट भी उठाना नहीं चाहते। तुम मेरी बात को कसौटी पर कसने की चेष्टा भी नहीं करना चाहते। तुमने आँख खोल कर भी नहीं देखा चारों तरफ कि आग लगी है। तुम मान लिये और इसलिए तुम्हारे मन मे अब यह सवाल उठता है कि आग तो लगी है, अब मैं धीरे-धीरे निकलूँगा। मुझे कोई विधि, कोई मैथड बता दें कि मैं कैसे बाहर हो जाऊँ।

जब मुझसे कोई कहता है कि मैं जानता हूँ कि क्रोध बुरा है और फिर भी क्रोध से छुटकारा नहीं होता तो उससे मैं कहता हूँ कि अच्छा हो कि तुम जानो कि तुम नहीं जानते हो कि क्रोध बुरा है। जानते तो तुम यही हो कि क्रोध अच्छा है। हम अच्छे को ही किये चले जाते हैं। लोगों से हमने सुन लिया है कि क्रोध बुरा है। सुने हुए को ज्ञान मान लिया है, वह अविद्या है। वह विद्या नहीं है।

फिर विद्या कैसी होगी ?

जानना पड़ेगा स्वयं ही कि क्रोध बुरा है। क्रोध से गुजरना पड़ेगा। क्रोध की आग में तपना पड़ेगा, क्रोध की पीड़ा और कष्ट झेलना पड़ेगा। क्रोध की अग्नि

में जब सब अंग जलेंगे और प्राण उत्तप्त होंगे और जीवन धुआँ-धुआँ हो जायगा, तब किसी से पूछने नहीं जाना पड़ेगा कि क्रोध बुरा है। तब किसी से समझने नहीं जाना पड़ेगा कि क्रोध बुरा है। और तब क्रोध से बाहर कैसे हो जायें इसकी कोई विधि, कोई उपाय, कोई साधना नहीं खोजनी पड़ेगी। यह जानना ही कि क्रोध आग है, क्रोध से छुटकारा बन जाता है। ऐसे ज्ञान का नाम विद्या है।

उस ज्ञान को उपनिषद् विद्या कहते हैं, जो अपने में ही मुक्ति है। जो ज्ञान स्वयं में मुक्ति नहीं है, वह विद्या नहीं है। हम सबके पास बहुत विद्या है। हम सभी कुछ न कुछ जानते हैं। कहना चाहिए, बहुत कुछ जानते हैं। उपनिषद् से पूछें तो हमारा जानना क्या है। हमारे जानने को उपनिषद् अविद्या कहेगा। हमारे जानने को विद्या नहीं कहेगा। क्योंकि हमारा जानना हमें छूता ही नहीं है। हमें बदलता ही नहीं है। हमें स्पर्श ही नहीं करता। हम वही के वही रह जाते हैं, जानना बढ़ता चला जाता है। जानना एक संग्रह की भाँति है, हम उससे दूर ही रह जाते हैं। जानने की तिजोरी में संग्रह बढ़ता चला जाता है और हम वही के वही रह जाते हैं। तिजोरी बड़ी होती चली जाती है, संग्रह बड़ा होता चला जाता है। एकूमेलेशन है वह, जिसे हम अभी ज्ञान कह रहे हैं। इसे ज्ञान जिसने समझा, वह बुरी तरह भटक जायेगा। इसे अविद्या समझना। विद्या तो सिर्फ उसे ही समझना जो आपमें जुड़ती न हो, आपको बदलती हो। जो आपके साथ संग्रहीत न होती हो, आपको रूपान्तरित कर जाती हो। विद्या तो वही है, जिसे याद न रखना पड़े, जो आपका जीवन बन जाती हो। विद्या तो वही है जो स्मृति न बने, जो आपका प्राण बन जाय। ऐसा नहीं कि आप स्मृति से समझें कि क्रोध बुरा है। ऐसा कि आपका आचरण कहे कि क्रोध बुरा है। ऐसा नहीं, कि आप घर की दीवालों पर लिख दें कि लोभ पाप है, वरना आपकी आँख कहें, आपके हाथ कहें, आपका चेहरा कहे कि लोभ पाप है। आपका समग्र व्यक्तित्व कहे कि लोभ पाप है, तब विद्या है।

उपनिषद् ने विद्या को बड़ा आदर दिया है। उस शब्द को बड़ी कीमत दी है। वह जीवन को बदलने की कीमिया है। हम जिसे विद्या समझते हैं वह केवल आजीविका चलाने की व्यवस्था है। एक आदमी डाक्टर है, एक आदमी इंजीनियर है, एक आदमी दूकानदार है। उन सबके पास विद्याएँ हैं, लेकिन उनसे जीवन नहीं बदलता है, सिर्फ जीवन चलता है। उनसे जीवन नया नहीं होता, सिर्फ सुरक्षित होता है। उनसे जीवन में कोई नये फूल नहीं खिलते, सिर्फ जीवन की जड़ें नहीं सूख पातीं। उनसे जीवन में कोई आनन्द नहीं आता, लेकिन दुख के लिए सुरक्षा, आयोजन, व्यवस्था निर्मित हो जाती है। हम जिसे विद्या कहते हैं वह सिर्फ आजी-

विद्या को कुशलता से चलाये रखने की सुविधा है। उपनिषद् उसे अविद्या कहते हैं। विद्या कहते हैं उसे, जिससे जीवन चलता नहीं, बदलता है। जिससे जीवन आगे की तरफ खिचता नहीं, ऊपर की तरफ उठता है। ध्यान रहे, अविद्या हॉरिजेंटल है—क्षितिज की रेखा में चलती है। विद्या वर्टिकल है,—आकाश की तरफ उठती है। बैलगाड़ी की तरह है अविद्या, जमीन पर चलती है। हवाई जहाज की तरह टेकऑफ नहीं है उसमें। जमीन को छोड़कर वह ऊपर नहीं उठ जाती। जमीन पर ही चलती चली जाती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यात्रा पूरी हो जाती है, लेकिन तल नहीं बदलता, तल वही होता है। जहाँ हम जन्मते हैं, जिस तल पर, उसी तल पर हम मरते हैं। अक्सर झूला ही कब होता है। कोई बहुत फर्क नहीं होता है, तल वही होता है, वहीं के वहीं होते हैं। हॉरिजेंटल, क्षितिज की रेखा में चलते हुए सभी अपनी-अपनी कब्र खोज लेते हैं। क्योंकि झूलों से बहुत दूर नहीं होती वह। और दूर हो तो भी तल भेद नहीं होता। तल वही होता है, स्तर वही होता है।

विद्या है वर्टिकल—आकाश की तरफ उठती, ऊर्ध्वगामी। ऊपर की तरफ जाती हुई। तल बदलता है। आप वही नहीं रहते। जाना कि आप दूसरे हुए। बुद्ध या महावीर या कृष्ण हमारे पास खड़े होते हैं, लेकिन हमारे पास होते नहीं। हमारे बिलकुल पडोस मे खड़े होते हैं, हमारे शरीर से शरीर लगा कर। फिर भी हमारे पास होते नहीं हैं। वे किन्हीं और ही शिखरों पर होते हैं। शरीर ही हमारे पास मालूम होता है। उनका अस्तित्व हमारे पास नहीं होता। विद्या से गुजरे हैं वे। वे ज्ञानी हैं।

उपनिषद् का यह सूत्र कहता है, अविद्या के अपने गुण हैं, विद्या के अपने गुण हैं। अविद्या के अपने गुण हैं, अविद्या का अपना उपयोग है, युटिलिटी है। उपनिषद् ये नहीं कहते कि अविद्या को नष्ट कर दो। उपनिषद् कहते यह हैं कि अविद्या को विद्या मत मानना—बस, इतना ही। ऐसा नहीं कि आकाश की तरफ बढ़ते चले जाओ और जमीन पर जियो ही मत। सच तो यह है कि जिन्हें आकाश में ऊपर उठना है उन्हें भी अपने पैर जमीन पर टिकाये रखने पड़ते हैं।

नीत्से ने कहीं कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश छूना हो उसकी जड़ों को पाताल छूना पड़ता है। जितना ऊँचा जाता है वृक्ष उतना ही नीचे भी जाता है। जो वृक्ष आकाश के तारों को छूने की चेष्टा करता है, अभीप्सा करता है, उसकी जड़ों को नीचे, और नीचे उतरते जाना है। जितनी गहरी हों जड़ें, उतना ही ऊपर उठ सकता है। अविद्या के विरोध में नहीं हैं उपनिषद्। यह भी बड़ी क्रान्ति

हुई। इसे आपसे कहना चाहूँगा। क्योंकि इस भ्रान्ति के कारण पूरब ने इतना दुख सहा, इतनी पीड़ा उठायी, जिसका कोई हिसाब नहीं। उपनिषद् को ठीक समझा नहीं जा सका। हम यह भूल करते हैं कि अविद्या को विद्या मान लेते हैं। उपनिषद् इसके विरोध में हैं। वह कहते हैं, अविद्या विद्या नहीं है यह डिसटिंक्शन, यह भेद-रेखा ठीक से समझ लेना है। तो हम दूसरी भूल करते हैं। असल में हम भूल करने की जिद में हैं। या तो हम वह भूल करेंगे या हम विपरीत भूल करेंगे। या तो हम भूल करते हैं कि अविद्या को विद्या मान लेते हैं। अभी हमारे जितने विद्यालय हैं उन सबको अविद्यालय कहा जाना चाहिए उपनिषद् के हिसाब से। क्योंकि वहां विद्या का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। हमारे जो विद्यापीठ हैं वह अविद्यापीठ हैं। और हमारे जो विद्यापीठों के कुलपति हैं, वे अविद्याओं के कुलपति हैं। वहाँ से सिर्फ अविद्या फैलती है, लेकिन उपनिषद् अविद्या के विरोध में नहीं हैं। उपनिषद् कहते हैं, उसे विद्या मत समझ लेना, इस भूल में मत पड़ जाना। भेद को साफ समझ लेना। वह अविद्या है और अविद्या का अपना गुण है, अपनी यूटिलिटी है। ऐसा नहीं है कि डाक्टर की जरूरत नहीं है। ऐसा नहीं है कि इंजीनियर बेमानी है। ऐसा भी नहीं है कि दूकानदार न हो तो अच्छा है। नहीं, दूकानदार भी जरूरी है, डाक्टर भी, इंजीनियर भी, सड़क साफ करने वाला भी, मकान बनाने वाला राजगीर भी, सब जरूरी है। सबकी उपयोगिता है। लेकिन उस आजीविका की विद्या को अगर किसी ने जीवन की कला समझ लिया तो भूल हो गयी। तो फिर वह सिर्फ रोजी-रोटी कमायेगा और मर जायगा।

जीसस का वचन है, यू कैनाट लिव बाई ब्रेड अलोन—सिर्फ रोटी से नहीं जी सकोगे तुम। यद्यपि इसका यह मतलब नहीं है कि रोटी के बिना जी सकोगे तुम। अकेली रोटी से नहीं जी सकोगे तुम। अकेली रोटी भी कोई जीवन होती है? जीवन की जरूरत है रोटी, जीवन नहीं है। रोटी के बिना जीवन नहीं विकसित हो सकेगा, नहीं खड़ा रह सकेगा, लेकिन फिर भी रोटी जीवन नहीं है। नीव में हम पत्थर भरते हैं मकान के। नीव में भरे हुए पत्थर के बिना मकान खड़ा नहीं होगा। लेकिन ध्यान रखना, नीव में भरे हुए पत्थर मकान नहीं हैं। और अगर सिर्फ नींव भर कर आप बैठ गये तो आप इस भ्रान्ति मे मत रहना कि मकान बन गया। इसका यह मतलब भी नहीं है कि नींव नहीं भरी तो मकान बन जायगा। नीव तो भरनी ही पड़ेगी। वह नेसेसरी ईविल है। वह जरूरी बुराई है, जो करनी पड़ेगी। उपनिषद् कहते हैं कि अविद्या का अपना गुण है। वह गुण है आजीविका। वह गुण है, जीवन का वह जो बाह्य रूप है, जो शरीरगत जीवन है, उसको चलाये रखने की व्यवस्था। पर उसे ही सब कुछ मत समझ

लेना। यह जरूरी है, लेकिन काफी नहीं है। इट इज नेसेसरी, बट नाट इनफ—आवश्यक तो है, पर्याप्त नहीं। उतने से सब नहीं हो जायेगा।

पूरब के मुल्कों ने, विशेषकर भारत ने दूसरी भूल की। कहा कि जब उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं कि अविद्या है यह, तो छोड़ो अविद्या। हम विद्या ही पकड़ें। इसलिए पूरब में विज्ञान विकसित न हो पाया। जिसे हमने मान लिया अविद्या है उसे छोड़ दिया। इसलिए पूरब दीन और दरिद्र और गुलाम हो गया। अविद्या को या तो हम इतना पकड़ने को राजी थे कि आत्महीन हो जाते या हम अविद्या को इतना छोड़ने को उत्सुक हो गये कि शरीर से, बाह्य जीवन से दीन-हीन हो गये। उपनिषद् कहते हैं, दोनों की उपादेयता है। दोनों अलग आयाम में अलग डायमेन्शन में जरूरी हैं। अविद्या की अपनी जगह है। अविद्या छोड़ देने की नहीं है, बस अविद्या को सब कुछ नहीं मान लेना है। विद्या का अपना गुण है। और इस सूत्र मे एक बात और ऋषि ने कही है कि ऐसा हमने उनसे सुना, जो जानते हैं। इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

कहते हैं, ऐसा हमने उनसे सुना, जो जानते हैं। क्या उपनिषद् का यह ऋषि, जिसने यह वचन कहा, स्वयं नहीं जानता? क्या इसने सुना है जो, वही कह रहा है? इसे स्वयं पता नहीं है? सुनी हुई बात कही जा रही है? नहीं! इस बात को भी थोड़ा ठीक से समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इससे बड़ी भ्रान्ति हुई है। पुराने दिनों में, जब ये उपनिषद् के वचन रचे गये तब—तब अभिव्यक्ति का जो रूप था वह समझ लेना चाहिए। कोई भी व्यक्ति कभी ऐसा नहीं कहता था कि मैं जानता हूँ। कारण थे उसके। कारण यह नहीं था कि वह नहीं जानता था। कारण यह था कि जानने के बाद 'मैं' नहीं बचता है। इसलिए अगर यह उपनिषद् का ऋषि कहे कि ऐसा मैं जान कर कह रहा हूँ तो उस जमाने के लोग हँसे होते और कहते कि तब तुम मत कहो, क्योंकि अभी तुम जान नहीं सके हो, क्योंकि अभी 'मैं' मौजूद है। तो उपनिषद् का वह ऋषि जानता है भलीभाँति, पर वह कहता है, ऐसा हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। और मजा यह है, जिनसे उसने सुना है, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है कि हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। और जिनके सम्बन्ध में वह कह रहे हैं, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है कि हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। इसके पीछे राज है। इसके पीछे व्यक्तिगत दावा नहीं है। इसके पीछे कोई इगोइस्टिक क्लेम नहीं है। इसके पीछे ऐसा नहीं है कि मैं जानता हूँ। क्योंकि जानने वाले का 'मैं' कहाँ बचता है। इसलिए कहते हैं, जो जानते हैं। और, और मजे की बात आपसे कहना चाहूँगा कि 'जो जानते

हैं, उनसे हमने सुना है' इसमें वह व्यक्ति स्वयं भी सम्मिलित है जो जानते हैं, वह थोड़ा कठिन पड़ेगा समझना।

जैसा मैंने सुबह आपसे कहा कि मैं आपसे कुछ कह रहा हूँ तो जैसा आप सुन रहे हैं, वैसा मैं भी सुन रहा हूँ। जो बोलने वाला सुनने वाला भी नहीं है, उस बोलने वाले को कुछ भी पता नहीं। सत्य रेडीमेड नहीं होते। पूर्वनिर्मित नहीं होते। आविर्भूत होते हैं। सहज जात होते हैं, स्पोंटेनियस होते हैं। ऐसे ही निकलते हैं, जैसे वृक्षों से फूल निकलते हैं और सुगन्ध निकलती है। अगर मैं कुछ आपसे कह रहा हूँ तो दो तरह से कहा जा सकता है। एक तो यह कि मैंने उसे पहले तय किया, तैयार किया, फिर आपसे कहूँ तो वह बासा हो गया। तब वह ताजा नही रहा। तब वह जीवन्त भी नही रहा। तब वह मुर्दा हो गया। तब वह मरा हुआ हो गया। लेकिन जो आ रहा है, वह आपसे कहता हूँ तो जिस भाँति आप उसे सुन रहे हैं पहली बार, उसी तरह मैं भी सुन रहा हूँ। तो मैं भी एक श्रोता हूँ। आप ही श्रोता हैं, ऐसा नहीं, मैं भी फिर श्रोता हूँ। तो उपनिषद् का ऋषि कहता है, जो जानते हैं, उनसे हमने सुना है। इसमे जिन्होंने जाना है, उनसे तो सुना ही है, अगर खुद भी जाना है तो खुद भी सुना है। उसके लिए भी ऋषि अपने को श्रोता ही कह रहा है, सुनने वाला ही कह रहा है।

और भी एक कारण है। जब भी कोई व्यक्ति परम सत्य को उपलब्ध होता है तो परम सत्य ऐसा मालूम नही पड़ता कि मैंने बना लिया है। परम सत्य ऐसा मालूम पड़ता है कि मुझ पर उतरा है। अवतरित हुआ है। परम सत्य ऐसा मालूम नहीं पड़ता कि मेरा किएशन है, मेरा निर्माण है। बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे समक्ष एक रिविलेशन है, एक उद्घाटन है, एक इलहाम है। अगर कोई मुहम्मद से पूछे कि कुरान तुमने लिखी है? तो मुहम्मद कहेंगे कि क्षमा करना, ऐसे पाप की बात मुझसे मत कहना। मैंने कुरान सुनी है। मैंने कुरान देखी है। मैंने कुरान लिपिबद्ध की है सुन कर। मैंने नहीं लिखी है। इसलिए मुहम्मद पैगम्बर हैं। पैगम्बर का अर्थ है मैसेंजर—वन हू हैज़ डिलीवर द मैसेज। जिसने सिर्फ खबर पहुँचा दी, उसे खबर दी गयी थी। सत्य उसके सामने प्रगट हुआ था, उसने आकर आपको कह दिया कि सत्य ऐसा है। वह सत्य उसका निर्मित नहीं है। इसलिए हमने ऋषियो को द्रष्टा कहा। स्रष्टा नहीं कहा, द्रष्टा कहा। क्रिएटर नहीं, सीअर। नहीं कहा कि उन्होंने सत्य का सृजन किया, कहा कि उन्होने सत्य को देखा। इसलिए हमने, जो उन्होंने देखा उसको दर्शन कहा। चाहे दर्शन हम कहें, चाहे श्रवण हम कहें, यह ऋषि असल में कह यह रहा है कि सत्य हमसे मुक्त और पार है। हम उसे बनाते नहीं।

हम उसे निर्मित नहीं करते। हम केवल सुनते हैं, जानते हैं, देखते हैं। हम साक्षी-मात्र हैं। साक्षी कहें, द्रष्टा कहें, श्रोता कहें—पैसिविटी का ख्याल रखें।

ऋषि कह रहा है कि हम पैसिव हैं, ऐक्टिव नहीं। एक तो आप जब कुछ निर्मित करते हैं तो आप एक्टिव होते हैं, सक्रिय होते हैं। जब आप कुछ ग्रहण करते हैं—एक चित्रकार एक फूल बना रहा है, तब वह एक्टिव एजेंट है। तब वह सक्रिय काम कर रहा है। पर एक चित्रकार एक गुलाब के फूल के पास खड़े होकर उसका दर्शन कर रहा है, तब वह पैसिव एजेंट है। तब वह कुछ कर नहीं रहा है, सिर्फ ग्राहक है, रिसेप्टिव है। सिर्फ अपने दरवाजे खुले छोड़ दिये हैं उसने। खिड़कियाँ, द्वार मन के खुले छोड़ दिये। फूल को कहा, आ जा! निमन्त्रण दे दिया। हृदय पर लटका दिया—'स्वागत है' और चुप खड़ा हो गया। तब वह रिसेप्टिव है। तब फूल भीतर आयगा, और हृदय पर उसकी पंखुड़ियाँ स्पर्श करेंगी। प्राणों में उसकी सुगन्ध गूँजेगी। जो ग्राहक की भाँति फूल को अपने भीतर ले गया है, उसके प्राण के कोने-कोने तक फूल खिल जायगा। लेकिन यहाँ वह जो ग्राहक है, वह पैसिव है। वह सिर्फ ग्रहण करता है।

उपनिषद् का यह ऋषि कहता है, ऐसा सुना हूँ मैं। इसमें वह खबर दे रहा है कि सत्य केवल उन्हें ही उपलब्ध होता है, जो पैसिव हैं। पैसिविटी इज द डोर—ग्रहणशीलता है द्वार। जैसे कि सूरज निकला है दरवाजे के बाहर। हम सूरज को भीतर ला नहीं सकते। द्वार खोलकर बैठ सकते हैं—और द्वार खुला है तो सूरज भीतर आ जायगा। उसकी किरणें धीरे-धीरे नाचते-नाचते घर के भीतर कोने-कोने तक पहुँचने लगेंगी। तब हम यह नहीं कह सकते कि हम सूरज को घर के भीतर ले आये। ले आना जरा ज्यादा कहना होगा। हम इतना ही कह सकते हैं कि हमने सूरज को आने में बाधा न दी। हमने द्वार बन्द न रखा। हम द्वार खुला करके बैठे। जरूरी न था कि हमारा द्वार खुला होता तो सूरज आता ही। हालाँकि यह जरूरी है कि हमारा द्वार बन्द होता तो कभी न आता। जरूरी नहीं है कि द्वार खुला हो तो सूरज आये ही। द्वार खुला हो और सूरज न आये तो हम कुछ कर न सकेंगे। लेकिन द्वार न खुला हो तो फिर सूरज नहीं आ सकता। मेरा मतलब समझ रहे हैं न आप? द्वार खुला हो तो सूरज का आना जरूरी नहीं है। आये उसकी मर्जी, न आये उसकी मर्जी। लेकिन द्वार बन्द हो तो सूरज का न आना सुनिश्चित है। अब उसकी मर्जी भी हो आने की तो भी नहीं आ सकता। इसका मतलब यह है कि हम अगर चाहें तो सत्य के प्रति अंधे हो सकते हैं। फिर सत्य कुछ भी न कर सकेगा। चाहें तो सत्य के प्रति आँख वाले हो सकते हैं। लेकिन तब सत्य को हम निर्मित नहीं करते हैं, सिर्फ उसका दर्शन होता है।

जीवन में जो भी मूल्यवान् है, जो भी सुन्दर है, जो भी श्रेष्ठ है, जो भी सत्य है, जो भी शिव है, वह सभी ग्राहक मन को उपलब्ध होते हैं। द्वार देने वाला मन उन्हें पाता है। इसलिए ऋषि नहीं कहते ऐसा कि हमने, मैंने—नहीं वे कहते हैं, जिन्होंने जाना, उनसे हमने सुना है। जहाँ ज्ञान है, वहाँ से हमने सुना है। जहाँ ज्ञान है वहाँ से हमने पाया है। इसमे 'मैं' को पूरी तरह पोंछ डालने की आकांक्षा है। इसीलिए तो किसी उपनिषद् पर कोई हस्ताक्षर नहीं है। नहीं जानते, कौन बोल रहा है, कौन कह रहा है, किसका वचन है। कोई हस्ताक्षर नहीं है। कुछ पता नही है कि कौन आदमी है, जिसने यह कहा। इतने महासत्य बिना हस्ताक्षर के कोई कह गया। असल में महासत्य बिना हस्ताक्षर के ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि महासत्य के जन्म के पहले ही वह मिट जाता है—हस्ताक्षर करनेवाला।

यह ऋषियों का अपने को बिलकुल हटा देना बीच से! कुछ पता नहीं चलता कि कौन इन वचनों को कहा है। यह भी पक्का नही है कि ये वचन एक ही आदमी के हों। इसमें एक वचन एक का हो सकता है, दूसरा दूसरे का, तीसरा तीसरे का हो सकता है। लेकिन फिर भी एक मजा है। विभिन्न लोगों के वचन हैं, फिर भी इनमें एक संगति है, एक हार्मोनी है, एक संगीत है। ये कितने ही रहे होंगे लोग, एक-एक वचन को अलग-अलग लोगों ने कहा होगा, लेकिन फिर भी भीतर कही गहरे में बिलकुल एक जैसे हो गये होंगे।

कभी जायें किसी जैन मन्दिर में तो वहाँ चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। एक मूर्ति में और दूसरी मूर्ति में कोई भी भेद नही है। नीचे थोड़ा-सा चिह्न होता है, जिसमें फर्क है। वह हमने अपने हिसाब के लिए निशान लगा रखे हैं, नही तो पहचानना मुश्किल होगा, कौन महावीर हैं, कौन पार्श्वनाथ हैं, कौन नेमिनाथ हैं। हमने अपनी पहचान के लिए नीचे निशान लगा रखे हैं। नीचे के निशान पोंछ दें, फिर मूर्तियाँ बिलकुल एक जैसी हो जायेंगी। चेहरे भी बिलकुल एक जैसे। यह बात ऐतिहासिक तो नही हो सकती। महावीर का चेहरा पार्श्वनाथ से एक जैसा नहीं हो सकता। और फिर चौबीस तीर्थंकर बिलकुल एक ही शक्ल-सूरत के हो गये हों, यह जरा मुश्किल मालूम पड़ता है। दो आदमी नहीं होते एक शक्ल-सूरत के तो चौबीस आदमी एक ही शक्ल-सूरत के खोज लेना मिरेकल है! पर क्या जिन्होंने बनायी थीं मूर्तियाँ, उनको इतनी समझ न आयी होगी कि किसी दिन कोई हँसेगा और कहेगा कि ऐतिहासिक नहीं है। नहीं, उनको पूरी समझ थी। लेकिन उन्होंने किन्हीं और भीतरी चेहरों की मूर्तियाँ बनायी हैं बाहर के चेहरों को छोड़ कर। भीतर एक सिमिलेरिटी है। महावीर के ऊपर के चेहरे में तो निश्चित ही फर्क रहा होगा पार्श्वनाथ से—लम्बाई, नाक-नक्स, आँख, चेहरा सब

अलग रहा होगा। लेकिन फिर भी एक जगह आती है जिन्दगी में जहाँ 'मैं' खो जाता है। फिर वहाँ भीतर कोई फासला नहीं रह जाता, फिर एक फेसलेसनेस—चेहरे से छुटकारा हो जाता है। फिर ऊपर के चेहरे बेमानी हैं। इसलिए हमने ऊपर की मूर्तियाँ नहीं बनायी हैं। वह मूर्तियाँ भीतर की सिमिलेरिटी—वह भीतर की जो समता है, वह भीतर का जो एक जैसापन है, उसको प्रकट करती हैं। इसलिए एक जैसी हैं।

ये उपनिषद् के वचन अलग-अलग लोगों के हैं और कुछ आश्चर्य न होगा, यह भी हो सकता है कि दो कड़ी का जो पद है उसमे एक कड़ी एक की और दूसरी दूसरे की हो। ऐसा हुआ है। अंग्रेजी का महाकवि कूलड्रेज मरा तो उसके घर में कोई चालीस हजार कविताएँ अधूरी मिली। मरने के पहले उसके मित्रों ने बहुत बार कूलड्रेज को कहा कि इतनी अद्भुत कविताएँ अधूरी क्यो छोड़ रखी है। यह तुम पूरी कर लो। तुमसे बड़ा महाकवि दुनिया मे नही होगा। चालीस हजार कविताएँ, अधूरी! इनको तुम पूरा कर लो। किसी में तीन पक्तियाँ हैं, चौथी नही है। किसी में सात पंक्तियाँ हैं, आठवी नही है। किसी मे ग्यारह पंक्तियाँ हैं, बारहवीं नही है। एक पंक्ति के पीछे अटकी है। तुम पूरा क्यों नहीं कर देते? कूलड्रेज ने कहा कि ग्यारह ही आयी हैं, बारहवी की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ, दस वर्ष हो गये। अभी बारहवीं पंक्ति आयी नहीं, तो मैं कैसे जोड़ूँ। कभी किसी को आ जायेगी तो जोड़ देगा। आती नहीं। मैं चाहूँ तो बना सकता हूँ, लेकिन फिर वह झूठी होगी। वह लकड़ी की टाँग हो जायेगी। असली आदमी में लकड़ी की टाँग होगी। ये ग्यारह पंक्तियाँ तो जिन्दा हैं, ये उतरी हैं। ये मैंने बनायी नहीं। किसी रिसेप्टिव मूवमेंट में, किसी ग्राहक क्षण मे मुझ पर आ गयी। मैंने उनको लिख दिया। बारहवीं अभी तक नहीं आयी। अब मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। अगर इस जिन्दगी में आ गयी तो जोड़ दूंगा, अन्यथा इनको छोड़ जाऊँगा। कभी किसी और की जिन्दगी में आ सकती है। हो सकता है, कोई और किसी दिन द्वार बन जाय बारहवीं पंक्ति के लिए तो वह जोड़ देगा।

जरूरी नहीं है कि इसमें दो पंक्तियाँ एक ही व्यक्ति की हों। यह उन व्यक्तियों की पंक्तियाँ हैं, जिन्होंने अपनी तरफ से कुछ नहीं लिखा। जो उन पर उतर आया, उसे कह दिया।

इसलिए निश्चित रूप से यह कहना ऋषि का कि सुना हमने, जो जानते हैं वह ऐसा कहते हैं, सम्पूर्ण रूप से निरहंकार मनोदशा की स्वीकृति है, सूचना है, खबर है। मैं नहीं हूँ, सिर्फ एक द्वार है—इसकी घोषणा है। ●

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

जो विद्या और अविद्या—इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥११॥

दोनों को जानता है जो, अविद्या को भी और विद्या को भी, **वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत को जान लेता है।** बडी अनूठी कड़ी है। कहा मैंने कि उपनिषद् अविद्या के विरोधी नहीं हैं। विद्या के पक्षपाती हैं, अविद्या के विरोधी जरा भी नहीं। कहा है, अविद्या को जानता है जो, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर लेता है। अविद्या की सारी लड़ाई मृत्यु से है। एक डाक्टर लड़ रहा है मृत्यु से, एक इंजीनियर लड रहा है मृत्यु से। हमारी सारी साइन्स लड़ रही है मृत्यु से। हमारा सारा व्यवसाय जीवन का लड रहा है मृत्यु से— बीमारी से, असुरक्षा से, खतरे से। **जीवन मिट न जाय, उसके बचाने में लगी है सारी अविद्या।** सारी अविद्या का सघर्ष मृत्यु से है। तो जो अविद्या को जानता है वह मृत्यु को पार कर लेता है। वह जी लेता है, ठीक है। तो अविद्या से मृत्यु को पार कर ले। लेकिन अविद्या से अमृत न मिलेगा। सिर्फ मृत्यु पार होती रहेगी। अविद्या से सिर्फ हम जी लेंगे। लेकिन जीवन का सार नहीं मिलेगा। मात्र जी लेंगे। कहना चाहिए—वेजीटेशन। गुजर जायेंगे जिन्दगी के रास्ते से। भोजन मिल जायगा, मकान मिल जायगा, औषधि मिल जायेगी। सब मिल जायगा। जिन्दगी ठीक से गुजर जायेगी, सुविधा से गुजर जायेगी। **लेकिन अमृत न मिलेगा।** अगर किसी दिन अविद्या मृत्यु को बिलकुल रोक दे तो भी अमृत नहीं मिलेगा।

अभी विज्ञान इस चेष्टा में संलग्न है। असल में विज्ञान का सारा संघर्ष ही मृत्यु से बचाव के लिए है। इसलिए विज्ञान सदा ही उत्सुक है कि किस भाँति मृत्यु को टाला जाय। अन्तहीन टाला जा सके। और किसी दिन ऐसी स्थिति

आ जायेगी कि हम मृत्यु को चाहें तो सदा के लिए टाल सकें। अगर पिछले तीन हजार साल के अविद्या के, विज्ञान के विकास को हम समझें तो सारा संघर्ष मृत्यु से है। और विज्ञान उसमें बहुत दूर तक सफल भी हुआ है। आज से हजार साल पहले दस बच्चे पैदा होते थे तो नौ मर जाते थे। आज जिन मुल्कों में विज्ञान प्रभावी हो गया है वहाँ दस बच्चे पैदा होते हैं तो एक मरता है, नौ बचते हैं। दस हजार साल पुरानी हड्डियाँ जो मिली हैं तो एक भी हड्डी ऐसी नही मिली है, जिसकी उम्र पचीस साल से ज्यादा रही हो। यानी जिसकी वह हड्डी है, वह आदमी पचीस साल से ज्यादा उम्र का नहीं था। दस हजार साल पुरानी एक भी हड्डी ऐसी नहीं मिली पूरी पृथ्वी पर कि जिसकी वह हड्डी है वह पचीस साल से ज्यादा जिया हो। और आज सोवियत रूस में एक हजार आदमियों से ऊपर लोग डेढ़ सौ वर्ष के ऊपर हैं। सौ वर्ष सामान्य बात हुई चली जाती है। इसलिए, आपको कभी-कभी हैरानी होती है कि अखबार मे खबर आ जाती है कि रूस मे किसी नब्बे वर्ष के बूढ़े ने विवाह किया। हमें बड़ा ऐसा लगता है कि बूढ़ा बड़ा नासमझ है। लेकिन आपको पता होना चाहिए कि बूढ़ा अभी बूढ़ा नहीं है, और कोई बात नहीं है। नब्बे वर्ष का बूढ़ा जब शादी करता है तो आप अपने बूढ़े से हिसाब मत लगाना। आपका बूढ़ा तो बीस साल पहले मर चुका होगा। वह नब्बे साल का बूढ़ा उस कौम में है, जहाँ डेढ़ सौ वर्ष तक उम्र खींची जा सकी है। तो जब डेढ़ सौ वर्ष तक उम्र खिच जाय तो आप जवानी का वक्त कब तक रखियेगा? कम-से-कम सौ साल तो मानियेगा?

जहाँ-जहाँ विज्ञान सफल हुआ है वहाँ मौत को धक्के दिये गये हैं। और अभी सफलता और बढ़ती चली जाती है। अब इसमें कुछ बहुत असम्भावना नहीं दिखती कि हम आदमी के शरीर को, बहुत शीघ्र इस सदी के पूरे होते-होते इस स्थिति में आ जायेंगे कि, अगर जिलाये रखना चाहें तो कोई कारण नहीं होगा कि हम न जिला सकें। अन्तहीन भी जिलाया जा सकता है। इसलिए भी पश्चिम, विशेषकर अमरीका के कुछ विचारकों मे एक बात चलनी शुरू हुई है, विचार तीव्र हुआ है, और वह यह कि इसके पहले कि वैज्ञानिक सफल हो जायें आदमी की उम्र को लम्बा करने में, हमें प्रत्येक आदमी को मरने का जन्मसिद्ध अधिकार है, यह कान्स्टीट्यूशन में जोड़ लेना चाहिए। नहीं तो बहुत मुश्किल होगी। क्योंकि अगर कोई सरकार किसी आदमी को न मरने देना चाहे तो उस आदमी का कोई हक नहीं होगा। अभी तक हमने दुनिया में कानून बनाये थे कि किसी आदमी को मारने का हक नहीं है। लेकिन अभी सारी दुनिया में, विशेषकर उन मुल्कों में, जहाँ विज्ञान सफल हो रहा है जीवन को लम्बा करने में—जैसा

कि स्विट्ज़रलैण्ड में या स्वीडेन में या नार्वे में—जहाँ उम्र बहुत ऊपर चली गयी तो वहाँ अमनासिया के लिए आन्दोलन चलता है। वहाँ के विचारशील लोग ज़ोर से एक आन्दोलन चला रहे हैं कि जो आदमी मरना चाहता है उसे कोई डाक्टर बचाने के लिए हकदार नहीं है। और अगर कोई डाक्टर बचाता है तो वह उस व्यक्ति के मौलिक सिद्धान्त पर, जीवन के अधिकार पर हमला करता है। यह खतरनाक है। अब एक आदमी डेढ़ सौ साल का है। यह डेढ़ सौ साल का आदमी शायद ही और जीना चाहे। अगर बिलकुल ही बुद्धिहीन हो तो बात अलग है। नहीं तो डेढ़ सौ साल का आदमी अब चाहेगा कि विश्राम करे, विदा हो जाये। लेकिन डाक्टर उसको चाहें तो अस्पतालों में उसे लटकाये रख सकते हैं। उसे जिन्दा रख सकते हैं। क्योंकि डाक्टरों को भी अभी हक नहीं है किसी को मरने में सहायता देने का। तो वे तो पूरी कोशिश करेंगे बचाने की, तुम मर जाओ बात अलग है। इसलिए आन्दोलन चलता है कि हम आदमी को मरने का हक दे दें कि कोई आदमी अगर तय कर ले कि मुझे मरना है तो उसे कोई रोक नहीं सकेगा।

यह बात बहुत जल्दी अर्थपूर्ण हो जायेगी। क्योंकि आदमी के शरीर में अब तक ऐसी कोई बात नहीं पायी जा सकी है, जिसके कारण मृत्यु अनिवार्य हो। अगर मृत्यु घटित होती है तो उसका कुल कारण इतना है कि आदमी के शरीर के हिस्से अभी तक रिप्लेसेबिल नहीं हो सके हैं। हम उसके कुछ हिस्सों को अभी बदल नहीं पाते हैं इसलिए तकलीफ है। जैसे-जैसे हम उसके शरीर के हिस्सों को बदलने में समर्थ होते चले जायेंगे, वैसे-वैसे आदमी का मरना अनिवार्यता नहीं रह जायेगी, स्वेच्छा का कृत्य हो जायगा। ध्यान रखिये, बहुत शीघ्र दुनिया मे कोई आदमी सिवाय दुर्घटना के अतिरिक्त अपने-आप नही मरेगा। तो दुनिया मे मृत्यु कम और आत्मघात—वह आत्मघात ही होगा जब आदमी डाक्टर को कहेगा, मुझे मार डालो—आत्मघात सामान्य प्रक्रिया मृत्यु की हो जायेगी।

उपनिषद् बहुत प्राचीन समय में यह कहते हैं कि अविद्या से मृत्यु के पार जाया जा सकता है। मृत्यु को जीता जा सकता है अविद्या से। अभी जो पश्चिम का चिकित्सा-शास्त्र कह रहा है, वह उपनिषद् घोषणा करते हैं। वह कहते हैं कि अविद्या से मृत्यु को जीता भी जा सकता है। इतने दूर हटायी जा सकती है मौत, क्योंकि मौत भीतर हमारे जो तत्त्व है उसकी तो कोई होती नहीं। मौत होती है हमारे शरीर की। फिर हमारे भीतर के तत्त्व को नया शरीर ग्रहण करना पड़ता है। अगर हम पुराने शरीर को ही काम योग्य बनाये रख सकें तो नये शरीर को ग्रहण करने की कोई जरूरत नहीं है। और नया शरीर ग्रहण करना बहुत

गैर-आर्थिक है। क्योंकि एक बूढ़ा आदमी मरता है। आप सोचें कि प्रकृति को इकनामी नहीं आती। असल में प्रकृति को कोई अर्थशास्त्र का अनुभव नहीं है। बच्चों को पैदा करती है, बूढ़ों को मार देती है। बूढ़े हमारे सब सीखे-सिखाये, सारी मेहनत किये हुए और बच्चे पैदा कर देती है बिलकुल बिना सीखे हुए, बिलकुल बेकार। जिनके साथ हमने सत्तर साल मेहनत की, जिनमें किसी तरह थोड़ी-बहुत बुद्धि की मात्रा आयी, उनको समाप्त कर देती है और फिर निर्बुद्धियों को पैदा कर देती है। उनको फिर हम बड़ा करें। बहुत नान इकनामिकल है! इकनामिकल तो यही होगा कि सत्तर साल का आदमी मरने न दिया जाय, क्योंकि सत्तर साल का अनुभव खोता है, इस तरह। और सत्तर साल का आदमी मरेगा, फिर नया जन्म लेगा—फिर बीस साल, पचीस साल शिक्षा मे व्यतीत होंगे, तब कहीं वह फिर उस स्थिति में आ पायेगा मुश्किल से, जिस स्थिति में मरा था। यह व्यर्थ है। तो विज्ञान, अविद्या, इस दिशा में संलग्न रही है। और वह इस चेष्टा में है कि हम यह जो अपव्यय होता है व्यर्थ उसे रोकें।

अगर हम आइन्स्टीन को बचा सकें तो बडा अपव्यय बचेगा। और आइन्स्टीन अगर तीन सौ साल जिन्दा रह सके तो दुनिया के ज्ञान में जो वृद्धि होगी वह आइन्स्टीन तीन दफे जन्म ले तो नहीं होगी। क्योंकि यह तीन सौ साल की कन्टीन्युअस प्रौढ़ता होगी। और बार-बार इसमें बीच में डिस्कण्टीन्यूटी नहीं होगी। पचीस, तीस-तीस साल का गैप बीच मे आकर नष्ट नहीं करेगा। तो अगर आइस्टीन को हम तीन सौ साल जिन्दा रख लें तो आइन्स्टीन ज्ञान मे इतनी वृद्धि कर जायगा, जिसका कि कोई हिसाब नहीं है। और ज्ञान का कोई अन्त नही है। मनुष्य का एक छोटा-सा मस्तिष्क—इस छोटे-से मस्तिष्क में कोई पचास करोड़ सेल हैं और एक-एक सेल की इतने ज्ञान को संरक्षित करने की क्षमता है कि वैज्ञानिक कहते है, अभी पृथ्वी पर जितने पुस्तकालय है वे सब एक व्यक्ति के मस्तिष्क में समाये जा सकते है। पचास करोड़ कोष्ठ इतनी बड़ी शक्ति है कि सारी पृथ्वी पर जितना ज्ञान है अभी, एक व्यक्ति उसका मालिक हो सकता है। यह दूसरी बात है कि हमारे पास अभी इतना ज्ञान उस व्यक्ति के भीतर डालने की व्यवस्था नही है। हमारे डालने की व्यवस्था बहुत आदम है। एक बच्चे को सिखाते हैं, बीस साल लग जाते हैं, तब कहीं कुछ सीख पाता है। कुछ हल नहीं होता। बीस साल शिक्षा देने के बाद इतना ही हो पाता है कि हम कह सकते हैं कि यह आदमी अशिक्षित नहीं है। बस, इतना ही हो पाता है। कुछ खास नहीं हो पाता। सत्तर साल की शिक्षा दें तो भी कुछ बहुत विशेष नहीं होने वाला है। ज्ञान इतना है और उस ज्ञान को व्यक्ति के मस्तिष्क में डालने की

सुविधा और व्यवस्था अभी इतनी नहीं है। इसलिए बड़ी नयी व्यवस्थाएँ खोजी जा रही हैं कि शिक्षण के नये प्रयोग खोज लिये जायें।

रूस में स्लीप टीचिंग पर भारी काम चलता है कि बच्चे को दिन में पढ़ाना और रातभर वह बेकार सोया रहता है तो रात के बारह घण्टे खराब चले जाते हैं। तो रात टेप लगा कर उसके कान में, रातभर वह सोया रहे और टेप रातभर उसको शिक्षा भी देता रहे। नींद को भी शिक्षा के माध्यम बनाने के बड़े उपाय चल रहे हैं और दूर तक सफलता मिली है। और बहुत जल्दी जो शिक्षा अभी हम पन्द्रह वर्ष में दे पाते हैं वह हम सात वर्ष में दे पायेंगे। क्योंकि रात का भी उपयोग कर लेंगे। और भी सुविधा की बात है कि शिक्षक जब जागते में बच्चे को शिक्षा देता है तो बच्चे और शिक्षक के अहंकार में संघर्ष खड़ा हो जाता है, जिसकी वजह से बहुत बाधा पड़ती है। नींद में कोई संघर्ष खड़ा नहीं होता, शिक्षा सीधी आत्मसात् हो जाती है। शिक्षक होता ही नहीं। विद्यार्थी भी नहीं होता है। विद्यार्थी सोया होता है, शिक्षक मौजूद नहीं होता। सिर्फ टेप रिकार्ड होता है। वह धीरे-धीरे रातभर में बच्चे में शिक्षा डाल देगा। बच्चा उसको सीधा स्वीकार कर लेता है।

अविद्या के द्वारा मृत्यु को जीता जा सकता है, उपनिषद् की यह घोषणा समस्त विज्ञानपीठों के ऊपर लिख दी जानी चाहिए। उपनिषद् का ऋषि ऐसा कहता है, क्योंकि मृत्यु सिर्फ शारीरिक दुर्घटना है। शरीर को अगर हम थोड़ी व्यवस्था दे सकें तो मृत्यु लम्बाई जा सकती है, दूर तक ढकेली जा सकती है। कोई अड़चन नहीं है। अभी अमरीका में एक आदमी मरा है पन्द्रह वर्ष पहले। अभी तक कोई आदमी मर जाय तो उसे वापस पुनरुज्जीवित करने के विज्ञान के पास उपाय नहीं है। लेकिन वैज्ञानिकों का ख्याल है कि १९८० के पूरे होते-होते हमारे पास उपाय होंगे कि कोई व्यक्ति मर जाय तो हम उसे पुनरुज्जीवित कर लें। तो वह आदमी दस करोड़ डालर की वसीयत करके गया है कि मेरी लाश को कम-से-कम १९८० तक पूरी तरह सुरक्षित रखा जाय, ताकि १९८० में पुनरुज्जीवित मैं हो सकूँ। तो रोज कोई एक लाख रुपया खर्च उसकी लाश को बिलकुल वैसा ही सुरक्षित रखने में किया जा रहा है कि उसमें रत्तीभर फर्क न पड़े। कोशिश है कि जैसा वह मरने के क्षण में था वैसा ही १९८० तक उसकी लाश को ले जाया जा सके—ठीक वैसा ही। ताकि १९८० में जब कि इसका विज्ञान हमारे हाथ में आ जाय, हम उसके शरीर को वापस पुनरुज्जीवन दे दें।

इससे अध्यात्मवादी बहुत घबड़ाते हैं। वह कहते हैं, अगर ऐसा हो गया तो फिर आत्मा का क्या हुआ? लेकिन यह आदमी एक ही शर्त पर जिन्दा हो

सकेगा। विज्ञान शरीर को ठीक हालत में ले आयेगा, इतना जरूरी है हिस्सा, लेकिन पर्याप्त नहीं। अगर उसकी आत्मा भटकती हो अभी तक और नये शरीर को ग्रहण न किया हो तो प्रवेश कर जायेगी। और मुझे लगता है, इस आदमी की भटकेगी। इतनी बड़ी वसीयत करके गया है। दस करोड़ डालर का मामला है, कोई छोटा मामला नहीं है। आदमी भटकेगा। वह अभी दस साल और प्रतीक्षा करेगा। और अगर शरीर उसका पुनरुज्जीवित हो सकता है तो वह वापस पुनर्प्रवेश कर जायगा। ऐसे ही जैसे मकान गिर जाय, फिर बन जाय, हम घर में वापस आ जाते हैं।

अविद्या से मृत्यु को जीता जा सकता है लेकिन अमृत को नहीं पाया जा सकता। यह दूसरा सूत्र और भी जरूरी है। मृत्यु को भी जीत लें किसी दिन विज्ञान और हम आदमी को इस हालत मे कर दें कि वह करीब-करीब इम्मार्टल हो जाय, न मरे, तो भी क्या हुआ? तो भी अमृत का कोई अनुभव नहीं हुआ। तो भी हमने उसे नहीं जाना, जो अमृत है। तब भी हम उसी को जान रहे हैं, जो सत्तर साल जीता था, अब सात सौ साल जीता है। या तब सत्तर साल जीता था, अब सात हजार साल जीता है। लेकिन जो जीने के भी पहले था, जन्म के भी पहले था और जो मरने के बाद भी बच जाता है, उसका हमें कोई अनुभव नहीं है। अमृत को जानना हो तो विद्या से ही जाना जा सकता है।

उपनिषद् अविद्या को बड़ी कीमत देते हैं। मृत्यु से संघर्ष में वही उपाय है। लेकिन अमृत की उपलब्धि में वह उपाय नहीं है। मृत्यु से संघर्ष एक निगेटिव—एक नकारात्मक प्रक्रिया है। अमृत की उपलब्धि एक विधायक, एक पोजेटिव अचीवमेण्ट है। अमृत की उपलब्धि उसे जानने की चेष्टा है, जो जन्म से पहले भी था और जब मैं मर जाऊँगा तो भी रहेगा। जो अभी भी है, कल भी था, परसों भी था, और कल भी होगा। जब यह देह नहीं थी तब भी था और जब यह देह नहीं रहेगी तब भी होगा। उसे जानना अमृत की उपलब्धि है। और इस शरीर को खींचे चले जाना मृत्यु से संघर्ष है। इस शरीर को लम्बाये चले जाना, जन्म और मृत्यु की सीमा को बड़ा किये चले जाना मृत्यु से संघर्ष है। और जन्म और मृत्यु के जो पार है उसकी अनुभूति में उतर जाना अमृत की उपलब्धि है। अमृत की उपलब्धि उपनिषद् कहते हैं विद्या से होगी। तो इस विद्या के दो-चार सूत्र भी समझ लेने चाहिए। इस अमृत की उपलब्धि की विद्या का सूत्र क्या होगा?

पहली बात, जो व्यक्ति भी सोचता है कि मैं शरीर हूँ, वह कभी अमृत की दिशा में गति नहीं कर पायेगा। इसलिए विद्या का पहला सूत्र है शरीर से तादात्म्य

छिपा-छिपा कर बैठा। जानते रहना निरन्तर, स्मरण करना निरन्तर, बार-बार होश रखना, पुनः-पुनः ख्याल में लाना,—मैं शरीर नहीं हूँ। यह जितना गहरा बैठ जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ, उतना ही अमृत की दिशा में गति हो पायेगी। और जितना यह गहरा बैठ जाय कि मैं शरीर हूँ, उतनी ही अविद्या, उतनी ही मृत्यु से संघर्ष की व्यथा चलेगी। और जैसा जीवन है, उसमें मैं शरीर हूँ, यह चौबीस घण्टे स्मरण आता है। पैर में जरा चोट लगी तो स्मरण आता है कि मैं शरीर हूँ। पेट में जरा भूख लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूँ। सिर में जरा दर्द हुआ, स्मरण आता है, मैं शरीर हूँ। बुखार आ गया, स्मरण आता है, मैं शरीर हूँ। बुढ़ापा उतरने लगा, स्मरण आता है, मैं शरीर हूँ। जवानी उठने लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूँ। जीवन में सब तरफ से इशारा मिलता है कि मैं शरीर हूँ। इसका तो कोई इशारा नहीं मिलता, कहीं से कि मैं शरीर नहीं हूँ। और मजा यह है कि वही सत्य है, जिसका कोई इशारा नहीं मिलता और वही असत्य है, जिसके लिए रोज इशारे मिलते हैं। लेकिन इशारे मिलते हैं इसलिए कि हमारे इशारे समझने में, इशारों को डी-कोड करने में बड़ी बुनियादी भूल हो रही है। कुछ कहा जाता है, कुछ हम समझते हैं। बड़ी मिसअण्डर-स्टैंडिंग है। पूरी जिन्दगी एक बड़ी मिसअण्डरस्टैंडिंग है। इशारे कुछ और कहते हैं, हम कुछ और समझते हैं। कहा कुछ और जाता है, हम अर्थ कुछ और निकालते हैं। पेट में लगती है भूख तब मैं कहता हूँ, मुझे भूख लगी है। गलत है। हमने जो सूचना मिली उसका गलत अर्थ लिया। सूचना केवल इतनी थी कि मुझे पता चल रहा है कि पेट में भूख लगी है। लेकिन हम कहते हैं, मुझे भूख लगी है। हम कैसे इस नतीजे पर पहुँचते हैं, आज तक कोई नहीं बता पाया। यह बीच का हिस्सा कैसे गिर जाता है कि मुझे पता चलता है कि पेट में भूख लगी है। मुझे भूख कभी नहीं लगती। लेकिन मैं कहता हूँ मुझे भूख लगी है। सिर में दर्द होता है, तब मुझे पता चलता है—पता चलता है मुझे कि सिर में दर्द हो रहा है। [redacted] लेकिन मैं कहता हूँ, मेरे सिर में दर्द होता है। ऐसा भी मैं बाहर कहता हूँ कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है, भीतर तो मैं ऐसा कहता हूँ, मुझमें दर्द हो रहा है। शरीर की सूचनाओं में भूल नहीं है। शरीर की सूचनाओं को जब हम डी-कोड करते हैं। जब उसकी सूचनाओं को हम समझने की चेष्टा में व्याख्या करते हैं, तब भूल हो जाती है। व्याख्या में भूल है।

स्वामी राम निरंतर ठीक-ठीक बोलते थे। तो लोग उन्हें पागल समझने

लगे। पागलों की दुनिया है। इसमें कोई ठीक-ठीक आदमी हो तो पागल समझ लिया जाय, अड़चन नहीं है। राम कभी नहीं कहते थे कि मुझे भूख लगी है। कभी वह कहते कि सुनो भाई, इधर भूख लगी है। थोड़ी-सी हैरानी हो जाती थी, दिमाग खराब है क्या! आपका दिमाग तो ठीक है? लेकिन वह ठीक कह रहे हैं बेचारे, तो दिमाग ठीक है, यह सवाल उठता है। कभी आकर घर कहते कि आज बड़ा मजा आया। रास्ते से गुजरते थे तो कुछ लोग राम को गाली देने लगे। राम को—यह नहीं कहते कि मुझको। यह नहीं कि मैं निकलता था, मुझे लोग गाली देने लगे। कहते कि कुछ लोग मिल गये, बड़ा मजा आया, राम को गाली देने लगे। हम भी सुनते थे। हमने कहा, देखो राम! मिला मजा!

पहली बार जब स्वामी राम अमरीका गये और जब ऐसा बोलने लगे थर्ड पर्सन में तो बड़ी कठिनाई हुई। यहाँ तो उनके मित्र उनको जानते थे कि ठीक है, इनका दिमाग थोड़ा···! लेकिन वहाँ बड़ी मुश्किल हुई, लोग उनको समझ ही न पाये कि वह क्या कह रहे हैं।

लेकिन वही ठीक कहते हैं। वह बिलकुल ही ठीक कहते हैं। पेट को ही भूख लगती है, आपको कभी भूख नहीं लगी। आज तक नहीं लगी। लग नहीं सकती। **क्योंकि आत्मतत्त्व में भूख का कोई उपाय नहीं।** आत्मतत्त्व के पास भूख का कोई यन्त्र नहीं है। आत्मतत्त्व के पास भूख की कोई सुविधा नहीं है। **आत्मतत्त्व में न कुछ कम होता है, न ज्यादा होता है।** आत्मतत्त्व के लिए कोई कमी नहीं होती जिसको पूरा करने के लिए भूख लगे। शरीर में रोज कमी होती है। क्योंकि शरीर रोज मरता है। असल में मरने की वजह से भूख लगती है। अब आपको यह बहुत हैरानी लगेगी कि कुछ आपके भीतर रोज मर जाता है, इसलिए जितना हिस्सा मर जाता है उसको रिप्लेस करना पड़ता है भोजन से। और कुछ नही मामला। आपके भीतर कुछ हिस्सा मर जाता है। उस मरे हुए हिस्से को आपको वापस जीवित हिस्से से पूरा करना पड़ता है, तब आप जिन्दा रह पाते हैं। इसीलिए तो एक दिन उपवास कर ले तो एक पौण्ड वजन कम हो जाता है। क्या हुआ? वह एक पौण्ड हिस्सा आपका मर गया है। उसको आपने रिप्लेस नहीं किया। उसको फिर से स्थापित करना पड़ेगा। इसलिए वैज्ञानिक कहते हैं, एक आदमी नब्बे दिन तक भूखा रह सकता है। इससे ज्यादा मुश्किल पड़ जायगा। क्योंकि नब्बे दिन तक उसके भीतर अर्जित, इकट्ठी चर्बी होती है, जितने से वह अपना काम चला सकता है। मरता जायगा और पूरा करता रहेगा भीतर। कमजोर होता जायगा, वजन कम होता जायगा, जीर्णशीर्ण होता चला

जायगा, लेकिन जिन्दा रह सकेगा । भोजन से हम अपने घटे हुए तत्त्व की कमी पूरी कर देते हैं । जो कमी हो गयी है उसको पूरा कर देते हैं ।

लेकिन आत्मा तो मरती नहीं, उसका कोई तत्त्व कम नहीं होता, इसलिए आत्मा को भूख का कोई कारण नहीं । एक और मजे की बात है । आत्मा को भूख नहीं लगती, शरीर को भूख पता नहीं चलती । शरीर को भूख लगती है, आत्मा को भूख पता चलती है ।

यह करीब-करीब मामला वैसा ही है जैसा एक बार आपको पता ही होगा, एक जंगल में आग लग गयी थी । और एक अन्धे और लँगड़े को जंगल के बाहर निकलना पड़ा था । अन्धा देख नहीं पाता था । आग थी भयंकर । चल तो सकता था, पैर मजबूत थे, लेकिन चलना खतरनाक था । जहाँ खड़ा था, कम-से-कम वहाँ अभी आग नहीं थी । अन्धा आदमी भागे, बचने का उपाय करे, और जल जाय ! पास में लँगड़ा भी था, वह चल नहीं सकता था । बेशक उसको दिखायी पड़ता था कि आग आ रही है । वह अन्धे और लँगड़े समझदार रहे होंगे, जैसा कि सामान्य रूप से अंधे और लँगड़े रहते नहीं । समझदार इतने होते नहीं । आँख वाले नहीं होते तो अंधे कैसे होंगे । पैर वाले नहीं होते तो लँगड़े कैसे होंगे । लेकिन उन दोनों ने एक समझौता कर लिया । लँगड़े ने कहा कि, अगर बचना है हमें तो एक ही रास्ता है कि मैं तुम्हारे कन्धों पर आ जाऊँ । तुम्हारे पैरों का उपयोग करें और मेरी आँखों का । मैं देखूंगा, तुम चलोगे तो हम बच सकते हैं । बच गये वे । आग के बाहर निकल आये ।

जीवन की जो यात्रा है वह आत्मा और शरीर के बीच एक गहरा समझौता है । वह अन्धे-लँगड़े की यात्रा है । आत्मा को अनुभव होता है, घटना कोई नहीं घटती । शरीर में घटनाएँ घटती हैं, अनुभव कोई नहीं होता । अनुभव सब आत्मा को होते हैं, घटनाएँ सब शरीर में घटती हैं । इसीलिए तो उपद्रव हो जाता है । उस दिन भी उपद्रव शायद हुआ होगा । कहानी में ईशप ने लिखा नहीं है । जिसने यह कहानी लिखी है अन्धे-लँगड़े की उसने लिखा नहीं है, लेकिन हुआ जरूर होगा । जब अन्धा तेजी से दौड़ा होगा और लँगड़े ने तेजी से देखा होगा—दोनों को तेजी की जरूरत थी । आग थी भयंकर । तो यह पूरी सम्भावना है कि अन्धे को ऐसा लगा हो कि मैं देख रहा हूँ और लँगड़े को ऐसा लगा हो कि मैं भाग रहा हूँ ।

बस, वैसा ही हमारे भीतर घट जाता है ।

इसको तोड़ना पड़ेगा । इसको अलग-अलग करना पड़ेगा । यह उलझे तार

हैं। शरीर में सब घटनाएँ घटती हैं, आत्मा सब अनुभव करती है। इन दोनों को अलग-अलग कर लें तो विद्या का सूत्र पकड़ में आने लगेगा। अमृत की यात्रा शुरू हो जायेगी।

बस, आज के लिए इतना ही—फिर कल सुबह।

अब अमृत की यात्रा पर निकल जायें। ●

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

अस्तित्व का प्रगट रूप है प्रकृति—जो दिखायी पड़ता है आँखों से, हाथों से स्पर्श में आता है, इन्द्रियाँ जिसे पहचान पाती हैं, इन्द्रियों को जिसकी प्रतिक्रिया होती है। कहें कि जो दृश्यमान परमात्मा है वह प्रकृति है। लेकिन यह तो उनका अनुभव है, जिन्होंने परमात्मा को जाना। वह कहेंगे कि परमात्मा की देह प्रकृति है। लेकिन हम तो केवल देह को ही जानते हैं। वह परमात्मा की है देह, ऐसा हमारा जानना नहीं है। वह जो अप्रगट चैतन्य है उसकी ही आकृति है प्रकृति, उसका ही प्रगट रूप है—ऐसा तो वह जानते हैं, जो उस अप्रगट को भी जानते हैं। हमारा जानना तो इतना ही है कि जो यह प्रकट है, यही सब कुछ है।

उपनिषद् कहते हैं कि जो इस प्रगट प्रकृति की ही उपासना में रत हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। हम सभी रत हैं। उपासना में वे ही लोग रत नहीं हैं, जो मन्दिरों में प्रार्थना और पूजा कर रहे हैं। उपासना में वे लोग भी रत हैं, जो इन्द्रियों के मन्दिर में पूजा और प्रार्थना कर रहे हैं। उपासना शब्द का अर्थ होता है—पास बैठना। उप आसन—निकट बैठना। जब आप स्वाद में रस लेते हैं तब आप स्वाद की इन्द्रिय के पास बैठ गये। तब आप उससे अभिभूत हैं। तब स्वाद की उपासना चल रही है। जब आप काम-वासना में रस लेते हैं तब आप काम-इन्द्रिय के निकट बैठ गये हैं। काम-इन्द्रिय की उपासना चल रही है। वे जो स्वयं को नास्तिक कहते हैं वे भी उपासना में रत हैं। ईश्वर की उपासना में नहीं, प्रकृति की उपासना में रत हैं। उपासना से तो बचना कठिन है। किसी न किसी के पास तो बैठ ही जाना होगा। अगर परमात्मा के पास न बैठेंगे तो प्रकृति के पास बैठ जायेंगे। अगर आत्मा के पास न बैठेंगे तो शरीर के पास बैठ जायेंगे। अगर

अलौकिक के पास न बैठेंगे तो लौकिक के पास बैठ जायेंगे। पास तो बैठ ही जायेंगे। सिर्फ एक सम्भावना को छोड़ कर हर हालत में उपासना जारी रहेगी—सिर्फ एक सम्भावना को छोड़ कर। उसकी मैं पीछे बात करूँगा।

उपनिषद् का यह सूत्र कहता है कि जो प्रकृति की उपासना में रत हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। अन्धकार में इसलिए प्रवेश करते हैं कि प्रकृति की उपासना से प्रकाश का कोई भी सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। असल में प्रकृति की उपासना का मूलभूत आधार, एक ही है, और वह है अंधेरा। किसी भी वासना को पूरा करना हो तो चित्त जितने अंधेरे से भरा हो उतनी आसानी पड़ेगी। अगर चित्त में प्रकाश हो तो उपासना को पूरा करना मुश्किल हो जायेगा। चित्त जितना मूर्च्छा में हो वासना की दौड़ उतनी सुगम हो जायेगी। चित्त जितना सोया हो, जितनी तन्द्रा में हो उतनी आसान हो जायेगी उपासना। समस्त इन्द्रियों के रस किसी गहन मूर्च्छा में लिये जाते हैं। जागेंगे तो इन्द्रियों के पार जाने लगेंगे। सोयेंगे तो इन्द्रियों के पास आने लगेंगे। जितनी होगी निद्रा, उतनी होगी निकटता। इसलिए प्रकृति के उपासक को मूर्च्छित होना ही होगा। इन्द्रियों के उपासक को किसी न किसी तरह की बेहोशी खोजनी ही पड़ेगी। इसलिए अगर इन्द्रियों के उपासक धीरे-धीरे मूर्च्छा के अनेक-अनेक उपायों को खोज लेते हैं, इन्टाक्सिकेंट्स को खोज लेते हैं, शराब को खोज लेते हैं तो आश्चर्य नहीं। असल में इन्द्रियों का भक्त बहुत दिन तक शराब से दूर नहीं रह सकता। इसलिए जहाँ जितने इन्द्रियों के उपासक बढ़ेंगे वहाँ उतनी ही शराब और बेहोशी के नये-नये उपाय बढ़ते चले जायेंगे। इन्द्रियों की साधना के लिए, उपासना के लिए चित्त जितना अजागरूक हो, जितना विवेकशून्य हो, उतना अच्छा है।

क्रोध करना हो, कि लोभ करना हो, कि काम से भरना हो तो चित्त का मूर्च्छित होना जरूरी है, बेहोश होना जरूरी है। इस बेहोशी की स्थिति में ही हम प्रकृति की उपासना कर पाते हैं। तो उपनिषद् का यह सूत्र अर्थपूर्ण है। कहता है कि अन्धकार में प्रवेश कर जाते हैं वे लोग जो प्रगट, दिखायी पड़ रहा है, प्रत्यक्ष है जो, उसकी उपासना में रत हो जाते हैं। प्रकृति की उपासना में जो रत हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। लेकिन और भी एक बात कही है—और महा अन्धकार में प्रवेश करते हैं वे, जो कर्म प्रकृति की उपासना में रत हैं। एक तो इन्द्रियों की सहज उपासना है, जो पशु भी करते हैं। एक पशु है, वह भी इन्द्रियों की उपासना में रहता है। लेकिन कोई पशु कर्म प्रकृति की उपासना में रत नहीं रहता। अब इसे थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। यह आदमी की विशेष दिशा है—कर्म प्रकृति की उपासना।

एक आदमी पद के लिए दौड़ रहा है। किसी भी पद पर होने से किसी विशेष इन्द्रिय के तृप्त होने की सीधी कोई सम्भावना नहीं है। परोक्ष सम्भावना है कि किसी पद पर होने से वह किन्हीं इन्द्रियों को परोक्ष रूप से तृप्त करने के लिए ज्यादा सुविधा पा जाय। लेकिन प्रत्यक्ष, सीधी कोई सम्भावना नहीं है। पद पर होने से इन्द्रियों का कोई सीधा लेना-देना नहीं है। पद की दौड़ का जो रस है वह इन्द्रियों को नहीं, अहंकार को मिलता है—'मैं कुछ हूँ'। मैं कुछ हूँ, तो 'जो कुछ भी नहीं है' उनसे ज्यादा इन्द्रियों को तृप्त कर लेने में उसे सुविधा मिल जायेगी। लेकिन 'मैं कुछ हूँ', इसका अपना ही रस है। तो कर्म की उपासना में जो रस हम लेते हैं वह अहंकार की तृप्ति का रस है। उपनिषद् कहते हैं कि ऐसा आदमी महा अन्धकार में चला जाता है। पशुओं से भी गहन अन्धकार में चला जाता है। क्योंकि पशु जो रस ले रहे हैं वह प्राकृतिक ही है। एक आदमी खाने में रस ले रहा है। एक अर्थ में वास्तविक है। एक अर्थ में पशुओं जैसा है। लेकिन एक आदमी राजनीति में रस ले रहा है और पदों पर बड़ा होता चला जा रहा है, वह पशु से भी गया-बीता है। यह स्वाभाविक भी नहीं है। यह जो ले रहा है रस, यह पर्व्हर्टेड है, यह नेचुरल भी नहीं है। किसी पद पर होने में जो रस है वह किसी इन्द्रिय को, प्राकृतिक इन्द्रिय को तृप्ति नहीं देता है। एक बहुत अप्राकृतिक ग्रोथ है। भीतर अहंकार की गाँठ बढ़ती है तो उसको रस देता है कि दूसरा कुछ भी नहीं है और 'मैं कुछ हूँ'। डामिनेशन का रस है—दूसरे के ऊपर मालकियत करने का रस है। दूसरे को मुट्ठी में दबा लेने का रस है। दूसरे की गर्दन को कस लेने का रस है।

तो कर्म प्रकृति की उपासना का अर्थ है, अहंकार को तृप्त करने की दिशाएँ—चाहे यश, चाहे पद, चाहे धन। माना कि धन हो पास तो आदमी अपनी इन्द्रियों की वासनाओं को तृप्त करने में ज्यादा सहूलियत पाता है। धन पास न हो तो, मुसीबत होती है। लेकिन कुछ लोग धन की धन के लिए ही उपासना करते हैं। इसलिए नहीं कि धन पास में होगा तो वे एक सुन्दर स्त्री खरीद सकेंगे। इसलिए भी नहीं कि धन पास में होगा तो वे अच्छा भोजन खरीद सकेंगे। मात्र इसीलिए कि धन पास में होगा तो वे कुछ हो जायेंगे—सम बडी। कुछ खरीदने का सवाल नहीं है बड़ा। और अक्सर ऐसा होता है कि धन इकट्ठा करते-करते इन्द्रियों तक को भोगने की क्षमता खो जाती है। फिर तो धन की ही गिनती है कि आँकड़े कितने हैं—बैंक बैलेंस! बस, उसका ही रस रह जाता है। ऐसा आदमी बड़े कर्म में रत होता है सुबह से साँझ। न रात सोता है, न दिन ठीक से जागता है। दौड़ता रहता है, धन इकट्ठा करता चला जाता है, ढेर लगाता रहता है। एक आदमी धन

इकट्ठा करता चला जाता है। एक आदमी ज्ञान इकट्ठा करता चला जाता है। जहाँ से भी, 'मैं कुछ हूँ' इस रस को पोषण मिलता है वहीं से हमारे कर्मों का विराट् जाल शुरू होता है।

ध्यान रखें, पशुओं के जगत् में इतना उपद्रव नहीं है, जितना मनुष्य के जगत् में है। यद्यपि सब पशु प्रकृति के उपासक हैं—पक्के उपासक हैं, वे कोई और दूसरी उपासना नहीं करते। भोजन चाहिए, सुरक्षा चाहिए, काम-तृप्ति चाहिए, निद्रा चाहिए, मात्रा पूरी हो जाती है। एक पशु इससे ज्यादा नहीं माँगता। एक अर्थ में पशु की माँग बड़ी सीमित है। एक अर्थ में पशु बड़ा संयमी है। उसकी माँग बहुत ज्यादा नहीं है। बहुत थोड़ी-सी माँग है। अल्प माँग है। उसकी इन्द्रियाँ जो माँगती हैं वह पूरा हो जाय, फिर उसे कोई फिक्र नहीं है। वह राष्ट्रपति होने को उत्सुक नहीं होता। उसे भोजन मिला तो वह विश्राम में चला जाता है। काम-वासना की भी पशुओं की माँग बड़ी संयमित है। मनुष्य को छोड़ कर, पशुओं के पूरे विराट जगत् में काम-वासना सावधिक है—पीरिआडिकल है। एक समय होता है, जब पशु काम की माँग करता है। वैसे वर्षभर शेष समय के लिए वह काम के बाहर होता है, तब वह काम की माँग नहीं करता। सिर्फ मनुष्य अकेला पशु है पृथ्वी पर, जिसकी काम वासना सतत, चौबीस घण्टे, तीन सौ पैंसठ दिन है। कोई सुनिश्चित अवधि नहीं है जब वह कामातुर होता हो। वह पूरे समय कामातुर होता है। कामातुरता उसके पूरे जीवन पर फैल जाती है। कोई पशु इतना कामातुर नहीं है। पशु को भोजन मिल गया तो बात समाप्त हो गयी। कल के लिए, परसों के लिए, वर्ष के लिए, दो वर्ष के लिए भोजन को इकट्ठा करने की भी बहुत आकांक्षा पशु में नहीं है। अगर पशु दूर से दूर की भी फिक्र करता है तो वह शायद एकाध वर्षा की—कोई पशु। लेकिन आदमी अकेला पशु है, जो पूरे जीवन के संग्रह के लिए ही कोशिश नहीं करता, जीवन के बाद, मृत्यु के बाद भी अगर कोई अस्तित्व है तो उसके लिए भी संग्रह करता है।

इजिप्त की ममीज की कब्रों में, आदमी मर जाय तो सारा साज-सामान उसके साथ रख देते थे। जितना बड़ा आदमी हो उतना सामान रखना पड़ता था। सम्राट् मरता था तो उसकी सारी पत्नियों को जिन्दा उसके साथ दफना देते थे, क्योंकि उसको उस पार जरूरत पड़ सकती है। सारा धन, भोजन, बड़ा इन्तजाम है। यह जो पिरामिड खड़े हैं यह मुर्दा लोगों के लिए किये गये इन्तजाम हैं। जीवित स्त्रियों को पति के साथ दफना दिया जायगा, क्योंकि मरने के बाद वे काम आ सकती हैं। मरने के बाद की तो कोई पशु फिक्र नहीं करता। मरने तक की भी फिक्र नहीं करता। समय की उसकी आकांक्षा भी बड़ी सीमित है। अनेक-

अनेक रूपों में आदमी परलोक का भी इन्तजाम करता है। मन्दिर बना देता है, दान दे देता है, इस आशा में कि परलोक में मजा लेगा। परलोक में दिखा देगा कि मैंने इतना दान किया था। उसका उत्तर, उसका प्रत्युत्तर मुझे मिल जाय।

इन्द्रियों की उपासना इतनी जटिल नहीं है। और इसीलिए जितना पुराना समाज है—आदिवासी हैं, प्रीमेटिवज हैं, बहुत जाल नहीं है उनके जीवन में, इसलिए बहुत तनाव नहीं है। क्योंकि बहुत अर्थों में पशुओं के जैसी ही, वहाँ सिर्फ इन्द्रियों की उपासना है। यहाँ कर्म प्रकृति की उपासना नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता है वैसे-वैसे इन्द्रियों के ऊपर अहंकार की भी प्रतिष्ठा होनी शुरू हो जाती है। और अगर कोई आदमी अपने अहंकार के लिए अपनी इन्द्रियों की बलि भी दे देता है तो हम उसका बड़ा सम्मान करते हैं। अगर एक आदमी पद की दौड़ में भोजन की फिक्र छोड़ देता है, पत्नी की फिक्र छोड़ देता है, बच्चों की फिक्र छोड़ देता है तो हम कहते हैं, महात्यागी है। पद की दौड में, प्रतिष्ठा की दौड़ में, हम कहते हैं—देखो! न भोजन की फिक्र है, न वस्त्रों की चिन्ता है, न घर-द्वार की चिन्ता है। लेकिन ख्याल करे पीछे कि वह अपनी पशु प्रकृति को अहंकार के लिए समर्पित कर रहा है।

उपनिषद् ऐसे ही व्यक्ति को कहते हैं कि महा अन्धकार में चला जाता है। उससे तो बेहतर वही है, जो सिर्फ इन्द्रियों की उपासना में रत है। उसका जाल उतना गहन नही है, क्योंकि इन्द्रियों की माँग बहुत ज्यादा नहीं है। अहंकार की माँग अनन्त है। इन्द्रियों के साथ बड़ी खूबी है कि सभी इन्द्रियों की माँग अल्प, अत्यल्प और सीमित है। पुनरुक्त होती है, लेकिन असीम नहीं है। इस फर्क को समझ लें। इन्द्रियों की माँग पुनरुक्त होती है, रिपीट होती है, लेकिन असीम नहीं है। आज आपको भूख लगी है, खाना दे दिया, भूख चली गयी। कल फिर लगेगी भूख। रिपीट होगी, पुनरुक्त होगी। लेकिन किसी की भी भूख असीम नहीं है। ऐसा नहीं है कि आप खाते ही चले जायें और भूख न मिटे। काम-वासना आज पकड़ेगी, फिर चौबीस घण्टे बाद लौट आयेगी। लेकिन आज जब काम-वासना तृप्त हो जायेगी तो आप अचानक पायेंगे कि काम के बिलकुल बाहर हो गये हैं। काम-वासना भी असीम नहीं है। पुनरुक्त होती हैं जरूर, लेकिन सीमित है। लेकिन अहंकार असीम है। पुनरुक्त होने की जरूरत ही नहीं पड़ती उसे—चलता ही चला जाता है। कितना ही भरो, वह नहीं भरता। अहंकार दुष्पूर है। उसको भरा नहीं जा सकता। एक पद, और वह दूसरे पद की माँग तत्काल शुरू कर देता है। मिला भी नहीं पहला पद कि वह दूसरे की तैयारी शुरू कर देता है। एक आदमी को कहो कि मिनिस्टर बनायें, तो उसी रात वह चीफ

मिनिस्टर का सपना देखने लगता है—उसी रात। क्योंकि ठीक है, जो हो गया हो गया। अब आगे की यात्रा अहंकार तत्काल शुरू कर देता है। अहंकार पुनरुक्त नहीं होता, ध्यान रखना। वासनाएँ पुनरुक्त होती हैं। और पुनरुक्त इसीलिए होती हैं कि हरेक वासना की सीमित माँग है, वह पूरी हो जाती है तो वह शान्त हो जाती है। फिर जब जागती है दोबारा तो फिर माँग करती है। इसलिए पशु चिन्तित नहीं हैं बहुत। इसलिए पशु पागल नहीं होते—न्यूरोटिक नहीं होते। पशु आत्महत्या नहीं करते। पशुओं को मानसिक चिकित्सा की और साइको-एनेलिसिस की कोई जरूरत नहीं पड़ती। पशुओं के लिए किसी फ्रायड का, किसी जुंग का, किसी एडलर का कोई प्रयोजन नहीं है, कोई अर्थ नहीं है।

अगर पशु को गौर से देखें तो पशु बहुत शान्त है। बहुत भयंकर पशु भी बहुत शान्त है। अगर शेर को आपने भोजन के बाद देखा हो तो बिलकुल शान्त पायेंगे। जरा भी अशान्ति नहीं होगी। एकदम हिंसक, लेकिन हिंसा उसकी उसी समय तक, जब तक उसे भोजन नहीं मिला। भोजन मिला कि वह बिलकुल अहिंसक हो जाता है—एकदम गांधीवादी हो जाता है! फिर भोजन उसके पास में भी पड़ा रहे तो भी देखता नहीं। अक्सर सिंह जब भोजन करने के बाद विश्राम करता है, तब छोटे-मोटे जानवर जो हैं उसके भोजन बन सकते हैं, क्योंकि उसके बचे हुए भोजन को वे उसके पास ही बैठकर करते हैं। लेकिन तब वह उत्सुक ही नहीं होता उन्हें मारने में। कल जब भूख वापस लौटेगी तब वह फिर उत्सुक हो जायगा हिंसा के लिए, लेकिन तब तक बात समाप्त हो गयी। लेकिन आदमी के अहंकार की भूख समाप्त ही नहीं होती। जितना भरो उतना बढ़ती है।

फर्क समझ लेना आप इन्द्रिय और अहंकार का। इन्द्रिय को भरो, भर जाती है। फिर खाली होगी, फिर रिक्त होगी, फिर भरनी पड़ेगी। लेकिन अहंकार भरता ही नहीं। भरते चले जाओ, जितना भरो उतना बढ़ता है। जैसे आग में घी डाला हो बुझाने के लिए, ऐसे ही अहंकार में पड़ी हुई सारी पूर्तियाँ घी बन जाती हैं। और भभकता है और बड़ा होता है। जितना आपने बड़ा किया वह उससे और बड़े होने की माँग करता है। जो भी आप अहंकार को देते हैं वह केवल उसको और बढ़ने की ही सुविधा बनता है। इसलिए अहंकार जिस क्षण से मनुष्य को पकड़ता है, उसी क्षण से पशुओं से भी ज्यादा अशान्ति, तनाव, चिन्ता, बेचैनी आदमी को पकड़नी शुरू हो जाती है।

आज पश्चिम में वापस इन्द्रियों पर लौट जाने का विराट् आन्दोलन है। जिनको आप हिप्पी कहते हैं, या बीटनिक कहते हैं, या प्रव्होस कहते हैं, आज पश्चिम में वे युवक और युवतियाँ बड़ा आन्दोलन चला रहे हैं। वह आन्दोलन

है वापस इन्द्रियों पर लौट जाने का । वह कहते हैं, तुम्हारी यह शिक्षा, तुम्हारी यह डिग्रियाँ, तुम्हारे ये पद, तुम्हारा यह धन, तुम्हारी ये कारें, तुम्हारे ये महल कुछ भी हमें नहीं चाहिए । हमें खाना मिल जाय, हमें प्रेम मिल जाय, हमें सेक्स मिल जाय, पर्याप्त है । हमें तुम्हारा ये सब नहीं चाहिए । और मैं मानता हूँ कि यह बड़ी भारी घटना है । ऐसा अभी मनुष्य-जाति के इतिहास में कभी नहीं हुआ कि इतने व्यापक पैमाने पर लोगों ने कहा हो कि हम कर्म प्रकृति को छोड़कर सिर्फ इन्द्रियजन्य, वह जो प्रगट प्रकृति है इन्द्रियों की, वासनाओं की, उसके लिए राजी हैं । पर्याप्त है, उससे हमें ज्यादा नहीं चाहिए । यह इस बात की खबर है कि कर्म और अहंकार का जाल इतना भयंकर हो गया है कि आदमी पशु होने को राजी है, लेकिन अब अहंकार से छूटना चाहता है । यद्यपि पशु होने से आदमी अहंकार से छूट नहीं सकेगा । अहंकार से तो आदमी सिर्फ परमात्मा होकर ही छूटता है । इन्द्रियों में गिरकर थोड़ी राहत मिलेगी, लेकिन कल फिर कर्म का जाल शुरू हो जायगा । क्योंकि आज से दो हजार साल पहले भी इन्द्रियों के साथ ही आदमी जी रहा था, लेकिन उसमें से अहंकार निकल आया । आज हम फिर वापस रिग्रेस कर जायँ, कल फिर अहंकार निकल आयगा । कोई उपाय नहीं है पीछे लौटने का । आदमी को आगे ही जाना होगा । इस सूत्र में उपनिषद् ने कहा है कि प्रकृति की उपासना मे रत तो अन्धकार में भटकते हैं । अहंकार की उपासना में रत महा अन्धकार में भटक जाते हैं ।

फिर कौन अन्धकार के पार होता है ? कौन ?

दो ही तरह की उपासनाएँ दिखायी पड़ती हैं । या तो इन्द्रियों के उपासक है, या तो अहंकार के उपासक हैं । और अक्सर अहंकार के उपासक इन्द्रियों की उपासना के विरोध में ही होते हैं । एक आदमी त्याग किये चला जा रहा है । अगर हम त्यागी की मनोदशा को चीर-फाड़ कर देख सकें, उसका आपरेशन कर सकें, तो आप हैरान होंगे कि त्यागी का रहस्य और राज अहंकार की तृप्ति है । उसने तीस दिन का उपवास कर लिया है, गाँव में बैण्ड बाजे बज रहे हैं, स्वागत हो रहा है । तीस दिन का उपवास उसने झेल लिया है । हम कहेंगे कि महा त्याग किया है, तीस दिन भूखा रहना साधारण बात तो नहीं ! बिलकुल साधारण बात नहीं है । लेकिन बिलकुल साधारण है, अगर अहंकार को तृप्ति मिलती हो । तीस दिन क्या आदमी तीस साल भूखा रह जाय, अगर अहंकार को तृप्ति मिलती हो । अहंकार किसी भी इन्द्रिय का त्याग करवाने को सदा तैयार है । और इस राज को हम बहुत पहले समझ गये, इसलिए जिससे भी त्याग करवाना हो उसके अहंकार की तृप्ति करना हम शुरू करते हैं । मनुष्य-जाति इस राज

को समझ गयी है। इसलिए आप त्यागी का सम्मान करते हैं। सम्मान के बिना कोई त्याग करने को राजी नहीं होगा। यद्यपि त्यागी वही है, जो सम्मान के बिना त्याग कर सकता हो। आप अपने सम्मान को खींच लें त्यागियों से। सौ में से निन्यानबे त्यागी कल आपको कहीं नहीं मिलेंगे, खो जायेंगे। सम्मान को खींच कर आप देखें, तो आपको पता चलेगा।

हमें ख्याल में नहीं है कि गाँव में एक आदमी अगर एक ही बार भोजन करता है, तो लोग उसके पैर छू लेते हैं। तो आपने उसके अहंकार को इतना भोजन दे दिया, जो काफी है। अब शरीर को काटेगा वह आदमी और अहंकार को भरता चला जायगा। इसलिए अहंकार की इस पूजा के लिए कुछ भी करवाया जा सकता है और करीब-करीब सब कुछ करवा लिया गया है। पूरे मनुष्य-जाति के इतिहास में हजार-हजार रूपों में, आदमी से कुछ भी करवाया जाता रहा है।

योरोप में खुद को कोड़ा मारने वाले साधुओं का बड़ा व्यापक आन्दोलन था, मध्य युग में। जो साधु जितने कोड़े अपने को मारे, उतना सम्मान मिलता था। क्योंकि वह शरीर पर उतनी तितिक्षा कर रहा है। तो बड़े अद्‌भुत साधु पैदा हुए मध्य युग में। जिनका कुल गुण इतना था कि वह सुबह से उठकर अपने मांस को कोड़ों से चीर-फाड़ डालते, लहू-लुहान कर लेते। और गाँवों में प्रसिद्धि होती कि फलाँ आदमी पचास कोड़े मारता है, फलाँ आदमी सौ कोड़े मारता है! बस, इतना ही गुण था, और कोई गुण न था। लेकिन इसके लिए बड़ा आदर मिलता था। तो कोड़े मारने में लोग निष्णात हो गये। आपको हैरानी लगेगी कि यह क्या पागलपन है! जिस आदमी में और कुछ नहीं था, जो सिर्फ कोड़े मार सकता था, उसको आदर देने का क्या कारण था? लेकिन आप जरा अपने साधुओं को सोचें तो पता चलेगा कि उनमें क्या गुण है? किसी साधु में यही गुण है कि वह पैदल चलता है। किसी साधु में यही गुण है कि वह एक बार भोजन करता है। किसी साधु में यही गुण है कि वह स्त्री को नहीं छूता। किसी साधु में यही गुण है कि वह नंगा रहता है। यह गुण हैं! इनमें कुछ भी तो नहीं है। सार क्या है? कितने ही चलो पैदल! सारे जानवर पैदल चलते हैं। नहीं, लेकिन सार एक है कि वह जो पैदल नहीं चल पाते, पैदल चलने में कठिनाई अनुभव करते हैं, जो कि स्वाभाविक है, वह इनको आदर देते हैं। कार में चलने वाला पैदल चलने वाले के पैर छूता है। पैदल चलने वाले ने कार को दो कौड़ी का कर दिया। तुम्हारा कार का अहंकार मिट्टी में मिला दिया। चलते होओगे कार में, लेकिन पैर तो छूने पड़ते हैं उसके, जो पैदल चलता है!

पैदल चलने वाला शायद कार अर्जित न कर पाता। वह जरा कठिन मामला

था। लेकिन पैदल तो चल सकता है। आपके अहंकार को तोड़ने के दो उपाय थे। या तो आपसे बड़ी कार ले आता वह, जो कि जरा कठिन है। और या फिर पैदल चल आता, जो कि बिलकुल सरल है। वह पैदल चलकर आपके अहंकार को मिट्टी में मिला देगा। उसने अकड़ कायम कर ली है। लेकिन गुण क्या है, गुणवत्ता क्या है? कौन-सी क्वालीटेटिव, कौन-सी गुणात्मक क्रान्ति हो गयी उस आदमी में, जो पैदल चल रहा है? लेकिन नहीं, हम उसको सम्मान देंगे। सम्मान हम इसलिए देंगे कि जो हम नहीं कर पा रहे हैं, जो हमें लगता है कि तकलीफदेह है, वह कर रहा है। तो हमे लगता है, बड़ा त्याग कर रहा है। और उस आदमी को सम्मान मिलता है, तो सम्मान के लिए कोई आदमी सारी पृथ्वी का चक्कर लगा आता है। पैदल क्या, जमीन पर घसिटते हुए लगा सकते है। जमीन पर घसिटते हुए भी लोग लगाते हैं। काशी तक की यात्रा कर लेते हैं, जमीन पर घसिटते हुए। और उनके पीछे सौ-दो सौ आदमी चलने लगते हैं, क्योंकि वह जमीन पर घसिटकर काफी विख्यात हो जाते है। और भी कोई गुण हैं इसके अलावा, इसके पूछने की कोई जरूरत ही नहीं। त्यागी अक्सर इन्द्रियों के खिलाफ अहंकार की पूर्ति करते चले आते हैं। मैं तो उसे त्यागी कहता हूँ, जो इन्द्रियों से तो मुक्त होता है और अहंकार को तृप्त नहीं करता। तभी त्याग है, अन्यथा कोई अर्थ नहीं। जो इन दोनो से मुक्त होता है, उसकी ही उपनिषद् चर्चा कर रहे हैं। जो न तो प्रकृति की उपासना में रत है और न अहंकार की उपासना में रत है। जो इन दोनों ही उपासनाओ मे रत नही है, उसकी ही बात उपनिषद् कर रहे हैं।

ध्यान रखना, इन्द्रियो की उपासना बहुत प्रगट उपासना है। और अहंकार की उपासना बहुत सूक्ष्म। इसलिए अहंकार की उपासना को पहचानना अक्सर कठिन होता है। प्रकृति की उपासना तो प्रगट दिखायी पड़ती है। एक आदमी भोजन में ज्यादा रस लेता है, तो प्रगट दिखायी देता है। एक आदमी सुन्दर कपड़े पहनता है, तो प्रगट दिखायी पड़ता है। लेकिन जो आदमी सुन्दर कपड़े पहन कर गाँव में निकलता है, उसकी आकांक्षा क्या होगी? यही आकांक्षा होती है न कि लोग देखें। यही आकांक्षा होती है न कि लोग जानें, लोग मानें कि वह कुछ है। आखिर लाख या दो लाख रुपये का मिनी कोट पहन कर कोई स्त्री निकलती है तो किसलिए? कोई कोट जैसा उपयोग तो उसका होता नहीं। कोट से कोई दो लाख का लेना-देना नही है। दो-चार सौ रुपये का कोट काफी कोट है। लेकिन दो लाख रुपये के कोट का क्या अर्थ होता होगा? निश्चित ही कोट से कोई प्रयोजन नहीं, दूसरी स्त्रियों की आँखों में जो जलन आग आती होगी, उसका रस है।

दूसरी स्त्रियों की दीनता प्रगट हो जाती होगी उस कोट के सामने, उसमें रस है। लेकिन यह भी दिखायी पड़ता है, इसमें बहुत अड़चन नहीं है। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है कि एक आदमी दो लाख रुपये का कोट पहने तो हम समझ जाते हैं कि क्या मामला है। लेकिन एक आदमी नग्न खड़ा हो जाय बाजार में ? कहीं उसका भी रस तो यही नहीं है कि लोग देखें कि वह कुछ है ! तो फिर **मिनी कोट में और दिगम्बरत्व में कोई फर्क न रहा।** या इतना ही फर्क रहा कि मिनी कोट खरीदना हो तो लम्बे उपद्रव में पड़ना पड़ेगा, दो लाख कमाने पड़ेंगे। और नग्न खड़ा होना हो, तो मिनी कोट का मजा भी मिल जाता है और अभ्यास है सरल। इन्द्रियों की उपासना बहुत साफ है, इसलिए दिखायी पड़ती है। **अहंकार की उपासना सूक्ष्म और सूक्ष्म और सूक्ष्म होती चली जाती है।**

लेकिन, ध्यान अपने पर रखना, दूसरे की फिक्र मत करना आप कि दूसरा क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है। दूसरा नग्न खड़ा है, तो वह किसलिए खड़ा है, आप नहीं जान सकेंगे। **बात इतनी सूक्ष्म है कि वह खुद भी जान ले तो पर्याप्त है।** आप नहीं जान सकेंगे। हो सकता है, उसकी नग्नता सिर्फ निर्दोषता हो, इनोसेंस हो। एक महावीर नग्न खड़े होते हैं, तो निश्चित ही नग्नता का उपयोग महावीर मिनी कोट की तरह नहीं कर सकते, क्योंकि कोट उनके पास बहुत है। महावीर के पास बहुत कीमती कोट हैं। समबडी होने के लिए तो उनके पास रस बहुत था। तो महावीर जैसा आदमी जब नग्न खड़ा हो जाता है, तो किसी अहंकार की उपासना मे जा रहा होगा, इसकी सम्भावना न के बराबर है। बिलकुल न के बराबर है। लेकिन वह भी हम बाहर से नहीं जान सकते, वह महावीर पर ही छोड़ देना चाहिए कि वह भीतर से जाने। आपके पड़ोस में कोई खड़ा है नग्न, आप नहीं जान सकते, वह क्यों खड़ा है। यह उस पर ही छोड़ दें कि वह जाने। यह उसे ही पहचानने दें। बहुत सूक्ष्म और भीतरी है बात। इन्द्रियों की तृप्ति करनी हो तो हमें बाहर जाना पड़ता है। अहंकार की तृप्ति करनी हो, तो बाहर जाने की भी जरूरत नहीं है। वह भीतर भी पूरा हो सकता है।

मैंने सुना है, एक संन्यासी एक जंगल में अकेला रहता है, दूर। उसने कोई शिष्य नहीं बनाये। फिर कोई यात्री साधु वहाँ से निकलता है और उससे कहता है कि आप बड़े विनम्र हैं। आपने एक भी शिष्य नहीं बनाया ! इतने बड़े ज्ञानी हैं, फिर भी आप किसी के गुरु नहीं बने ! मैं अभी एक दूसरे संन्यासी के पास से आ रहा हूँ। उनके हजारों शिष्य हैं।

वह साधु मुस्कुराता है। मुस्कुराता है और कहता है, उनकी मुझसे तुम क्या तुलना कर रहे हो ? मेरी उनसे तुम क्या तुलना कर रहे हो ! मैं ठहरा नितान्त

एकान्तजीवी। मैं किसी तरह का मोह नहीं बनाता। मैंने एक शिष्य का भी मोह नहीं बनाया। मैं किसी तरह का अहंकार निर्मित नहीं करता। मैं गुरु होने का भी अहंकार निर्मित नहीं करता हूँ। मैं बिलकुल निरहंकारी हूँ'।

उस आदमी ने कहा, आप ही जैसा एक निरहंकारी साधु मैंने और भी देखा है।

उस साधु का तो चेहरा बदल गया, मुस्कुराहट खो गयी। प्रतियोगी सामने खड़ा हो गया तो अहंकार पीड़ा पाने लगा। पहले वह प्रसन्न हो रहा था, क्योंकि वह जिस साधु की बात कर रहा था, उसमें उसके अहंकार को चोट नहीं लगती थी, उल्टे भरता था अहंकार। लेकिन 'ऐसा ही एक साधु मैंने और देखा', इससे बड़ी पीड़ा होती है। मेरे ही जैसा कोई और भी है, इससे चित्त को बड़ा दुख होता है। वह नितान्त एकान्तजीवी व्यक्ति भी उस निर्जन एकान्त में अपने अहंकार को ही भर रहा था। इससे ही भर रहा था कि मैं अकेला रहता हूँ। इससे ही भर रहा था कि मैंने शिष्य नहीं बनाये। कोई इससे भर सकता है कि मैंने शिष्य बनाये, कोई इससे भर सकता है कि मैंने शिष्य नहीं बनाये। कोई कह सकता है कि मुझसे बड़ा कोई भी नहीं और कोई कह सकता है कि मैं तो दीन-हीन हूँ, आपके पैर की धूल हूँ, लेकिन मुझसे बड़ी धूल कोई भी नहीं है। मुझसे आगे की धूलि की बात मत करना, मैं आखिरी हूँ। तब कोई फर्क नहीं पड़ता है। तब कोई भी फर्क नहीं पड़ता है। पर इसे पहचानने को स्वयं के भीतर ही आना पड़ेगा।

ऋषि कहता है, दोनों उपासनाओं से जो मुक्त हो जाता है, वह प्रकाश में प्रवेश करता है। इन्द्रियों की उपासना से भी, अहंकार की उपासना से भी। प्रगट प्रकृति की उपासना से और सूक्ष्म अस्मिता की उपासना से। पर उपनिषद् एक बात बड़ी गहरी कहते हैं कि पहली उपासना इतने गहरे अन्धकार में नहीं ले जाती, क्योंकि इन्द्रियाँ अन्ततः आपको दी गयी हैं। प्रकृति हैं, आपने उन्हें निर्माण नहीं किया। अहंकार आपका निर्मित है। अहंकार अर्जन है। इन्द्रियाँ तो मिली हैं। आप पैदा हुए तो साथ लेकर आये। स्वाद से आप भला किसी दिन मुक्त हो जायें, भूख से आप किसी दिन मुक्त नहीं हो सकेंगे। भूख तो मरते दम तक साथ रहेगी। भूख जरूरत है। इन्द्रियाँ तो आप लेकर आये और इन्द्रियों से कितने ही मुक्त हो जायें, फिर भी इन्द्रियों की जरूरत से मुक्त नहीं होंगे। इन्द्रियों की वासना से मुक्त हो सकते हैं, लेकिन इन्द्रियों से मुक्त नहीं हो सकते। इन्द्रियों की विक्षिप्तता से मुक्त हो सकते हैं, लेकिन इन्द्रियों की आवश्यकता से मुक्त नहीं हो सकते। महावीर भी नहीं हो सकते, बुद्ध भी नहीं हो सकते, कोई

भी नहीं हो सकता। वह तो जीवन का अनिवार्य अंग है कि भोजन आपको चाहिए ही। हाँ, इतना हो सकता है, और वही इन्द्रियों की उपासना से जो मुक्त होता है, उसको हो जाता है। इतना ही कि वह पागल नहीं रह जाता। इतना हो जाता है कि वह इन्द्रियों की वासना को फैलाता नहीं है। वर्धन नहीं करता। न्यूनतम—जो आवश्यक है, वहाँ ठहर जाता है। दो रोटी से काम चल जाता है उसके शरीर का तो दो रोटी पर रुक जाता है। पचास रोटी की उसकी माँग नहीं होती। एक कपड़े से तन ढँक जाता है, तो एक कपड़े से तन ढँक लेता है। लेकिन कपड़ों के ढेर लगाने की उसकी आकांक्षा नहीं होती। एक झोंपड़े के नीचे उसको छाया मिल जाती है, तो ठीक है। बहुत बड़े महल की वह माँग नहीं करता।

यह प्रत्येक को स्वयं ही निर्णय करना पड़ता है कि कितनी उसकी आवश्यकता है, क्योंकि हमारी आवश्यकताएँ भी भिन्न हैं। किसी की दो रोटी की आवश्यकता न्यूनतम हो सकती है और किसी की पाँच रोटी की आवश्यकता न्यूनतम हो सकती है। किसी के लिए पाँच रोटी न्यूनतम आवश्यकता है और किसी दूसरे के लिए पाँच रोटी बहुत बड़ा विलास हो सकती है। इसलिए **इसे कोई कभी दूसरे के अनुकरण से तय न करे।** अपने ही भीतर खोजें और खोज का एक सरल मापदण्ड है कि **इन्द्रिय की न्यूनतम आवश्यकता कभी भी चिन्ता से नहीं भरती।** इन्द्रिय जैसे ही न्यूनतम आवश्यकता के, अनिवार्य के बाहर जाती है और गैर अनिवार्य की माँग करती है, तभी चिन्ता शुरू होती है। तो चिन्ता को मापदण्ड समझ लेना। जैसे ही आपको चिन्ता होनी शुरू हो, तो आप समझना कि आप कुछ ज्यादा की माँग कर रहे हैं, जो गैरजरूरी है। क्योंकि गैरजरूरी से ही चिन्ता पैदा होती है। जरूरी से चिन्ता पैदा होती ही नहीं। वह जो गैरजरूरी है, जिसके बिना भी चल सकता था, लेकिन आप चलाने को राजी नहीं हैं, उसी से चिन्ता पैदा होती है। तो अगर चित्त में चिन्ता आती हो, तो समझ लेना कि इन्द्रियों की जरूरत से ज्यादा में आप पड़े हैं। **चिन्ता सूचक है।** जैसे कि भूख लगी है और आपने भोजन लिया। तो कब आपको पता चलेगा कि भोजन जरूरत से ज्यादा हो रहा है। जैसे ही पेट पर बोझ पड़ना शुरू हो जाय, जैसे ही पेट पर भार पड़ना शुरू हो जाय, जैसे ही पेट के भरने से तृप्ति तो न मिले, पीड़ा शुरू हो जाय तो आप समझ लेना कि जरूरत से ज्यादा है। पेट चिन्तित हो गया।

यह मैंने उदाहरण के लिए कहा। ऐसे ही हर इन्द्रिय चिन्तित हो जाती है, अगर आपने जरूरत से ज्यादा भोजन किया तो। जितनी उसकी जरूरत थी, वहाँ तक वह स्वस्थ होती है, शान्त होती है, तृप्त होती है। जैसे ही जरूरत से ज्यादा बोझ पड़ा, अस्वस्थ होती है, बीमार होती है, रुग्ण होती है, परेशान होती

है। भूख का मिटना तो बड़ा तृप्तिदायी है। लेकिन भूख से ज्यादा का बोझ बहुत ही कष्टदायी है, बहुत रोगकारक है। बहुत सोच-समझ कर एक आदमी लुईकोर्नें ने एक छोटा-सा वक्तव्य दिया है। कहा है कि जो भोजन हम करते हैं, उसमें से आधे से हमारा पेट भरता है और आधे से डाक्टर का। क्योंकि आधा हमारे लिए जरूरी है और आधा बीमारी के लिए। भूख से इतने लोग नहीं मरते पृथ्वी पर, जितने ज्यादा खाने से मरते हैं। और भूख में एक तेजस्विता है। लेकिन ज्यादा खाने में एक तमस है, एक अन्धेरा उतर आता है।

प्रत्येक को अपना ही निर्णय करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक की जरूरतें और इन्द्रियों की माँगें और व्यवस्थाएँ भिन्न हैं। पर जैसे ही चिन्ता पैदा होती है, जैसे ही रोग पैदा होता है, इन्द्रियाँ बहुत शीघ्र सूचना देती हैं। इन्द्रियाँ बहुत संवेदनशील हैं, शीघ्र सूचना देती हैं कि जरूरत से ज्यादा हो गया। यह जरूरी नहीं है। यह जो किया जा रहा है, गैरजरूरी है। तो गैरजरूरी को हटा दें। इन्द्रियाँ तो रहेंगी अन्त तक, क्योंकि जीवन इन्द्रियों के पहियों पर ही चल रहा है। लेकिन अहंकार अनिवार्य नहीं है। अहंकार हमारा अर्जन है। वह हमने निर्मित किया है। और हम जीते-जी बिलकुल निरहंकार में प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए अहंकार महा अन्धकार में ले जाता है, क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा निर्मित है। वह बिलकुल ही गैरजरूरी है। इन्द्रियों में कुछ जरूरी है, कुछ गैरजरूरी, हम जोड़ते हैं। जो हम जोड़ते हैं, वही उपद्रव है। अहंकार पूरा-का-पूरा गैरजरूरी है। वह पूरा-का-पूरा हम ही निर्मित करते हैं। इसलिए वह महा अन्धकार में ले जाता है। इन्द्रियाँ अन्धकार में ले जाती हैं, गैरजरूरी के जोर से। अहंकार महा अन्धकार में ले जाता है, क्योंकि पूरा ही गैरजरूरी है। जीते-जी बिलकुल बिना अहंकार मे जिया जा सकता है। सच तो यह है कि जो जितने बिना अहंकार के जीता है, उतना ही गहन जीता है। और जो जितने अहंकार से जीता है, उतना ही क्षुद्र और सतह पर जीता है। क्योंकि अहंकार गहरे जाने ही नहीं देता। अहंकार सरफेस पर, सतह पर अटकाये रखता है। क्यों? इसे भी थोड़ा ख्याल में ले लेना चाहिए।

असल में अहंकार का मजा तो दूसरे की आँख मे है। आपको अगर जंगल में अकेला छोड दें तो अहंकार का कोई मजा नहीं रह जाता। फिर हीरे का हार पहनने का कोई अर्थ नहीं होगा। और पहनेंगे तो जानवर हँसेंगे। हीरे का होगा, तो भी सिर्फ गले पर भार मालूम पड़ेगा। तबीयत होगी कि उतार कर रख दूं बोझ। जंगल में अहंकार को क्या करियेगा? नहीं, अहंकार का सारा रस ही दूसरे की आँख में जो प्रतिबिम्ब बनता है, उसमें है। निश्चित ही दूसरे की आँख

में जो प्रतिबिम्ब बनते हैं, वह सतह पर होंगे। हमारे बाहर चारों तरफ होंगे। घर के बाहर जैसे फेंसिंग लगाते हैं हम, बस अहंकार फेंसिंग की तरह है। चाहे कितनी ही रंगीन हो, कितनी ही खूबसूरत हो, लेकिन है, दूसरे की आँख से निर्मित। अहंकार बिना दूसरे के निर्मित नहीं होता है, इसलिए पर-निर्भर है। इसलिए दूसरे से सदा भयभीत रहना पड़ता है, क्योंकि दूसरे के हाथ में है उसकी तृप्ति, वह कभी भी खींच ले सकता है हाथ। आज सुबह नमस्कार की थी और कल न करें तो गिर गयी दीवार अहंकार की, ईंट खिसक गयी। चित्त बेचैन हो जायगा कि अब क्या करना। गाँव के लोग तय कर लें कि इस आदमी को भूल जाओ। निकले तो सोचो मत कि निकल रहा है। कोई ख्याल ही मत करो कि है। तो उसकी तो मौत हो जायेगी, मर गया जैसे। **दूसरे की आँख में रस है, अहंकार का और दूसरे की आँख बाहर है।** उसमें जो रस ले रहा है, वह भीतर गहरे नहीं जा सकता। वह गहरे जी नहीं सकता। वह सिर्फ आवरण और वस्त्रों में जियेगा। गहरे जीवन में तो वही उतर सकता है, जो **आत्मा** में उतरे। और आत्मा में वही उतरता है, जो **अहंकार को भूले**। दूसरे की आँख को भूले, अपनी आँख के भीतर चले। **अपने को देखे**। दूसरा अपने को कैसा देखते हैं, इसकी फिक्र छोड़ दे। दूसरों के ओपीनियन का ख्याल छोड़ दे कि दूसरे क्या कहते हैं। इसका ही ख्याल रखे कि मैं क्या हूँ। यह सवाल बिलकुल बेकार है कि दूसरे क्या कहते हैं। दूसरों से लेना-देना क्या है? दूसरों की गवाही काम नहीं पड़ेगी। जीवन में कोई दूसरों की गवाही का उपयोग नहीं है।

सुना है मैंने, एक यहूदी फकीर हुआ। मर रहा था। आखिरी क्षण था। पुरोहित गाँव का आया था अन्तिम बिदाई का मन्त्र पढ़ने। तो उसने यहूदी फकीर से कहा कि स्मरण करो मूसा का! परमात्मा के निकट जाने के करीब हो। उस मरते फकीर ने आँखें खोलीं और उसने कहा, मूसा का नाम मत लो। क्योंकि जब मैं परमात्मा के सामने होऊँगा—उस फकीर का नाम था मौनीज—तो उसने कहा, जब मैं ईश्वर के सामने होऊँगा तो वह मुझसे यह नहीं पूछेगा कि तू मूसा क्यों नहीं हुआ। वह मुझसे पूछेगा कि **मौनीज क्यों नहीं हुआ**? मुझसे मूसा का तो पूछेगा नहीं। पूछेगा कि जो होने को मैंने तुझे भेजा था, वह तू हुआ कि नहीं? तू जो पोटेंशियल बीज लेकर गया था वह फूल बना कि नहीं? अभी मूसा का नाम मत लो। **अभी तो मेरा सवाल है।**

उस पुरोहित ने झुककर उससे कहा कि मरते वक्त अपनी प्रतिष्ठा पर पानी मत फेरो, क्योंकि चारों तरफ लोग खड़े हैं, वह सुन लेंगे कि मूसा के लिए तुमने ऐसा वचन कहा। मूसा तो यहूदियों के लिए भगवान् है। उस फकीर ने फिर से

आँख खोली और उसने कहा कि जीवनभर उस पागलपन में पड़ा रहा, अब मरते वक्त तो मुझे मुक्त होने दो। उस प्रतिष्ठा को छोड़ता हूँ, अब। मरते वक्त तो मुझे प्रतिष्ठा से मुक्त हो जाने दो। अब इनकी फिक्र छोड़ो, ये चारों तरफ जो मेरे खड़े हैं। क्षणभर में मैं इनसे छूट जाऊँगा। ये मेरे गवाह नहीं होने वाले हैं। ईश्वर इनसे नहीं पूछेगा कि मेरे सम्बन्ध में क्या कहते हो। ईश्वर तो मुझे देखेगा कि मैं क्या हूँ। मुझे मेरी फिक्र करने दो।

असल में अहंकार सदा, दूसरे मेरे सम्बन्ध में क्या कहते हैं, इसका लेखा-जोखा है। और आत्मा सदा इस बात की प्रतीति है कि मैं क्या हूँ? दूसरे क्या कहते हैं इससे कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। दूसरे गलत भी कह सकते हैं। दूसरे सही भी कह सकते हैं। क्या कहते हैं यह वे जानें।

इन्द्रियों की उपासना को छोड़ने का अर्थ है, इन्द्रियाँ जरूरत पर ठहर जायँ। और अहंकार की उपासना को छोड़ने का अर्थ है, अहंकार शून्य पर आ जाय। ये दो सम्भावनाएँ पूरी हो जायें तो व्यक्ति इन्द्रियों के पास भी नहीं बैठता, अहंकार के पास भी नहीं बैठता। वह आत्मा के पास बैठ जाता है। तब एक नयी उपासना शुरू होती है—प्रभु के निकट होने की। और प्रभु के निकट होना कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रभु के निकट होने का अर्थ प्रभु से एक हो जाना ही होता है। उसके बाद हम दूसरे नहीं बच सकते। जब तक हम ये दो उपासनाओं में रत हैं तब तक हम दूर रह सकते हैं। उसके पास होने के लिए, उससे एक होने के लिए अलग से फिर कुछ भी नहीं करना होता। बस, ये दो उपासनाएँ छोड़ते ही आप परमात्मा से एक हो जाते हैं। यह ऐसे ही है, जैसे कोई आदमी छत पर से छलाँग लगाये और छलाँग लगाने के पहले पूछे कि मैं छलाँग तो लगा रहा हूँ, लेकिन छलाँग लगाने के बाद जमीन तक पहुँचने के लिए मैं क्या करूँ? तो हम उससे कहेंगे कि तुम छलाँग लगाओ, बाकी काम जमीन कर लेगी। तुम्हें कुछ और करना नहीं होगा। तुम छत से एक कदमभर उठा लो बाहर। फिर बाकी तुम्हें कुछ न करना पड़ेगा। बाकी जमीन कर लेगी। इन्द्रियाँ और अहंकार की उपासना की छत से कोई छलाँग-भर लगा जाय, फिर बाकी काम परमात्मा कर लेता है। फिर ऐसा नहीं कि हम उसके पास पहुँचते हैं, हम उसमें ही पहुँच जाते हैं। उसका ग्रेविटेशन, उसकी कशिश भारी है।

हमने इस देश में जिस व्यक्ति को पूर्ण अवतार कहा है—कृष्ण को, उसके नाम का मतलब ग्रेविटेशन होता है। कृष्ण का मतलब है जो खींच लेता है, आकृष्ट कर लेता है, आकर्षित कर लेता है। जिसमें कर्षण है, कशिश है, ग्रेविटेशन है, जो खींच लेता है। बड़ी ताकत है पृथ्वी के खींचने की। लेकिन आप रोक सकते हैं अपने को,

न आयें पृथ्वी तक। एक छोटा-सा तिनका भी रोक सकता है अपने को पृथ्वी की इतनी बड़ी ताकत के खिलाफ। कहीं भी क्लिंगिंग अगर है, कहीं भी अगर कोई चीज आपने पकड़ रखी है तो यह पृथ्वी की कशिश भी खींच न सकेगी आपको। अनक्लिंगिंग—आपने सब कुछ छोड़ दिया, आपके हाथ खाली हो गये, कुछ भी नहीं पकड़ा तो पृथ्वी फौरन् खींच लेगी। कितने ही दूर हों, खींच लिये जायेंगे। और कितने ही पास हों, अगर कुछ भी पकड़ रखा है तो नहीं खींचे जा सकेंगे। परमात्मा खींच लेता है उसे, जो इन दो से मुक्त हो जाता है। इधर इन्द्रियों से, उधर अहंकार से। प्रकाश में इसका प्रवेश हो जाता है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

कार्यब्रह्म (सम्भूति) की उपासना से और ही फल बतलाया गया है; तथा अव्यक्त ब्रह्म (असम्भूति) की उपासना से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमानों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१३॥

उपनिषद् ब्रह्म के दो रूपों की बात करते हैं। रूप ही दो हैं, तत्त्व तो एक है। यह और भी ठीक होगा कहना कि जानने वाले दो तरह के हैं, तत्त्व तो एक है। एक तो ब्रह्म का अव्यक्त, प्रारम्भरूप है। और एक ब्रह्म का कार्यरूप, प्रगट, और व्यक्तरूप है। बीज कारण है, वृक्ष है कार्य। बीज में छिपा है सब, वृक्ष में सब प्रगट हो गया है। तो एक तो बीज ब्रह्म है, जो हमें कहीं भी दिखायी नहीं पड़ता। जो दिखायी पड़ता है वृक्ष ब्रह्म है, बीज ब्रह्म नहीं। जो व्यक्त है, जो प्रगट हो गया है वह हमें दिखायी पड़ता है। जो अप्रगट है वह हमें दिखायी नहीं पड़ता है। इस अप्रगट ब्रह्म की उपासना हो सकती है। और इस प्रगट ब्रह्म की भी बहुत रूपों में पूजा और प्रार्थना हो सकती है। दोनों के ही अलग-अलग परिणाम है।

उपनिषद् जब कहे गये, तब देवताओं की भारी उपासना थी। देवता शब्द को ठीक से समझ लेना चाहिए। देवता ब्रह्म के कार्यरूप की शुद्धतम अभिव्यक्ति है—शुद्धतम। ऐसे तो पत्थर भी उसीकी अभिव्यक्ति है, लेकिन देवता हम उसे कहते हैं—प्रगट होते हुए भी जिसमें अप्रगट झलकता हो। जिन्हें हम अवतार कहें, तीर्थंकर कहें, ईश्वर-पुत्र कहें। जीसस हों, मुहम्मद हों, महावीर हों, कृष्ण हों, राम हों। ये व्यक्ति जैसे देहलीज पर खड़े हैं, बीच के द्वार पर। प्रगट हैं, दरवाजे के बाहर से हमें दिखायी पड़ते हैं। सामने का चेहरा उनका साफ है। ठीक हमारे जैसा है। फिर भी ठीक हमारे जैसा नहीं है। कुछ अप्रगट की झाईं, कुछ उस बीज ब्रह्म की झलक भी उनमें दिखायी पड़ती है। उनके सारे प्रगट व्यवहार में से कहीं अप्रगट भी झलक जाता है और ध्वनि दे जाता है। ऐसी समस्त चेतनाएँ दिव्य हैं। दिव्य का अर्थ हुआ—प्रगट हैं और अप्रगट की भी झलक देती हैं।

उपनिषद् कहते हैं, इनकी पूजा और प्रार्थना और इनकी अर्चना का भी फल है। क्योंकि एक कदम प्रगट से अतीत भी उनमें कुछ है। जो उन्हें बहुत गौर से देखेगा उसके लिए प्रगट रूप मिट जायगा और अप्रगट रूप रह जायगा। इसलिए एक अड़चन पैदा हुई। राम अगर खड़े है तो राम के भक्त को राम आदमी नहीं दिखायी पड़ते। राम का भक्त अप्रगट के साथ इतना तादात्म्य बांध लेता है कि प्रगट खो जाता है। राम की रूपरेखा खो जाती है। ब्रह्म ही रह जाता है। **इसलिए राम का भक्त जब राम-राम कह रहा है तो दशरथ के बेटे राम से उसका कुछ लेना-देना नहीं है।** जब वह राम कह रहा है तो उसका दशरथ के बेटे से कोई प्रयोजन ही नहीं है, कोई सम्बन्ध ही नही है। वह तो बीज ब्रह्म की ही बात कर रहा है। लेकिन जो राम का भक्त नही है उसको राम में वह हिस्सा दिखायी नही पड़ता है, जो अप्रगट है। वह बीज ब्रह्म दिखायी नही पडता। वह जो प्रगट है, शरीर जिसने लिया है, वही दिखायी पड़ता है। दशरथ का बेटा दिखायी पड़ता है। सीता का पति दिखायी पड़ता है। रावण का दुश्मन दिखायी पड़ता है। किसी का मित्र, किसी का शत्रु—लेकिन जो भी दिखायी पड़ता है वह प्रगट ही दिखायी पड़ता है। और इसलिए जब राम का भक्त राम की बात कर रहा है और राम का जो भक्त नहीं है वह राम की बात कर रहा है तो वह दो व्यक्तियों की बात कर रहे हैं। उनमें कहीं ताल-मेल नही हो पाता। उनका कही कोई संवाद नहीं हो सकता। वह समझ के ही बाहर है एक-दूसरे के। क्योकि वे जो बातें कर रहे हैं, वे अलग-अलग हिस्सों की बातें कर रहे हैं।

उपनिषद् का यह सूत्र कहता है कि ब्रह्म का वह जो प्रगट रूप है, कार्यरूप है, लेकिन जहाँ उसके कारण रूप की भी कहीं झलक मिलती है, उसकी उपासना, उसके निकट होने के भी अपने परिणाम हैं, अपने फल है। वे फल सुखद होंगे। कहना चाहिए वे फल स्वर्ग जैसे होंगे। वे बड़े शान्तिदायी होंगे। वे बड़े प्रीतिकर होंगे। **लेकिन मुक्तिदायी नहीं होंगे।** इसलिए हमने तीन शब्दो का प्रयोग किया है। एक शब्द है **नर्क**, एक शब्द है **स्वर्ग** और एक और शब्द है **मोक्ष**। देवताओं की, दिव्य चेतनाओं की निकटता से ज्यादा-से-ज्यादा स्वर्ग तक पहुँचा जा सकता है। स्वर्ग की मनोदशा तक, सुख तक—मुक्ति तक नही, आनन्द तक नही।

क्या फर्क है?

सुख कितना ही गहरा हो, खो जायगा। सुख कितना ही लम्बा हो, अन्त आ जायगा। स्वर्ग होगा, लेकिन समाप्त हो जायगा। इसे ठीक से समझ लें—**मोक्ष शुरू होता है, अन्त नहीं। स्वर्ग शुरू होता है, अन्त होता है। नर्क शुरू नहीं होता, सिर्फ अन्त होता है।** इसे फिर दोहरा दूं तो ख्याल में आ जाय। नर्क

की कोई निर्मिति नहीं है, नर्क का कोई प्रारम्भ नहीं है। नर्क है प्रारम्भ-रहित। दुःख है प्रारम्भ-रहित। सुख है नहीं, प्रारम्भ हो सकता है। नर्क का कोई प्रारम्भ नहीं है, अन्त हो सकता है। स्वर्ग का प्रारम्भ है और अन्त भी। शुरू भी होगा, अन्त भी हो जायगा। मोक्ष का केवल प्रारम्भ है, अन्त नहीं। शुरू होगा, फिर अन्त नहीं होगा।

कार्यरूप ब्रह्म है, प्रगट रूप ब्रह्म है, अभिव्यक्त ब्रह्म है। जहाँ-जहाँ उसमें विकसित झलकी है, वहाँ-वहाँ उसकी पूजा और प्रार्थना से ज्यादा-से-ज्यादा स्वर्ग तक पहुँचा जा सकता है। सुख तक पहुँचा जा सकता है। इसलिए सुख के कामी देवताओं की पूजा में रत होते हैं। मुक्ति के कामी देवताओं की पूजा में रत नहीं होते। मुक्ति के कामी देवताओं से पीठ फेर लेते हैं। मुक्ति के कामी सुख की मांग नही करते। क्योंकि सुख कभी भी मुक्ति नहीं बन सकता। बन्धन ही रहेगा, सुखद होगा,-पर बन्धन ही रहेगा। जो मुक्ति के कामी हैं, वे चाहते हैं कि सर्व अर्थों में परम स्वतन्त्रता उपलब्ध हो जाये। परम आनन्द मिले, जिसका फिर कोई अन्त न हो। अमृत मिले, जिसकी फिर कोई सीमा न हो। जहाँ से फिर कोई लौटना न हो—प्वाइट आफ नो रिटर्न। जिसके आगे फिर कोई खोज न हो। जिसके आगे कोई यात्रा न बचे, ऐसी जिनकी अभीप्सा है, उन्हें तो बीज ब्रह्म की ही खोज करनी पड़ेगी। उन्हे व्यक्त ब्रह्म की नही, उन्हें अव्यक्त ब्रह्म की खोज करनी पडेगी। अव्यक्त ब्रह्म की साधना से ही वे मुक्त हो, परम मोक्ष को उपलब्ध हो पाते है। दोनो के ही अलग-अलग परिणाम हैं और उपनिषद् की एक बड़ी खूबी है कि उपनिषद् को इनकार किसी बात से नही है। दोनों के परिणाम स्पष्ट कर दिये हैं। इनकार किसी से नही है कि कोई देवताओं की पूजा न करे, बस, इतना ही कि किसी को देवता की पूजा करनी हो, वह करे, लेकिन जानता हुआ करे कि सुख से आगे की यह यात्रा नही है।

और पीछे सूत्र मे कहा है, ऐसा हमने उनसे सुना है, जिन्होंने जाना है। इसमे एक बात ख्याल मे ले लेनी चाहिए। जानने को सदा अनन्त है। और मैं कितना ही जान लूं—कितना ही, फिर भी वह पूरा नही है। ऐसा समझें कि सागर है और मैं एक किनारे से उतर जाता हूँ सागर मे। उतर गया पूरा, डूब गया पूरा, फिर भी पूरे सागर को तो मैंने नही जाना। सागर ने भला मुझे पूरा जान लिया हो, मैंने पूरे सागर को नहीं जाना। और भी किनारे हैं अनन्त और अनन्त हैं, यात्री। और अनन्त तीर्थों से उतरेंगे अनन्त लोग। वे भी जानेंगे। तो मेरा जानना और उनका जानना जितने बड़े व्यापक पैमाने पर सामूहिक हो जाय, जितना इकट्ठा हो जाय, उतना ही शुभ है। इसलिए उपनिषद् के ऋषि निरन्तर

ही जो उन्होंने जाना है, उसे पुल्ड अप कर देंगे । उसे जो अनन्त जाना गया है गया, उसके साथ इकट्ठा कर देंगे । वह कहेंगे ऐसा हमने सुना उनसे जो जानते हैं । अपना जो अल्प है, छोटा-सा, उसकी तो बात ही क्या करनी है । जो जाना गया है, वह अनन्त-अनन्त लोगों ने अनन्त-अनन्त जाना है । अपना भी छोटा-सा जानना है, उसे भी उसीमें डाल दिया है । उसकी अलग से क्या बात करनी । उसकी बात करते ही वे लजाते हैं । उसकी बात ही नहीं उठाते । ऐसे ही कह देते हैं, जैसे खुद जाना ही न हो । इसी भाव से कह देते हैं कि सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है ।

अनन्त-अनन्त लोग, अनन्त-अनन्त चेतनाएँ जानी हैं, परमात्मा को । और निश्चित ही अलग-अलग तीर्थों से । तीर्थ का अर्थ होता है घाट । इसलिए जैन उन्हें तीर्थंकर कहते हैं । तीर्थंकर का मतलब होता है, घाट बनाने वाला । जो एक घाट बनाता है । और वहाँ से नावें छोड़ देता है । पर अनन्त हैं तीर्थ, क्योंकि यह सागर अनन्त है । अनन्त तीर्थंकर हैं, क्योंकि यह सागर अनन्त है । सबका हमें पता भी नहीं है । अगर हम पीछे लौटने भी हैं, तो वेद के पहले के ऋषियों का हमें कोई भी पता नहीं है । उल्लेख सिर्फ वेद के ऋषियों के बाद का है । ऐसा नहीं है कि वेद के ऋषियों के पहले जाना नहीं गया हो । क्योंकि वेद के ऋषि तो स्वयं बार-बार कहते हैं कि हमने सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है । उपनिषद् हमारे पास पुरानी-से-पुरानी सम्पदा है, जानने वालों की । लेकिन उपनिषद् कहते हैं, हमने सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है । असल में वह इस बात की खबर देते हैं कि सत्य सदा से, अनादि से जाना जाता रहा है । इतने लोगों ने जाना है, इतना ज्यादा जाना है, इतने रूपों में जाना है कि मैं अपने छोटे से रूप की क्या बात करूँ । पुल्ड अप कर देता हूँ, उसीमें जोड़ देता हूँ । कह देता हूँ कि वही, जो जानने वालों ने कहा है, मैं कह रहा हूँ ।

इसमें एक बात और ध्यान रख लेनी जरूरी है कि पुराने सारे जाननेवालों को मौलिकता का आग्रह नहीं था । ओरीजनल होने का कोई आग्रह नहीं था । कोई भी यह नहीं कहता कि मैं जो कह रहा हूँ, वह मौलिक सत्य है । कि वह मैं ही कह रहा हूँ, पहली दफा, और किसी ने नहीं कहा । आज के युग में बड़ा फर्क पड़ा है । आज प्रत्येक यह दावा करना चाहता है कि वह जो कह रहा है, वही कह रहा है, किसी ने नहीं कहा—मौलिक है, ओरीजनल है । क्या बात है ? क्या यह बात है कि पुराने लोग मौलिक नहीं थे ? आज के लोग मौलिक हैं ? नहीं, मामला बिलकुल उल्टा है । पुराने लोग अपनी मौलिकता के प्रति इतने असंदिग्ध थे, इतने आश्वस्त थे कि उसकी घोषणा की कोई जरूरत न रही । नये

आदमी अपनी मौलिकता के प्रति इतने चिन्तित हैं, इतने लालायित हैं कि उसकी बिना घोषणा किये नहीं रह सकते। नये आदमी को सदा डर है कि कोई यह न कह दे कि इसे तो पहले भी लोग जान चुके हैं। तुम क्या कुछ नया जान रहे हो! पर यह डर इस बात का सूचक है कि मौलिक का पता नहीं। असल में मौलिक का मतलब नया नहीं होता—मौलिक का मतलब होता है, मूल से। ओरीजनल का मतलब माडर्न नहीं होता। ओरीजनल का मतलब होता है, फ्रॉम द ओरीजन। मूल को, जिसने जाना, वही मौलिक है। और मूल को बहुत लोग जान चुके। इसलिए मौलिक का अर्थ नया नहीं होता। मौलिक का अर्थ होता है, जड़ को जिसने जाना, मूल को जिसने जाना। लेकिन आज नये का बड़ा आग्रह है, चारों तरफ। कि जो मैं कह रहा हूँ, वह नया है। क्योंकि डर इस बात का है कि अगर और सबने भी जाना है, तो फिर मेरी विशेषता न रही। लेकिन मजे की बात यह है कि विशेषता इस जगत् में एक ही है—सिर्फ एक। मुझे याद आता है, एक फकीर, जेकब बोहमेन का एक छोटा-सा भजन—टु बी मोस्ट आर्डीनरी इज द ओनली एक्स्ट्रा-आर्डीनरीनेस। कहा है, बिलकुल साधारण होने से बड़ी और कोई असाधारणता नहीं है।

बड़े असाधारण लोग हैं वे, जो कहते हैं, यह नहीं कहते हैं कि मैं जानता हूँ, कहते हैं कि जिन्होंने जाना, उनसे हमने सुना। ये बड़े असाधारण लोग हैं। क्योंकि इतने साधारण होने को राजी हैं। असल में जिसे थोड़ा-सा भी ख्याल है कि मैं असाधारण हूँ, वह साधारण आदमी है। सभी साधारण आदमियों को यह ख्याल है। साधारण-से-साधारण आदमी को यह ख्याल है कि मैं असाधारण हूँ। सभी को यह ख्याल है। यह बहुत कामन, बहुत साधारण धारणा है। तो फिर असाधारण किसको हम कहें? उसीको कहेंगे, जिसे पता ही नहीं कि मैं असाधारण हूँ। जो इतना साधारण है, वही असाधारण है।

असाधारण है ऋषि का यह वक्तव्य। जिन्होंने इतना जाना और इतना गहरा जाना, उस तरह के लोग ऐसा कहें कि हमने सुना है। निश्चित ही शून्य की भाँति रहे होंगे। कोई दावा नहीं—न सत्य का, न पथ का। इतने जो गैर-दावेदार हैं, उनकी बात में वजन है। इसलिए बार-बार ऐसा भी दोहराते चले जायेंगे, बार-बार इसे जोड़ते चले जायेंगे हर सूत्र में कि सुना है उनसे, जो जानते हैं। यह अपने को पोंछ डालने की, मिटा डालने की, अपने को अनुपस्थित कर देने की, स्वयं के बिलकुल न हो जाने की यह जो मनोदशा है, यह गहरे-से-गहरे जीवन के मूल स्रोतों से सम्बन्धित है—मनातीत, भावातीत, ट्रान्सिडेंटल।

आज के लिए इतना। सांझ फिर हम बात करेंगे। अभी तो चलें मूल की तरफ। चलें भावातीत की तरफ।

दो-तीन बातें आपको ध्यान के सम्बन्ध में कह दूं, जो मेरे ख्याल में आयी हुई हैं। नब्बे प्रतिशत मित्र इतना अच्छा कर रहे हैं कि मैं बहुत प्रसन्न हूँ। लेकिन दस प्रतिशत के प्रति दया आती है। आप दयनीय न रहें, दस प्रतिशत में न रहें। सस्ते में कीमती चीजों को मत खोयें।

दोपहर के ध्यान के लिए एक बात और। कुछ लोग आंख पर बिना पट्टियाँ बांधे बैठ जाते हैं। उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। एक भी व्यक्ति आंख पर बिना पट्टी बांधे न बैठे। दूसरी बात, जब दोपहर के ध्यान में हों, तब अपनी ही चिन्ता में लगें, दूसरे की फिक्र न लें। जो लोग कुछ नहीं कर रहे हैं, उन्हें दूसरों की फिक्र शुरू हो जायेगी। क्योंकि वे खाली बैठे हैं, वे बेकार हैं। बेकार न बैठें। आनन्दित हों, नाचें, प्रसन्न हो। कल मैं बहुत प्रसन्न हुआ। कल बहुत हल्कापन था, जैसे बच्चों जैसे हो गये। एक वृद्धजन भी बच्चों जैसी आवाज लगाते हैं। बहुत भला है, बहुत इनोसेंट था। कह रहे थे—माँ, माँ, माँ—छोटा बच्चा जैसा हल्का हो जाय। प्रसन्नता थी, चियरफुलनेस थी। वह बढ़ती जानी चाहिए। जैसे-जैसे ध्यान गहरा होगा, वह बढ़ेगी। **बूढ़ा आदमी बच्चा हो जाय तो ध्यान को उपलब्ध हो गया।** तो दोपहर के ध्यान के लिए यह। सुबह के ध्यान के लिए बिलकुल प्रसन्न हूँ। बिलकुल ठीक चल रहा है।

रात के ध्यान के लिए एक बात कह दूं आपको। कल दो-तीन मित्र जो व्यवस्था के लिए थे, वे काफी थे। बाकी जो व्यवस्था करने ऊपर चढ़ गये थे, उन्होंने बहुत अव्यवस्था पैदा कर दी। और अपनी तरफ से सेल्फ अपाइंटमेण्ट कोई न करे। आप यहाँ ध्यान करने आये हैं, व्यवस्था करने नहीं। असल मे जो बेकार बैठे रहते है, उनको मौका मिल गया। उन्होंने सोचा, चलो व्यवस्था कर लें। नहीं, मच पर कोई इस तरह नही चढ़ सकेगा। जो दो-तीन मित्र व्यवस्था कर रहे हैं, वह कर रहे है। बाकी आपको नही करनी है। कल पीछे वाले मंच के लोगो के लिए मेरे मन में बड़ी पीड़ा रही। वे ध्यान ठीक से नही कर पाये। उनको लोगों ने बाधा दी। कोई मेरे ऊपर गिर भी जाय तो क्या फर्क पड़ता है। इससे कोई फर्क नहीं पडता। और जो ध्यान कर रहे हैं, वह बेहोश नहीं हैं, वह खुद होश मे हैं। वे कोई गिर जाने वाले नही हैं। कोई मेरे ऊपर हमला कर देगा, इसका ख्याल मत करिये। वह खुद होश मे हैं। उनका मुझसे प्रेम उतना ही है, जितना व्यवस्थापकों का है। इसलिए उसकी कोई चिन्ता मत करिये। उनको बहुत रोका, उनको मैं दिखायी भी नही पड़ा। जब मैं दिखायी

नहीं पड़ा तो उपद्रव हो गया। क्योंकि वह तो ध्यान ही पूरा मेरे दिखायी पड़ने का है। तो आज रात के लिए मेरा ख्याल है कि नीचे हाल मे सारे खड़े हुए साधक रहेंगे। बैठने वाले लोग पीछे बैठ जायेंगे। इसकी व्यवस्था नही करनी पड़ेगी।

कल एक और गलती हुई कि कल बाहर के लोग फिर रात प्रवेश कर गये। उससे बड़ी बाधा पड़ती है। उससे पूरी की पूरी जो ट्यूनिंग पैदा हो सकती है वह नहीं पैदा हो पाती। एक गलत आदमी भी अगर हाल के भीतर है तो वह अलग तरह की तरंगें पैदा करता है। इसलिए एक भी गलत आदमी को प्रवेश नहीं देना है। और कैंप में ऐसे जो लोग हैं, जिन्हें सिर्फ सुनना है और ध्यान नही करना है, वे सुनने के बाद फौरन् रात हाल के बाहर हो जायँ। उनकी बड़ी कृपा होगी। वे नुकसान न पहुँचायें। एक आदमी नही चाहिए हमें भीतर, जो दर्शक की तरह हो। उससे भारी बाधा पड़ती है, वह गैप बन जाता है। जब इतनी चेतनाएँ इतने भाव से भरती हैं तो सारा वायुमण्डल तरंगित हो जाता है। उसमें अगर एक आदमी बीच मे ऐसा खड़ा है, जो तरंगित नही है तो वह (क्रम-भंग) डिसकन्टीन्युटी पैदा कर देता है। वह इतना हिस्सा तोड़ देता है। उतने हिस्से में आध्यात्मिक ऊर्जा की वर्षा नही हो पा रही है। और उसकी वजह से जो तरंगें आर-पार फैल कर दूसरो तक पहुँचती हैं वह भी नही पहुँच पातीं। इसलिए रात के ध्यान में मैं अभी प्रसन्न नहीं हूँ।

रात का ध्यान सर्वाधिक कीमती है। और यह दो ध्यान उसकी तैयारी के लिए हैं। इन दो ध्यान मे आप तैयार हो जायँ और रात को विस्फोट हो सके, तो उस विस्फोट में बाधा पड़ रही है। अभी तक वह हो नही पाया। परसों यहाँ लोग आ गये, उसकी वजह से ठीक नही हो पाया। फिर उसके पहले थोड़ा ठीक हुआ। कल हाल मे बहुत परिणाम हो सकते थे, लेकिन कुछ लोग ऊपर चढ़ गये और व्यवस्था करने लगे। आप व्यवस्था के लिए नही आये हैं। और मेरी फिक्र छोड़ें, अपनी फिक्र करें। **मेरा शरीर, एक आदमी को भी ध्यान हो जाय और उसमें छूट जाय तो समझता हूँ कि पर्याप्त है।**

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

जो असम्भूति और कार्य-ब्रह्म--इन दोनों को साथ-साथ जानता है; वह कार्य-ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके असम्भूति के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर लेता है॥१४॥

एक वर्तुल खीचें हम, एक सर्किल बनायें, तो बिना केन्द्र के नहीं बना सकेंगे। केन्द्र के चारों ओर परिधि को खीचेंगे। केन्द्र से परिधि जितनी दूर होती जायेगी उतनी बड़ी होती चली जायेगी। अगर परिधि पर हम दो बिन्दुओं को लें तो उनमें फासला होगा। अगर दोनो बिन्दुओ से दो रेखाएँ खीचें, जो केन्द्र को जोड़ती हों तो जैसे-जैसे केन्द्र की तरफ बढ़ेंगे, वैसे-वैसे फासला कम होता जायगा। ठीक केन्द्र पर आकर फासला समाप्त हो जायगा। परिधि पर कितना ही फासला रहा हो दो बिन्दुओं के बीच में, खीची गयी रेखाएँ वहाँ से केन्द्र की ओर हमेशा निकट आती चली जायेंगी। और केन्द्र पर आकर बिलकुल ही दूरी समाप्त हो जायेगी। वे केन्द्र पर एक हो जायेगी। अगर परिधि की ओर उन रेखाओं को और आगे बढ़ाते चले जायँ तो जितनी बड़ी परिधि होती चली जायेगी उतना ही दोनों रेखाओं के बीच का फासला बडा होता चला जायगा। ज्यामिति के इस उदाहरण से दो-तीन बातें इस सूत्र को समझाने के लिए आपसे कहना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह कि **जिसे असम्भूति ब्रह्म कहा है वह केन्द्र ब्रह्म है**। जहाँ से सारे जीवन का विस्तार निकलता है। जहाँ से जीवन की परिधि फैलती चली जाती है—फैलती चली जाती है। अभी विगत कुछ वर्षों की गहन खोज ने विज्ञान को एक नयी धारणा दी है—एक्सपेंडिंग युनिवर्स की, फैलते हुए विश्व की। सदा से ऐसा समझा जाता था कि विश्व जैसा है, वैसा है। नया विज्ञान कहता है—विश्व उतना ही नहीं है जितना है, रोज फैल रहा है, जैसे कि कोई गुब्बारे में हवा भरता चला जाय। गुब्बारे में कोई हवा भरता चला जाय और गुब्बारा बड़ा होता चला जाय। ऐसा यह जो विस्तार है जगत् का, यह उतना ही नहीं है

जितना कल था। चौबीस घण्टे में यह करोड़ों-अरबों मील बड़ा हो गया है। यह सतत फैल रहा है। ये जो तारे रात हमें दिखायी पड़ते हैं, ये एक-दूसरे से प्रतिपल दूर जा रहे है। यह बड़े मजे की बात है कि एक्सपेंडिंग युनिवर्स, फैलते हुए विश्व का यह अर्थ भी हुआ कि एक क्षण ऐसा भी रहा होगा, जब यह विश्व इतना सिकुडा रहा होगा कि शून्य केन्द्र पर रहा होगा। पीछे लौटें। समय में जितने पीछे लौटेंगे, विश्व छोटा होता जायगा, सिकुड़ता जायगा। एक क्षण ऐसा जरूर रहा होगा, जब यह सारा विश्व बिन्दु पर सिकुड़ा रहा होगा। फिर फैलता चला गया और आज भी फैल रहा है। परिधि बड़ी होती चली जाती है रोज। वैज्ञानिक कहते हैं, हम कुछ कह नही सकते कि यह कब तक बड़ी हो सकती है। यह अन्तहीन विस्तार है। यह बडी होती ही चली जायेगी।

एक दूसरी बात भी ख्याल मे ले लेनी जरूरी है कि विज्ञान ने तो यह शब्द अभी उपयोग करना शुरू किया है—एक्सपेंडिग युनिवर्स, लेकिन उपनिषद् जिसे ब्रह्म कहते हैं उसका मतलब ही होता है—**दी एक्सपेंडिंग**। ब्रह्म शब्द का ही मतलब वह होता है। **ब्रह्म का मतलब परमात्मा नहीं होता**। ब्रह्म का अर्थ होता है फैलता हुआ। ब्रह्म का अर्थ होता है जो फैलता ही चला जाता है। ब्रह्म और बिस्तार एक ही मूल धातु से निर्मित होते हैं। एक ही शब्द के रूप हैं। ब्रह्म का मतलब है, जो सदा विस्तीर्ण होता चला जाता है। **विस्तीर्ण है ऐसा नहीं, स्थिति में विस्तीर्ण है ऐसा नहीं—प्रक्रिया में जो विस्तीर्ण है**। जो होता ही चला जाता है—कास्टेंटली एक्सपेंडिग। ब्रह्म का मतलब होता है निरंतर विस्तीर्ण होता हुआ जो है।

अब ब्रह्म के दो रूप हुए, वैज्ञानिक अर्थों में भी—एक तो ब्रह्म का वह रूप हुआ, जिसको असम्भूति कहता है उपनिषद् का ऋषि। असम्भूति ब्रह्म का अर्थ है शून्य ब्रह्म। जब वह नहीं फैलना शुरू हुआ था उस क्षण की हम कल्पना करें, या उस समय की, जब फैलाव का बिलकुल प्राथमिक क्षण था। जब बीज टूटा नही था। बीज के टूटने के बाद तो अकुर फैलता ही चला जायेगा—वृक्ष होगा। जरा छोटे-से बीज से इतना बड़ा वृक्ष होगा कि हजारों बैलगाड़ियाँ उसके नीचे बिश्राम कर सकेंगी। और फिर उस वृक्ष मे अनन्त बीज लगेंगे। और अनन्त बीज में से एक-एक बीज फिर इतना ही बड़ा हो जायगा। और फिर एक-एक वृक्ष में अनन्त बीज लग जायेंगे। और अनन्त बीजो में से एक-एक बीज में से फिर इतना ही वृक्ष और फिर इतने ही अनन्त बीज····! एक छोटा-सा बीज फैलकर अनन्त बीज होता चला जा रहा है। **असम्भूत ब्रह्म का अर्थ है बीजरूप ब्रह्म—बिन्दुरूप ब्रह्म**। कल्पना ही कर सकते है हम, क्योंकि बिन्दु की कल्पना ही होती है।

अगर युक्लिड से पूछेंगे, जो कि सबसे बड़ा जानकार है तो वह कहेगा, बिन्दु हम उसे कहते हैं जिसमें न कोई चौड़ाई है, न कोई लम्बाई। ऐसा बिन्दु आपने देखा नहीं होगा। डेफिनेशन यही है, परिभाषा यही है बिन्दु की, जिसमें लम्बाई और चौड़ाई न हो। क्योंकि अगर लम्बाई और चौड़ाई है तो वह बिन्दु न रहा। वह तो दूसरी आकृति हो गयी। फैलाव शुरू हो गया। जिसमें लम्बाई और चौड़ाई आ गयी उसमें फैलाव आ गया। बिन्दु तो वह है जो अभी फैला नहीं, फैलने को है। इसलिए युक्लिड कहता है कि बिन्दु की सिर्फ व्याख्या हो सकती है, बिन्दु को खींचा नहीं जा सकता। छोटे-से-छोटे बिन्दु को भी जब आप पेंसिल की नोक से कागज पर रखते हैं तो उसमें लम्बाई-चौड़ाई आ गयी। बिना लम्बाई-चौड़ाई के कागज पर बिन्दु बनेगा नहीं। तो जो बिन्दु दिखायी पड़ता है वह तो विस्तार हो गया। जो बिन्दु दिखायी नहीं पड़ता, सिर्फ परिभाषा में है, वही बिन्दु है। युक्लिड जिसे बिन्दु कहता है वही असम्भूत है—जिसमें अभी होना शुरू नहीं हुआ। जिसमें अभी भूत प्रकट नहीं हुआ—असम्भूत। अभी अस्तित्व आया नहीं, पोटेंशियल है, अभी छिपा है। अभी प्रकट हुआ नही, होने को है। यह व्याख्या का बिन्दु है असम्भूत—यह ब्रह्म की एक स्थिति हुई। लेकिन इसे हम नही जानते। हम तो सम्भूत ब्रह्म को जानते हैं, जो हो गया। हम तो वृक्षरूप ब्रह्म को जानते हैं, जो हो गया। जो हो ही नहीं गया, जो होता ही चला जा रहा है। फैलता ही चला जा रहा है।

हमारा विश्व रोज बड़ा हो रहा है—प्रतिपल। रोज कहना जरा ज्यादा है, क्योंकि रोज तो बहुत बड़ा हो जायगा। प्रतिपल बड़ा हो रहा है। प्रकाश-किरणों की जो गति है उसी गति से तारे केन्द्र से दूर हट रहे हैं। प्रकाश-किरणों की गति है प्रति सेकेंड एक लाख छियासी हजार मील। प्रति सेकेंड—तो एक मिनट में साठगुना। एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड—साठ सेकेंड में, एक मिनट में, एक लाख छियासी हजार मील में साठ का गुणा कर लें। फिर एक घण्टे में उसमें भी साठ का गुणा कर दें। फिर चौबीस घण्टे में उसमें चौबीस का गुणा कर दें। इतनी गति से परिधि केन्द्र से दूर जा रही है। अनन्त काल से इस तरह दूर जा रही है। वैज्ञानिक भी तय नहीं कर पाते कि समय के उस क्षण को हम कैसे तय करें, जब यह शुरू हुई होगी यात्रा। जब पहला कदम उठाया होगा बीज ने वृक्ष होने का। और हम यह भी नही कह सकते कि क्या होगी अन्तिम यात्रा।

विज्ञान बड़ी कठिनाई में पड़ गया है। क्योंकि एक्सपेंडिंग युनिवर्स कन्सीवेबल नहीं है कि कहाँ जाकर रुकेगा और क्यों रुकेगा। रुकने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि रुकने के लिए जरूरत है कि कोई और चीज बाधा बन जाय। एक पत्थर

को मैं फेंकता हूँ हाथ से। अगर इस पत्थर को कोई बाधा न मिले तो यह कहीं भी नहीं रुकेगा। बाधा मिल जाती है। एक वृक्ष से टकरा जाता है। वृक्ष से न टकराये तो जमीन की कशिश उसे खींच रही है पूरे वक्त। जैसे ही मेरे हाथ की दी गयी ताकत कम पड़ेगी और जमीन की ताकत ज्यादा होगी, वह नीचे गिर जायगा। लेकिन अगर जमीन में कोई कशिश न हो, रास्ते मे कोई व्यवधान न आये और मै एक पत्थर फेंक दूं, एक छोटा-सा बच्चा भी एक पत्थर फेंक दे, तो वह कहीं भी नही रुकेगा। क्योंकि रुकने का कोई कारण नहीं है।

यह जो हमारा विश्व फैलता चला जा रहा है, यह जो सम्भूत ब्रह्म है, यह कहाँ रुकेगा? रुकने के लिए कोई बाधा आनी चाहिए। लेकिन बाधा आयेगी कहाँ से, क्योंकि सभी कुछ तो इसके भीतर है, इसके बाहर कुछ भी नही है। 'जो है' सब इसी सम्भूत ब्रह्म का हिस्सा है। इसलिए बाधा तो कहीं आयेगी नहीं, यह रुकेगा कहाँ? यह रुकेगा कैसे? क्या यह बढ़ता ही चला जायगा? इसलिए आइन्स्टीन और प्लांक, जो इस एक्सपेंडिंग विश्व के ऊपर काफी काम किये, बड़ी उलझन मे पड़ गये। उनको आखिर इसको रहस्य की तरह छोड़ देना पड़ा। रुकने का कोई कारण दिखायी नही पड़ता, और न रुके यह इनकन्सीवेबुल मालूम पड़ता है। अगर यह इसी तरह फैलता चला गया तो एक दिन तारे इतने दूर हो जायेंगे कि एक तारे से दूसरा तारा दिखायी नहीं पड़ेगा।

उपनिषद् लेकिन कुछ और ही ढग से सोचते हैं और उस ढग को समझ लेना चाहिए। एक दिन, आज नही कल, वैज्ञानिक को भी उस ढग से सोचना शुरू करना पड़ेगा। लेकिन अब तक पश्चिम के विज्ञान को वह धारणा नही है। न होने का कारण है। न होने का कारण है कि पश्चिम को पूरा विज्ञान ग्रीक फिलासफी से, यूनानी दर्शन से विकसित हुआ है। वह यूनानी दर्शन की जो मूल मान्यताएँ हैं उन पर खड़ा है। यूनानी दर्शन की एक मूल मान्यता यह है कि **समय जो है, वह सीधी रेखा में गति करता है।** इससे पश्चिम का विज्ञान बड़ी मुश्किल मे पड़ा है। भारतीय दर्शन की धारणा बड़ी भिन्न है। भारतीय दर्शन की धारणा है कि **सभी गति वर्तुलाकार है, सर्कुलर है।** कोई गति सीधी रेखा में नहीं होती। इसको ऐसे समझें। बच्चा पैदा हुआ, फिर बड़ा हुआ, फिर बूढ़ा हुआ। यूनानी चिन्तक से अगर हम पूछें तो वह कहेगा कि बच्चे और बूढ़े के बीच में सीधी रेखा खींची जा सकती है। भारतीय दार्शनिक कहेगा, नही। बच्चे और बूढ़े के बीच एक वर्तुल बनाया जा सकता है। क्योंकि बूढ़ा वही पहुँच जाता है मरते वक्त, जहाँ से बच्चे ने शुरू किया था। एक सर्किल है। इसलिए बूढ़े अगर बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं, तो बहुत हैरानी की बात नही है। सीधी रेखा नही है।

बचपन और बुढ़ापे के बीच वर्तुल है, एक गोल घेरा है। जवानी वर्तुल का बीच का हिस्सा है, उठाव है। फिर जवानी के बाद वापस लौटनी शुरू हो गयी यात्रा। ऐसा समझें, जैसे कि ऋतुएँ घूमती हैं। भारतीय धारणा समय की, ऋतुओं के घूमने जैसी है—मण्डलाकार। ग्रीष्म आता है, वर्षा आती है, सर्दी आती है, फिर ग्रीष्म, फिर वर्षा, फिर सर्दी, एक वर्तुल है। सुबह होती है, साँझ होती है। फिर सुबह आती है, फिर साँझ होती है। एक वर्तुल है।

पूर्वी मनीषी की धारणा ऐसी है कि समस्त गतियाँ वर्तुलाकार हैं। पृथ्वी भी गोल घूमती है, ऋतुएँ भी गोल घूमती हैं, सूर्य भी गोल घूमता है, चाँद-तारे भी गोल घूमते हैं। **गति मात्र वर्तुल है। कोई गति सीधी नहीं है।** जीवन भी गोल घूमता है। यह जो एक्सपेंडिंग युनिवर्स है, वैसे ही है, जैसे बच्चा जवान हो रहा हो। लेकिन अगर बच्चा जवान ही होता जाय तो बड़ी मुश्किल पड़ेगी। कहाँ होगा रुकाव? लेकिन नही, अभी बच्चा जवान हो रहा है, थोड़ी ही देर में वर्तुल डूबना शुरू हो जायगा और जवान बूढ़ा होने लगेगा। अगर जन्म फैलता ही चला जाय और मृत्यु के बिन्दु पर वापस लौट न आये तो कहाँ रुकेगा? इसलिए भारत का जो चिन्तन है, वह कहता है कि यह जो फैलता हुआ ब्रह्म है, यह फैल कर बच्चा होगा, जवान होगा, बूढ़ा होगा, **वापस असम्भूत ब्रह्म में गिर जायगा।** वापस शून्य हो जायगा। जहाँ से आया है, वहीं वापस लौट जायगा। बड़ा लम्बा वर्तुल होगा इसका। हमारे जीवन का वर्तुल सत्तर साल का है। लेकिन छोटे वर्तुल के जीवन भी हैं। एक पतिंगा सुबह पैदा होता है, साँझ वर्तुल पूरा हो जाता है। इससे भी छोटे वर्तुल हैं। क्षणभर जीने वाले प्राणी भी हैं। क्षण के शुरू में पैदा होते हैं, क्षण के बाद मे डूब जाते हैं। लेकिन आप यह मत सोचना कि जो क्षणभर जीता है, वह सत्तर साल वाले से कुछ कम जीता है। आप यह मत सोचना, क्योंकि क्षणभर में ही सत्तर साल मे जो वर्तुल आप पूरा करते है, वह पूरा हो जाता है। बचपन आता है, जवानी आती है, प्रेम होता है, बच्चे पैदा होते हैं, बुढ़ापा आ जाता है। मौत हो जाती है। क्षणभर के वर्तुल में भी इन्टेंशली सत्तर साल पूरे हो जाते हैं।

फिर सत्तर साल कोई बड़ा वर्तुल नही है। पृथ्वी हमारी, वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई चार अरब वर्ष पहले पैदा हुई। हमारे पास कोई पता लगाने का उपाय नही है कि पृथ्वी अब किस अवस्था मे होगी। लेकिन कई हिसाब से लगता है कि बूढ़ी होती है। भोजन कम पड़ता जाता है, आदमी ज्यादा होते चले जाते हैं। मौत निकट मालूम होती है, सब चीजें चुकती जाती हैं। कोयला चुकता जाता है, पेट्रोल चुकता जाता है, भोजन चुकता जाता है। जमीन के सब रासा-

यनिक द्रव्य चुकते जाते हैं। जमीन बूढ़ी होती है। जल्दी ही मरेगी। जल्दी का मतलब ! हमारे हिसाब से नहीं, क्योंकि जिसको चार अरब वर्ष लगे हों बूढ़ा होने में, उसको मरने में भी अरब वर्ष लग जायें, आश्चर्य नहीं। लेकिन हमें जमीन का कुछ पता नहीं चलता। आपके शरीर में, एक-एक शरीर में अन्दाजन सात करोड़ जीवाणु हैं। उन जीवाणुओं को आपका कोई पता नहीं कि आप भी हैं। आपके शरीर में सात करोड़ का जीव जीवन है। लेकिन उनका आपको कोई पता नहीं कि वे भी हैं। वे पैदा होंगे, जवान होंगे, बूढ़े होंगे, बच्चे छोड़ जायेंगे, मर जायेंगे, उनकी कब्र बन जायेगी। आपके भीतर ही और आपको उनका कोई पता नहीं चलेगा। और उनको तो आपका बिलकुल ही पता नहीं चलेगा। सत्तर साल आप जियेंगे, इस बीच आपके भीतर करोड़ों जीवन पैदा होंगे और बिदा हो जायेंगे। **ठीक ऐसे ही पृथ्वी को हमारा कोई पता नहीं है और हमें पृथ्वी के जीवन का कोई पता नहीं है।** अरबों वर्ष का उसका जीवन वर्तुल है। पृथ्वी का चार-पाँच अरब वर्ष का जीवन वर्तुल है। पूरे ब्रह्म का, ब्रह्माण्ड का, सम्भूत ब्रह्म का, कितने वर्षों का है, कहना कठिन है। लेकिन एक बात तय है कि **इस जगत् में नियम का कोई भी उल्लंघन नहीं है।** देर-अबेर नियम पूरा होता है। इसलिए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं इस सूत्र में कि दो हिस्से कर लें ब्रह्म के—सम्भूत, जो है और असम्भूत, जिससे यह हुआ है और जिसमें पुनः लीन हो जायगा। बिन्दु ब्रह्म और विस्तीर्ण ब्रह्म। **विस्तीर्ण ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मृत्यु को पार करता है। बिन्दु ब्रह्म को जो जान लेता है वह अमृत को उपलब्ध होता है।** लेकिन विस्तीर्ण ब्रह्म जो है, वह मृत्यु का घेरा है। उसमें मृत्यु घटेगी ही। वर्तुल को पूरा होना पड़ेगा। जन्म हुआ है, मृत्यु होगी। तो फिर क्यों ऋषि कहता है कि ऐसा व्यक्ति मृत्यु को जीत लेता है ?

मृत्यु को जीतने का क्या अर्थ है ? क्या ऋषि मरते नहीं ? सब ऋषि मर जाते हैं। सब ज्ञानी मर जाते हैं। निश्चित ही **मृत्यु को जीतने का अर्थ न मरना नहीं है।** जिस ऋषि ने यह गाया है कि सम्भूत ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मृत्यु को जीत लेता है, वह भी अब नहीं है, मर चुका है। तो या तो उसने बिना जाने कह दिया और गलत कह दिया। और अगर ठीक कहा, तो मरना नहीं था उसे। नहीं, लेकिन मृत्यु को जीत लेने का अर्थ और है। मृत्यु को जीतने का अर्थ है कि जो व्यक्ति यह जान लेता है, गहरे में अनुभव कर लेता है कि जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी ही है, अनिवार्य है। जो यह जान लेता है कि जन्म शुरुआत है वर्तुल की, मृत्यु अन्त है। **जो इस बात को इतनी प्रगाढ़ता से जान लेता है कि मृत्यु अनिवार्यता है, नियति है, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।** अनिवार्य

से क्या भय ? जिससे निवारण नहीं हो सकता है, उसका भय कैसा ? जो होगा ही, जो होना ही है, उसकी चिन्ता भी क्या ? चिन्ता तो उसकी होती है, जिसमें परिवर्तन हो सके। चिन्ता सिर्फ उसीकी होती है, जिसमें परिवर्तन हो सके। इसलिए मजे की बात है कि पश्चिम में जितनी मृत्यु की चिन्ता है, उतनी पूरब में कभी नहीं थी। जब कि पश्चिम को ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीतने के उपाय उसके पास हैं और पूरब को कभी नहीं लगा कि ऐसे जीतने के कोई उपाय हैं। इसके कारण हैं। अगर ऐसा लगे कि मृत्यु को बदला जा सकता है, तो चिन्ता पैदा होगी। **जो भी चीज बदली जा सकती है, उससे चिन्ता आयेगी।** जो नहीं बदली जा सकती, उसमें चिन्ता का कोई उपाय नहीं। चिन्ता करियेगा क्या ? चिन्ता किसलिए ? अगर मृत्यु सुनिश्चित है, अगर जन्म के साथ ही तय हो गयी, तो चिन्ता की कोई बात न रही।

युद्ध के मैदान पर सिपाही जाते हैं, तो जब तक युद्ध के मैदान पर नहीं पहुँचते, तब तक भयभीत और पीड़ित और चिन्तित होते हैं। जैसे ही युद्ध के मैदान पर पहुँचते हैं, दिन-दो दिन के भीतर सब चिन्ता मिट जाती है। कायर-से-कायर सैनिक भी युद्ध के मैदान में पहुँच कर बहादुर हो जाता है। क्या कारण होगा ? मनोवैज्ञानिक बहुत चिन्तन करते रहे कि बात क्या है ? यह आदमी इतना भयभीत था कि रात इसे नींद नहीं आती थी, डर था कि इसको कल युद्ध के मैदान पर जाना है। पागल हुआ जाता था, कँपता था। युद्ध के मैदान पर आकर लगता था कि भाग खड़ा होगा। यही आदमी युद्ध के मैदान पर आकर मजे से सोता है रात को, बात क्या होगी ? जब तक आया नहीं था युद्ध के मैदान पर, तब तक ऐसा लगता था कि बचाव हो सकता है। कोई रास्ता निकल सकता है। परिवर्तन हो सकता है। कोई और भेजा जा सकता है, मैं रोका जा सकता हूँ। लेकिन जब युद्ध के मैदान पर आ ही गया और बम गिरने लगे सिर के ऊपर, तो बात समाप्त हो गयी। अब कोई उपाय न रहा। जब उपाय न रहा, तो चिन्ता न रही। **जब परिवर्तन की सम्भावना न रही, तो परिवर्तन की आकांक्षा न रही।** परिवर्तन की आकांक्षा चिन्ता पैदा कर जाती है।

जब ऋषि कहता है कि सम्भूत ब्रह्म को जान कर ज्ञानी मृत्यु को जीत लेता है, तो उसका मतलब यह है कि फिर मृत्यु उसे भयभीत नहीं करती। मृत्यु बिलकुल उसके बगल में भी आकर खड़ी हो जाये तो भयभीत नहीं करती।

पाणिनि के सम्बन्ध में एक छोटी-सी मीठी कथा है। पाणिनि उन ऋषियों में से एक है, जिसने इस सूत्र को पूरा किया। अपने विद्यार्थियों को बिठा कर पाणिनि व्याकरण पढ़ा रहा है। जंगल है, एक सिंह दहाड़ता हुआ आ जाता है। पाणिनि

कहता है, सुनो सिंह की दहाड़ और इस दहाड़ का क्या व्याकरण-रूप होगा, वह समझो। सिंह दहाड़ रहा है बगल में खड़े होकर, किसी को भी खा जाय! बच्चे कांप रहे हैं। और पाणिनि सिंह की दहाड़ की क्या व्याकरण-व्यवस्था होगी, वह समझा रहा है। कहते हैं, पाणिनि के ऊपर सिंह ने हमला कर दिया, तब भी वह व्याकरण समझा रहा है। पाणिनि को सिंह खा गया, तब भी वह—सिंह मनुष्य को खाता है, तो इसका भाषागत रूप क्या है? इसकी व्याकरण क्या है, वह समझा रहा है।

पाणिनि भी भाग कर बचाव तो कर ही सकता था—ऐसा हमें लगता है। कुछ उपाय किया जा सकता था, लेकिन पाणिनि जैसे लोगो की समझ यह है कि आज मरे कि कल, मरना जब सुनिश्चित है, तो आज और कल से क्या फर्क पड़ता है। समय के व्यवधान से कोई फर्क पड़ता है? जब मृत्यु होनी ही है, तो आज होगी कि कल होगी, कि परसो होगी, उसकी स्वीकृति है। इस स्वीकृति में विजय है। यह स्वीकार कि हम जन्म के साथ मृत्यु को स्वीकार कर लिये है। फैलाव के साथ ही सिकुड़ने को स्वीकार कर लिये हैं। फैले हैं, उसी दिन जाना कि सिकुड़ जायेंगे। जन्मे हैं, उसी दिन जाना कि विदा हो जायेगे। प्रगट हुए हैं, उसी दिन जाना कि अप्रगट हो जायेंगे। वर्तुल पूरा होकर रहेगा। ऐसी स्वीकृति मृत्यु से मुक्ति है। फिर मरना कैसा? मरने वाला तो पार हो गया। उसे तो कोई जन्म का मोह न रहा और मृत्यु का कोई भय न रहा। वह तो पार हो गया। ध्यान रहे, हमारे जीवन मे मृत्यु और जन्म दो छोर हैं। जीवन के बाहर हैं। जन्म हमारा जीवन के बाहर है, क्योकि जन्म के पहले हम नहीं थे। मृत्यु हमारे जीवन के बाहर है, क्योंकि मृत्यु के बाद हम नही होगे। वह बाउण्ड्री लाइन है, सीमान्त है। लेकिन जो जानता है, उसके लिए यह सीमान्त नहीं है, उसके लिए तो मृत्यु और जन्म जीवन के बीच में घटी दो घटनाएँ हैं। क्योकि वह कहता है कि जन्म किसका? मैं पहले था, तभी तो मैं जन्म सका, नहीं तो मैं जन्मता कैसे? मैं अप्रगट था, तभी तो मै प्रगट हो सका, अन्यथा मैं प्रगट कैसे होता? बीज में अगर वृक्ष नही छिपा था, तो कोई उपाय नही था कि वह पैदा हो जाये। और मैं मर सकूँगा तभी, जब मैं रहूँगा, नही तो मृत्यु किसकी होगी? जन्म के पहले मैं था तो जन्म हो सका। मृत्यु के बाद भी मैं रहूँगा, तो ही मृत्यु हो सकती है, नहीं तो मृत्यु होगी किसकी? जो जानता है, उसके लिए मृत्यु अन्त नहीं है। जीवन के बीच घटी एक घटना है। जन्म भी जीवन के बीच घटी एक घटना है, प्रारम्भ नहीं है। इस वर्तुल के बाहर जो जीवन है, वह असम्भूत है। वह अप्रगट है—अनभिव्यक्त है, अनएक्सप्रेस्ड है। वह असम्भूत जीवन सम्भूत बनता है

जन्म से, फिर असम्भूत बन जाता है, मृत्यु से। जो जान लेता है सम्भूत जगत् की इस व्यवस्था को—ध्यान रहे, इस व्यवस्था को जो जान लेता है, वह फिर व्यवस्था से पीड़ित नहीं होता।

एक मकान के भीतर आप हैं। आप जानते हैं कि यह दीवाल है, और यह दरवाजा है। तो फिर आप दीवाल से सिर नहीं टकराते। फिर आप दीवाल से निकलने की कोशिश नहीं करते। निकलना होता है दरवाजे से निकल जाते हैं। लेकिन फिर इसके लिए बैठकर रोते नही कि **दीवाल दरवाजा क्यों नहीं है**। लेकिन जिसे दरवाजे का पता नही है, वह बेचारा दीवाल से सिर टकरायेगा और बहुत बार चिल्लायेगा कि **दीवाल दरवाजा क्यों नहीं है!** दरवाजे का पता हो तो दीवाल दीवाल है, दरवाजा दरवाजा है। दीवाल से निकलने की आप कोशिश नही करते, दरवाजे से निकल जाते हैं। व्यवस्था को पूरा जो जान लेता है, वह व्यवस्था से मुक्त हो जाता है। जो व्यवस्था को अधूरा जानता है, वह संघर्ष में पड़ा रहता है। जानते हैं कि जन्म है, तो मृत्यु है। यह जानना इतना साफ है और इतना चरम है, इतना अल्टीमेट है कि इसमें फर्क का कोई उपाय नही। **इसीका नाम नियति है**—सम्भूत की नियति, सम्भूत का भाग्य।

लेकिन भाग्य से हमने बड़े गलत अर्थ लिये हैं। असल में हम गलत आदमी हैं, इसलिए सब चीजों के गलत अर्थ लेते हैं। अर्थ सही और गलत हो जाते हैं, गलत और सही आदमियों के साथ। भाग्य का अर्थ अगर निराशा बन जाय, तो आप समझे नहीं। हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाये आदमी, भाग्य को मानकर, तो आप समझे नही। **भाग्य का अर्थ परम आशावान् है**। बडी मुश्किल मालूम पडेगी बात। भाग्य का मतलब ही यह है कि अब दुख का कोई कारण ही न रहा। अब तो निराशा की कोई जगह ही न रही। **मृत्यु है, और है। इसमें दुख कहाँ है! इसमें पीड़ा कहाँ है! दुख और पीड़ा वहीं थे, जब स्वीकार न था।**

बुद्ध कहते हैं कि जो बना है, वह बिखरेगा। जो मिला है, वह छूटेगा। मिलन के क्षण मे जानना कि बिदा मौजूद हो गयी है। सुन कर हम उदास हो जायेंगे। प्रेमी से मिले, उसी क्षण ख्याल आ गया कि यह तो बिदा का क्षण उपस्थित हो गया। अब थोड़ी देर में बिदा होगी। हमारा मिलन भी नष्ट हो जायगा। मिलन मे जो थोड़ी-बहुत सुख की भ्रान्ति पैदा होती है, वह भी गयी। क्योंकि बिदा दिखायी पड़ने लगी। जन्म हुआ, बैण्ड बाजे बजे, उसी वक्त किसी-ने कहा, मौत निश्चित हो गयी। मरेगा यह बच्चा। हम कहेंगे, ऐसे अपशकुन की बातें मत बोलो। इससे मन बड़ा उदास होता है। इससे चित्त को बड़ा धक्का लगता है। लेकिन बुद्ध जब कहते हैं, 'मिलन में बिदा उपस्थित हो गयी'

तो वे मिलन के सुख को नहीं काट रहे हैं, केवल बिदा के दुख को काट रहे हैं। इसमें फर्क समझ लेना। नासमझ मिलन के सुख को काट डालेगा, समझदार बिदा के दुख को काट डालेगा। क्योंकि जब मिलन में ही बिदा उपस्थित है, तो बिदा का दुख कैसा? वह तो मिलन चाहा था, उसी दिन बिदा भी चाह ली थी। जब जन्म में ही मौत उपस्थित है, तो मृत्यु का दुख कैसा? वह तो जिस दिन जन्म चाहा था, उसी दिन मौत भी मिल गयी थी। लेकिन नासमझ जन्म के सुख को काट देगा। समझदार मृत्यु के दुख को काट देगा।

सम्भूत ब्रह्म को, विस्तीर्ण ब्रह्म को, प्रगट ब्रह्म को जानकर व्यक्ति मृत्यु के पार हो जाता है। मृत्यु के, दुख के, पीड़ा के, सन्ताप के, सबके पार हो जाता है। ध्यान रहे, दुख, पीड़ा, सन्ताप और चिन्ता सब मृत्यु की छायाएँ हैं—शैडोज ऑफ डेथ। जो व्यक्ति मृत्यु से मुक्त हो गया, उसके लिए न कोई दुख है, न कोई चिन्ता है, न कोई पीड़ा है। कभी आपने ठीक से ख्याल नहीं किया होगा कि जब भी आप चिन्तित होते हैं, तो किसी न किसी कोने में मौत खड़ी होती है। उसी वजह से चिन्तित होते हैं। एक आदमी के घर में आग लग जाये, तो वह चिन्तित होता है। एक आदमी का दिवाला निकल गया, वह चिन्तित है। क्यों? क्योंकि दिवाला निकलने से जीवन अब कष्ट में पड़ेगा और मौत आसान हो जायेगी। मकान जल जाने से अब जीवन असुरक्षित हो जायगा। और मौत सुगमता पायेगी। अन्धेरे में अकेला खड़ा आदमी चिन्तित होता है, क्योंकि कुछ दिखायी नहीं पड़ता और मौत अगर आ जाय, तो अभी दिखायी भी नहीं पड़ेगी। जहाँ-जहाँ आप चिन्तित होते हों, फौरन् पहचानना आस-पास कहीं मौत को खड़ा हुआ पायेंगे। मौत की छाया है चिन्ता। जहाँ-जहाँ दुख और पीड़ा मन को पकड़ते हों, वहाँ समझ लेना कि कहीं सम्भूत ब्रह्म के सम्बन्ध में नासमझी हो रही है। अनिवार्य को आप निवार्य मान रहे हैं। बस, वहीं से दुख शुरू हो रहा है। जो होना ही है, उसके बाबत भी आप आशा किये जा रहे हैं कि शायद न हो। वहीं से चिन्ता शुरू होती है। वहीं सन्ताप और एंग्विस पैदा होता है। नहीं, जो होना ही है, वही हो रहा है, वही होता है, अन्यथा का कोई उपाय नहीं है—इस स्वीकृति के साथ, इस तथाता के साथ, सम्भूत ब्रह्म की इस व्यवस्था की स्वीकृति के साथ भीतर सब शान्त हो जाता है। अशान्ति का उपाय नहीं रह जाता।

इसलिए कहा है ऋषि ने, सम्भूत ब्रह्म को जान कर मृत्यु से मुक्ति हो जाती है। लेकिन यह आधी बात है, यह आधा सूत्र है। अभी एक और जानने को छूट गया है, जो और गहन है। हम तो इसको ही नहीं जान पाते, इसीसे उलझ कर परेशान हो जाते है। अज्ञान में नाहक दीवालों से सिर फोड़ते रहते हैं। जहाँ

दरवाजा नहीं है, वहाँ नाहक टकराते रहते हैं। ताश के घर बनाते रहते हैं, पानी पर रेखाएँ खींचते रहते हैं और उनके मिटने को देख कर रोते रहते हैं। जिस दिन पानी पर रेखा खींचे, उसी दिन जान लेना, उसी क्षण जान लेना कि पानी पर खींची गयी रेखा खींचते ही मिटना शुरू हो जाती है। इधर आपने खींची नहीं, उधर वह मिटने लगी। पानी पर रेखा खींचियेगा और स्थायी करने की कोशिश करियेगा, तो इसमें कसूर पानी का है कि रेखा का कि आपका? इसमें दोष किसको दीजिये, पानी को, रेखा को! जो आदमी पानी को दोष देगा, रेखा को दोष देगा, वह दुखी होगा। जो समझेगा अपनी नासमझी, हँसेगा। जान लेगा कि पानी पर खींची गयी रेखा मिटती है। मिटनी ही चाहिए। खिंच जाय तो ही झंझट है। लेकिन इस सम्भूत ब्रह्म को ही हम नहीं समझ पाते, असम्भूत को तो कैसे समझ पायेंगे। प्रगट जो है बिलकुल, सामने जो खड़ा है—मौत से ज्यादा प्रगट कोई चीज है? धोखा दिये जाते हैं अपने को, डिसेप्शन दिये जाते हैं। कोई दूसरा मरता है, तो कहते है, बेचारा मर गया। ख्याल ही नहीं आता कि अपने मरने की खबर आयी है।

एक पंक्ति मुझे याद आती है, एक आंग्ल कवि की। कोई मर जाता है गाँव में तो चर्च की घण्टी बजती है। उस पंक्ति में कहा है: **किसीको भेजो मत पूछने कि घण्टी किसके लिए बजती है। तुम्हारे लिए ही बजती है।** बिना पूछे ही जानो कि तुम्हारे लिए ही बजती है।

मौत जैसा प्रगट तत्त्व भी ऐसा हम छिपा कर चलते है कि अगर कोई मंगल ग्रह का यात्री हमारे बीच उतरे और दो-चार दिन हमारे घर में रहे तो दो चीजों का उसको पता नहीं चलेगा। दो चीजों का और दोनों जुड़ी हैं। ख्याल में ले लें। उसे पता नहीं चलेगा कि यहाँ मौत होती है। उसे पता नहीं चलेगा कि यहाँ सेक्स होता है। दो चीजों का उसको पता ही नहीं चलेगा। सेक्स को भी हम छिपाये हैं, मौत को भी हम छिपाये हैं। ध्यान रखें, **सेक्स जन्म का सूत्र है।** वह सम्भूत ब्रह्म का पहला चरण है। और मौत आखिरी सूत्र है, वह आखिरी चरण है। **मृत्यु के भय की वजह से ही सेक्स का दमन शुरू हुआ।** वह पहला सूत्र है। अगर मौत को दबाना हो, तो जन्म की प्रक्रिया को भी भुला देना होगा। क्योंकि जन्म के साथ मौत जुड़ी हुई है। इसलिए जन्म हम अन्धेरे में छिपा देते हैं। जन्म की प्रक्रिया को पर्दों में डाल देते हैं। और मौत को हम गाँव के बाहर निकाल देते हैं। कब्रिस्तान बना देते हैं दूर—जो मौत से बहुत ज्यादा भयभीत है, उसकी वजह से। कब्र पर फूल बो देते हैं कि कोई निकले भी कब्र के पास से भूल-चूक से तो फूल दिखायी पड़ें, कब्र दिखायी न पड़े। लाश को ले जाते हैं, तो

फूलों में ढाँक लेते हैं। वह मरा हुआ दिखायी न पड़े, खिला हुआ दिखायी पड़े। कितने ही फूलों मे ढांको, लेकिन जो मर गया, वह मर गया। और कितनी ही खूबसूरत कब्रें बनाओ और कब्रों पर कितने ही मजबूत पत्थर लगाओ और उन पर नाम लिखो। **जब कब्र के भीतर जो पड़ा है आज वह न बच सका, तो पत्थरों पर लिखे हुए नाम कितनी देर बचेंगे! और कब्रों को कितना ही गाँव के बाहर सरकाओ मौत गाँव में ही घटती रहेगी, कब्रिस्तान में नहीं घटेगी।**

इधर हम सेक्स को दबाते हैं, छिपाते हैं, क्योंकि वह जन्म है। उसको भी दबाने और छिपाने के पीछे अचेतन कारण है। कारण यही है कि वह पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़ कर रखा तो मौत भी उघड जायेगी। वह भी बच नहीं सकती ज्यादा दिन। इसलिए बड़े मजे की बात है कि जिन समाजो मे सेक्स सप्रेशन समाप्त हुआ है---जहाँ-जहाँ समाज ने सेक्स को मुक्त कर दिया, प्रगट कर दिया, वहाँ-वहाँ मौत की चिन्ता बढ़ गयी है। जिन समाजो ने सेक्स को बिल्कुल ही दबा दिया, भुला दिया, जैसे है ही नही, वहाँ मौत को भी दबा दिया है।

मैंने सुना है, एक यहूदी बच्चा एक दिन अपने घर लौटा। स्कूल में समझ कर आया है कि बच्चों का जन्म कैसे होता है। नये ज्ञान से बहुत आह्लादित है। किसीको बताने को उत्सुक है। घर आकर उसने अपनी माँ को पूछा कि मेरा जन्म कैसे हुआ? उसकी माँ ने कहा, परमात्मा ने तुझे भेजा। मेरे पिताजी का जन्म कैसे हुआ? उनको भी परमात्मा ने भेजा। उनके पिताजी का जन्म कैसे हुआ? माँ थोडी हैरान हुई, लेकिन उसने कहा, उनको भी परमात्मा ने भेजा। वह पूछता ही चला गया, और उनके पिता? सात पीढियाँ आ गयी। आखिर माँ ने कहा, उत्तर एक ही है। तो उस लडके ने कहा कि इसका क्या मतलब है? क्या सात पीढ़ियों से सेक्स हमारे घर मे है ही नही! क्योंकि मैं तो स्कूल मे पढ़ कर आ रहा हूँ कि बच्चे ऐसे पैदा होते हैं।

नही, बहुत अचेतन भय है सेक्स को दबाने का। वह जन्म का पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़ा और प्रगट किया, तो मौत भी उघड़ जायेगी। जब तक बच्चों को पता नहीं है कि कैसे पैदा होता है आदमी, तब तक वह यही पूछते चले जाते हैं। लेकिन जिस दिन पता चल जायगा, कैसे पैदा होता है, वह पूछेंगे--- मरता कैसे है? इसलिए पैदा होने वाले सूत्र को ही छिपाये चले जाओ, उसी के आस-पास घूमते रहेंगे वे, और पूछते रहेंगे और कभी मौका नहीं आयगा कि पूछें, मरता कैसे है? अभी यही पता नही चला कि पैदा कैसे होता है, तो मरने का सवाल ही नही उठता। ध्यान रहे, पैदा होने का सूत्र साफ हो तो दूसरा सवाल

मौत के सिवाय कुछ और नहीं हो सकता । इसलिए क्या किया जाना करें । छिपा लिया जीवन को । जन्म जन्म को बाहर रखा सिवा मौत के—मृत्यु को भुला दिया । और उन दोनों के बीच हम जीते हैं, अन्धेरे में । निश्चित ही अद्भुत अनजीवन जीते हैं । न जन्म का पता, न मौत का पता, सब हिस्सा ही । सम्भूत ब्रह्म को इतना प्रगट है, इतना साफ है, उसको भी हम झुठलाते हैं । तो असम्भूत ब्रह्म, जो अप्रगट है, छिपा है, अनभिव्यक्त है, उसका तो कहना ही क्या । वहाँ तक तो हम पहुँचेंगे कैसे ?

जन्म और मृत्यु को ठीक से जान लें । एक ही चीज के दो छोर हैं वे । एक ही वर्तुल का आरम्भ है जन्म, उसी वर्तुल का अन्त है मृत्यु । मृत्यु उसी जगह पहुँच कर होती है, जहाँ से जन्म होता है । मृत्यु की घटना और जन्म की घटना एक ही घटना है । क्या होता है जन्म में ? शरीर निर्मित होता है । पुरुष और स्त्री के अणुओं से एक नयी कम्पोजिट बाडी निर्मित होती है । आधे-आधे तत्त्व दोनों के पास हैं । इसीलिए स्त्री-पुरुष का इतना तीव्र आकर्षण है । आधे-आधे हैं, इसलिए इतना आकर्षण है । वह आधे तत्त्व खिंचते हैं पूरे वक्त । पूरा होना चाहते हैं । इसलिए इतनी कशिश है । इतना आकर्षण है । इसलिए सब विधि-विधान, सब नियम, सब सिद्धान्त, सब शिक्षाओं को छोड़ कर बच्चे पैदा होते चले जाते हैं । सब ब्रह्मचर्य की शिक्षाएँ देने वाले लोग आते हैं और चले जाते हैं, कोई परिणाम दिखायी नहीं पड़ता । आकर्षण इतना गहरा है कि सब शिक्षाएँ ऊपर ही रह जाती हैं । वह आकर्षण एक ही चीज के आधे-आधे तत्त्वों का है । जैसे हमने एक चीज को दो टुकड़ों में तोड़ दिया हो और वह वापस मिलना चाहती हो । मिलते ही नया शरीर निर्मित हो जाता है । आधे अणु स्त्री देती है, आधे अणु पुरुष देता है । जन्म का मतलब है, पुरुष और स्त्री के आधे-आधे अणुओं से मिलकर शरीर का निर्माण । जैसे ही वह शरीर निर्मित होता है, एक आत्मा उसमें प्रवेश कर जाती है । जिस आत्मा की आकांक्षाएँ उस शरीर से पूरी होती हैं, वह आत्मा प्रवेश कर जाती है । यह प्रवेश वैसा ही सहज, स्वचालित है, जैसे कि पानी गिरता है और गड्ढे में प्रवेश कर जाता है । उतना ही नियमित है । अपने अनुकूल गर्भ में आत्मा प्रवेश कर जाती है ।

मृत्यु में क्या होता है ? वह जो आधे-आधे तत्त्व मिले थे, वापस बिखरने लगते हैं और टूटने लगते हैं । कुछ और नहीं होता । जिन आधे-आधे अणुओं से मिल कर शरीर कम्पोजिट हुआ था, वे वापस टूटने लगते हैं और बिखरने लगते हैं । भीतर से जोड़ शिथिल होने लगता है । बुढ़ापे का अर्थ है, जोड़ शिथिल हो जाना ।

भीतर की जो कम्पोजिट बाडी थी, वह डीकम्पोज होने लगी। जो जुड़ा था, वह फिर बिखरने लगा। उसके बिखरने का सूत्र जन्म के दिन ही तय हो गया था। ज्योतिषी के ढंग से नहीं, वैज्ञानिक के ढंग से तय हो गया था। असल में जब भी दो स्त्री और पुरुष के अणु मिलते हैं, उनके मिलते समय ही सब तय हो जाता है। अभी हमारा ज्ञान कम है विज्ञान का, लेकिन बढ़ता जा रहा है। आज नहीं कल, बच्चे के जन्म के साथ हम कह सकेंगे कि इसकी बिल्टइन प्रोसेस कितने दिन चल सकती है। यह सत्तर साल चल सकता है कि अस्सी साल चल सकता है कि सौ साल चल सकता है। ठीक वैसे ही, जैसे हम एक घड़ी को गैरेण्टी देते हैं कि दस साल चल सकती है। क्योंकि इसके कल-पुर्जों की परख कहती है कि दस साल तक के संघर्ष को झेल लेगी—हवा के, ताप के, गति के। फिर दस साल के संघर्ष को झेल कर बिखर जायेगी। जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उसी दिन दोनों के अणु मिलकर यह तय कर देते हैं कि यह कितने दिन तक हवा, पानी, गर्मी, वर्षा, धूप, दुःख, पीडा, संघर्ष, मिलन, विरह, मित्रता, शत्रुता, आशा, निराशा, रात, दिन, इन सबको कितने दिन झेल सकेगा ? और झेलते-झेलते कब ढीला पड़ने लगेगा जोड़। और कब वह दिन आ जायगा, जब ये मिले हुए अणु बिखर कर अलग हो जायेंगे। उनके अलग होते ही आत्मा को वह शरीर छोड़ देना पड़ेगा। मृत्यु और यौन, सेक्स और डेथ एक ही चीज के दो छोर हैं। **यौन जिसे मिलाता है, मृत्यु उसे बिखरा देती है।** यौन जिसे संयुक्त करता है, मृत्यु उसे वियुक्त कर देती है। यौन अगर सिंथेटिक है, तो मृत्यु एनालिटिक है। यौन संश्लिष्ट करता है, मृत्यु विश्लिष्ट कर देती है। घटना एक ही है। घटना में कोई फर्क नहीं है।

इस सम्भूत ब्रह्म को जो ठीक से जान ले, वह इसकी स्वीकृति को उपलब्ध होता है। और स्वीकृति विजय है। जिस चीज को आपने स्वीकार कर लिया उसके आप मालिक हो गये। अगर आपने गुलामी को भी स्वीकार कर लिया, तो आप मालिक हो गये, गुलाम न रहे। अगर मेरे हाथ में आप जंजीरें डाल दें और मैं राजी से डलवा लूँ। और आप मुझे जाकर कारागृह में बन्द कर दें और मै नाचता हुआ बन्द हो जाऊँ। और क्षणभर को भी मेरे मन में यह कभी ख्याल न उठे कि बाहर भी हो सकता था, बस जानूँ कि जो हो सकता था, वही हुआ है। तो आप मुझे गुलाम बनाने में समर्थ नहीं हुए। आप हार गये। मालिक हूँ मैं अब भी। उल्टे आप मेरे गुलाम हो जायेंगे। क्योंकि ताला-चाबी भी रखनी पड़ेगी, दरवाजे पर पहरा भी देना पड़ेगा ! और मैं अगर स्वीकार कर सकता हूँ ताला-चाबी को, सामने खड़े पहरेदार को कि ठीक है, नियति है तो मैं अपना

गीत गा सकता हूँ स्वीकार। और आप बन्दूक लिये हुए गम्भीर बने रह सकते हैं। गुलामी भी अगर पूर्ण स्वीकृत हो जाय तो स्वतन्त्रता है और स्वतन्त्रता भी अगर पूरी स्वीकृत न हो तो गुलामी है। पूर्ण स्वीकृति मुक्ति है। किसी भी तथ्य की पूर्ण स्वीकृति मुक्ति है। सम्भूत ब्रह्म को जान कर व्यक्ति पूर्ण स्वीकार को उपलब्ध होता है और इस तरह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

दूसरी बात भी ख्याल में ले लें। हालाँकि ख्याल के लायक नहीं है दूसरी बात। ख्याल में लेने से आयेगी भी नहीं। पहली बात भी ख्याल में आ जाय तो पर्याप्त है। असम्भूत ब्रह्म को जानने की बात तो और बहुत अनुभव की है। असम्भूत ब्रह्म को जानने के लिए या तो जन्म के पहले जाना पड़े या मृत्यु के बाद जाना पड़े। उसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। इसलिए जैन फकीर जापान में जब कोई साधक उनके पास आता है, तो उससे कहते हैं कि तू जा और ध्यान कर और पता लगा कि जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था? जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था, इस पर ध्यान कर—What is your original face? ओरीजनल यह नहीं है, जो अभी है। वह नहीं जो कल था, वह नहीं जो परसों था। ओरीजनल—जो जन्म के पहले था, जो तेरा असली चेहरा है, वह बता। यह चेहरा, जो अभी है, यह तो तेरे माँ-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह आँख का रंग तेरे माँ-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह नाक-नक्श तेरे माँ-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह चमड़ी का रंग तेरे माँ-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। अगर नीग्रो माँ बाप होते, तो यह काला हो जाता। अगर अंग्रेज माँ-बाप होते, तो यह भूरा हो जाता। यह पिगमेण्ट, जो शरीर के रंग का है, यह तो तेरे माँ-बाप से मिला है। यह तेरा रंग नहीं है। अपना रंग क्या है तेरा, उसका पता लगा! अपने चेहरे की फिक्र कर, यह तो माँ-बाप का दिया हुआ चेहरा है। दिये हुए चेहरे छीन लिये जायेंगे। यह मुखौटा से ज्यादा नहीं है। लेकिन सत्तर साल चलता है, इसलिए हम सोचते हैं, चेहरा है! एक आदमी के चेहरे पर अगर फिक्स्ड मुखौटा लगा दिया जाय और नट, कील इस तरह कस दिये जायें कि इस जिन्दगी में न छूट सकें, तो थोड़े दिन में वह उसे अपना चेहरा समझने लगेगा। क्योंकि जब भी आईने के सामने जायगा, वही दिखायी पड़ेगा।

एक आदमी ने अमरीका में एक बहुत अनूठा प्रयोग किया है अभी। उस अमरीकन युवक लेखक ने सोचा कि मैं वैज्ञानिक प्रक्रिया से नीग्रो हो जाऊँ। वैज्ञानिक प्रक्रिया से चमड़ी को काला करवा लूँ। और फिर अमरीका में जी कर देखूँ कि नीग्रो पर क्या गुजरती है। नीग्रो पर जो गुजरती होगी, वह सफेद चमड़ी के आदमी को कभी ठीक पता नहीं चल सकता। बिना नीग्रो हुए पता चल भी

कैसे सकता है। ऐसे जो भी पता चलेगा वह सफेद चमड़ी वाले का अनुभव होगा, नीग्रो का नहीं। तो बड़ा हिम्मत का प्रयोग था। पहले तो वैज्ञानिकों ने इनकार किया। क्योंकि खतरनाक भी था। पर वह आदमी मानने को राजी नहीं था और धीरे-धीरे तीन वैज्ञानिकों को उसने राजी कर लिया। छह महीने की लम्बी प्रक्रिया—इंजेक्शन्स और शरीर में नये पिगमेंट्स डाल कर उसकी चमड़ी नीग्रो की हो गयी। उसकी चमड़ी काली हो गयी। बाल घुँघराले कृत्रिम रूप से तैयार कर दिये गये। उस आदमी ने लिखा है अपने संस्मरण में कि पहली बार वैज्ञानिकों ने कहा कि प्रक्रिया पूरी हो गयी, अब तुम अपने प्रयोग पर निकल सकते हो। तो मैं बाथरूम में गया कि अपना चेहरा तो देखूँ। लेकिन मेरी हिम्मत बिजली की बटन दबाने की न हुई। पता नहीं क्या दिखायी पड़े! बड़े डरते हुए बिजली का बटन दबाया। सोचा था पहले कि रंग ही बदल जायगा, मैं तो मैं ही रहूँगा। लेकिन जब आईने में देखा तो रंग ही नहीं बदला था, मैं भी बदल गया था। समझ में ही नहीं पड़ा कि यह क्या हो गया, यह कौन आदमी खड़ा है! सब कुछ और था। सोचा था कि इस भाँति नीग्रो होकर छह महीने नीग्रो के बीच रहकर जान लूँगा कि नीग्रो कैसा अनुभव करते हैं। हालाँकि मैं तो नीग्रो नहीं हूँ, तो नीग्रो नहीं रहूँगा। लेकिन संस्मरण में लिखा है कि चार-छह दिन नीग्रों के बीच रहकर मैं यह भूलने लगा कि मैं अमरीकन हूँ। मैं गोरा हूँ, यह मै भूलने ही लगा। रोज सुबह-साँझ आईने में अपनी वही तस्वीर दिखायी पड़ने लगी। फोटो निकलवा कर देखे। नीग्रो ऐसे व्यवहार करने लगे, जैसे मैं नीग्रो हूँ। रास्ते पर जो सदा नमस्कार करते थे सफेद चमड़ी के लोग, वे ऐसे निकल जाने लगे, जैसे कोई पास से निकला ही न हो। एक दिन सुबह आकर द्वार पर खड़ा हुआ अपनी पत्नी के। पत्नी ने देखा और नहीं देखा। नीग्रो को कोई देखता है? नौकर आकर द्वार पर खड़ा हो जाय, भंगी खड़ा हो जाय, तो आप देखते हैं? कौन देखता है? दिखायी पड़ जाता है, देखता कोई नहीं है। जिस गोरे जूते बनाने वाले और जूते पर पालिश करवाने वाले से वह सदा जूते पर पालिश करवाता था, जब आकर उसकी टिकटी पर उसने अपना जूता रखा तो उस आदमी ने ऊपर देखा और कहा कि होश है? पैर नीचे हटाओ!

लिखा है उसने कि तब मुझे ऐसा नहीं लगा कि मैं तो असल में सफेद चमड़ी का आदमी हूँ, तो मैं हँसूँ। यह तो नीग्रो के साथ व्यवहार हो रहा है। नहीं, तब मुझे लगा, मेरे साथ व्यवहार हो रहा है। और मुझे वही पीड़ा हुई। छह महीने की निरन्तर प्रक्रिया के बाद पिगमेंट्स खराब हो गया और चमड़ी वापस सफेद होनी शुरू हो गयी। छह महीने की प्रक्रिया के बाद उसने लिखा है कि

कुछ वर्ष मैं याद करता हूँ, छह महीने को मुझे ऐसा नहीं लगता कि वह मैंने जिये। लगता है, कोई दूसरा चेहरा लेकर। वह असल ही आदमी था, मैं असल ही आदमी हूँ। क्योंकि चेहरों से ही तो हमारे बोध होते हैं।

वह चेहरा उसका नहीं था, छह महीने के लिए मिला था। वह चेहरा भी आपका नहीं है। लेकिन मजा यह है कि वह सोचता है कि वह छह महीने के लिए जो चेहरा था वह उसका नहीं था, उसके पहले जो चेहरा था उसका था और उसके बाद जो चेहरा है वह उसका है। वह भी उसका नहीं है। वह छह महीने के लिए वैज्ञानिक से मिला था चेहरा। यह सत्तर साल के लिए माँ-बाप से मिला है चेहरा। यह भी अपना नहीं है। यह खुद का चेहरा नहीं है। खुद का चेहरा तो जन्म के पहले मिल सकता है या मौत के बाद मिल सकता है। जन्म के पहले लौटना बहुत मुश्किल है। असम्भूत ब्रह्म को जन्म के पहले जानना बहुत मुश्किल है। पहले तो मैंने कहा, असम्भूत ब्रह्म को सम्भूत ब्रह्म के मुकाबले जानना बहुत मुश्किल है। अब मैं आपसे कहता हूँ, दो उपाय हैं—या तो जन्म के पहले रिग्रेस कर जायें। ध्यान में इतने पीछे चले जायें उतर कर कि जन्म के पहले चले जायें तो असम्भूत ब्रह्म को जान लेंगे। दूसरा उपाय यह है कि ध्यान में इतने आगे बढ़ जायें कि मर जायें और मौत के आगे निकल जायें। तो असम्भूत ब्रह्म का अनुभव हो जायगा। इन दोनों में बचने का प्रयोग आसान है। क्योंकि वह भविष्य है। पीछे लौटना बहुत कठिन है, आगे ही जाना आसान है। आगे ही छलाँग ली जा सकती है। पीछे लौटना बड़ा मुश्किल है। बचपन के वस्त्र पहनने बहुत मुश्किल हैं। गर्भ में वापस लौटना अति कठिन है, क्योंकि बहुत सँकरा होता जाता है मार्ग। लेकिन ढीले वस्त्र—मौत के ढीले वस्त्र पहनने बहुत आसान हैं। मार्ग विस्तीर्ण होता चला जाता है। ध्यान रहे, जन्म का द्वार बहुत छोटा है, मृत्यु का द्वार बहुत बड़ा है। मृत्यु के पार जाना आसान है। जन्म के पार जाना भी सम्भव है। उसकी भी प्रक्रियाएँ हैं, उसके भी मार्ग हैं, लेकिन अति कठिन हैं। मैं जिस ध्यान की बात कर रहा हूँ, वह मृत्यु का प्रयोग है। वह मृत्यु में छलाँग है। अपने हाथ से मरकर देखना है। अपने से ही मरे जैसे हो जाना है। अगर घटना घट जाय और जानते हुए आप मृत्यु में उतर जायें और ऐसे हो जायें, जैसे 'नहीं हैं' तो असम्भूत ब्रह्म का चेहरा दिखायी पड़ेगा। उसका चेहरा दिखायी पड़ेगा, जो जन्म के पहले है और मृत्यु के बाद है।

प्रक्रिया भले दो हो जायें, लेकिन बिन्दु वह एक ही है। आप चाहे पीछे लौट कर उस बिन्दु को देखें, चाहे आगे जाकर उस बिन्दु को देखें। लेकिन सरल है आगे जाना। इसलिए मेरा आग्रह मृत्यु पर है। मैं नहीं कहता कि आप लौट

कर देखें जन्म के पहले कि क्या चेहरा था। मैं कहता हूँ, जरा आगे बढ़ कर झाँक के देखें कि मृत्यु के बाद क्या चेहरा होगा। ऐसी स्वेच्छा से स्वीकृत मृत्यु ध्यान बन जाती है। और अगर कोई व्यक्ति इस मृत्यु को सिर्फ थोड़े ही क्षणों में न जीना चाहे, बल्कि पूरे जीवन में जीना चाहे तो संन्यास बन जाती है। संन्यास का अर्थ है, जीते-जी इस तरह से जीना, जैसे मर गये।

एक झेन फकीर हुआ है—बोकोजू। संन्यास लिया उसने। गाँव से गुजरता था, किसी आदमी ने गालियाँ दीं। उसने खड़े होकर सुनीं। पास की दूकान के मालिक ने उससे कहा, क्या खड़े होकर सुन रहे हो! वह गालियाँ दे रहा है। बोकोजू ने कहा, लेकिन मैं मरा हुआ आदमी हूँ। अब मैं जवाब कैसे दूँ। उस आदमी ने कहा, मरे हुए आदमी? पूरी तरह जीते हुए दिखायी पड़ रहे हो! तो बोकोजू ने कहा, अब मर ही जाऊँगा, फिर मरने में मेरा क्या गुण होगा। जीते-जी मर रहा हूँ। इसमें कुछ मेरा गुण है। जब मर ही जाऊँगा, तब तो मरूँगा ही। तब तो सभी मरते हैं। मैं जीते-जी मर गया हूँ।

जन्म हो गया अनजाने में। अब कोई उपाय नहीं है उसमें जाने का। लेकिन मृत्यु अभी आगे है, उसमें से जान कर गुजरना है। जन्म के वक्त चूक गया एक मौका, जब कि उसे जाना जा सकता था, जो जन्म के पहले था। लेकिन वह तो चूक गया। एक अवसर और है—वह है मृत्यु। लेकिन ध्यान रहे, अगर मृत्यु अचानक आयी, जैसा कि जन्म आया था, तो उसको भी चूक जायेंगे जानने से। लेकिन अगर आपने तैयारी करके मृत्यु को दरवाजा दिया, आप तैयार रहे, मरते गये, मरते गये, तो उसे जान लेंगे। संन्यास का मतलब यही है—मरना अपनी तरफ से, स्वेच्छा से—वालंटरी डेथ। मरते जाना, ऐसे होते जाना जैसे मर ही गये। जब कोई गाली दे, तो जानना कि मरे हुए हैं। जब आप मर जायेंगे और आपकी कब्र पर खड़े होकर कोई गाली देगा, तब आप क्या करेंगे? वही करना शुरू कर दें। आपकी खोपड़ी कहीं पड़ी होगी और कोई लात मारेगा, तो जो उस वक्त करेंगे, वही अभी भी करना। संन्यास का अर्थ यही है। ऐसे हम असम्भूत ब्रह्म में उतर जायेंगे। अन्यथा मौत का अवसर भी चूक जायगा। और ऐसा नहीं कि इसी दफे, कई दफे चूक चुका है। जन्म का भी कई बार चूका है। इस बार तो चूका ही है, इसके पहले भी जन्म का अनेक बार चूका है और मृत्यु का अनेक बार चूका है। बहुत बार जन्म ले चुके, बहुत बार मर चुके—आदतन्, एडेक्टेड हैं। एक ढंग हो गया है हमारा, पर यह ढंग आगे भी चलाना है, नहीं चलाना है, यह निर्णय लेना चाहिए। अभी तक अवसर आगे आ रहा है मौत का। उस अवसर के लिए तैयारी करते जाना

चाहिए, जो असम्भूत में प्रवेश हो जायगा। और जो असम्भूत में प्रवेश करता है, ऋषि कहता है, वह अमृत को जान लेता है। जो सम्भूत को जान लेता है, वह मृत्यु को जान लेता है। जो असम्भूत में प्रवेश करता है, वह अमृत को जान लेता है। ध्यान रहे, मृत्यु में प्रवेश करके ही अमृत जाना जाता है। क्योंकि जब हम मृत्यु में पूरी तरह प्रवेश कर जाते हैं, सब भांति मर जाते हैं और फिर भी पाते हैं कि नहीं मरे तो अमृत की उपलब्धि हो गयी। जब कोई गाली देता है और आप मुर्दे की भाँति होते हैं और फिर भी जानते हैं कि 'हूँ', और गाली का उत्तर नहीं आता। और जब कोई आपका हाथ काट दे, गर्दन काट दे, और गर्दन कटती हो, तब भी आप जानते हैं कि गर्दन कट रही है, फिर भी 'हूँ', तो अमृत का द्वार खुल गया। मृत्यु से जो बचेगा, वह अमृत से वंचित रह जायगा। मृत्यु में जो उतरेगा, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

असम्भूत ब्रह्म को जान कर अमृत की उपलब्धि है, क्योंकि असम्भूत अमृत है। वह जन्म के पहले और मृत्यु के बाद है, इसलिए अमृत है। वह कभी जन्मता नहीं है, इसलिए उसके मरने का कोई उपाय नहीं। हम भी वही हैं। शरीर ही जन्मता है, वही कम्पोजिट होता है, माँ-बाप से वही मिलता है। हम बहुत पहले से आते हैं। जब शरीर नहीं था, तब भी हम थे। शरीर मे प्रवेश करते ही शरीर से तादात्म्य बन जाता है। फिर शरीर मरता है, तो लगता है, मैं मर रहा हूँ। और जब अचानक मौत आयेगी—और मौत अचानक ही आती है। मौत आपको खबर देकर नहीं आती है। खबर देकर आये तो आप बहुत मुसीबत में पड़ जायें, इसलिए बड़ी करुणापूर्ण व्यवस्था है कि बिना खबर दिये आती है। सोचे, चौबीस घण्टे पहले आपको मौत बता जाय कि आती हूँ, चौबीस घण्टे बाद तो मौत मे तो जो होगा सो होगा, इस चौबीस घण्टे में जो होगा उसका हिसाब लगाना बहुत मुश्किल है। लेकिन मौत की करुणा महँगी पड़ती है। खबर देकर आ जाय तो पीड़ा तो होगी, लेकिन शायद मौत से जानते हुए गुजरना हो जाय। अगर चौबीस घण्टे पहले मौत खबर दे दे कि आती हूँ, तो तकलीफ तो भारी होगी। करुणा है उसकी कि नहीं खबर देती आपको। लेकिन अगर खबर दे दे तो पीड़ा तो भारी होती और चौबीस घण्टे में न मालूम कितने नर्क से गुजरना हो जायगा। एक-एक पल बीतना मुश्किल हो जायगा। बिना धड़कते हुए हृदय के बीतना पड़ेगा चौबीस घण्टे। नाड़ी खो जायेगी, बुद्धि खो जायेगी—ऐसे-वैसे भी बहुत ज्यादा है नहीं। लेकिन शायद, शायद कहता हूँ, जानते हुए गुजरना हो जाय। क्योंकि बहुत सम्भावना यह है कि पता चल जाय तो आप चौबीस घण्टे पहले बेहोश हो जायेंगे। होश में नहीं रहेंगे। चौबीस घण्टे बेहोशी में, कोमा में पड़े

रहेंगे, और मरेंगे। शायद इसीलिए कोई सार्थकता नहीं है कि मृत्यु की खबर पहले मिल भी जाय तो कुछ फायदा हो सके।

संन्यास अपने ही हाथ से मृत्यु की खबर को अपने को दे देना है। वह देखता है कि बस, जो घर्च में घण्टी बज रही है, मेरे लिए ही बज रही है। वह जो रास्ते पर लाश गुजर रही है, वह मेरी गुजर रही है। वह जो मरघट में आदमी जल रहा है, वह मैं जल रहा हूँ। इसीलिए तो संन्यासी का सिर घुटा देते हैं, जैसा मुर्दे का घुटा देते हैं। पहले तो संन्यास की जो प्रक्रिया और दीक्षा थी, उसमें आदमी का सिर घुटा कर, घर के लोग वैसे ही रो-धो लेते थे, जैसे मरता है आदमी तब रो-धो लेते हैं। हालाँकि अभी भी थोड़ा रोना-धोना घर के लोग करेंगे, वह आपके मरने की वजह से कि यह आदमी अब मरेगा। निर्णय कर रहा है मरने का। उनको रो-धो लेने देना, क्योंकि मरते वक्त तो आप कोई बचाव न कर सकेंगे उनके रोने-धोने का। हालाँकि अभी का रोना-धोना दिन-दो दिन में चला जायगा, क्योंकि वह जानेंगे कि भला यह आदमी मरने का निर्णय लिया, लेकिन जिन्दा है। दो दिन में निपट जायेंगे, पार हो जायेंगे। और अच्छा है, अपने जानते ही, अपने सामने ही अपनी मृत्यु की पीड़ा से भी उनको गुजार दें। क्योंकि कल जब मैं मरूँगा और वे मृत्यु की पीड़ा से गुजरेंगे, तब मैं कुछ सहानुभूति प्रकट करने को, सान्त्वना देने को भी नहीं रहूँगा।

दीक्षा देते थे संन्यासी को तो चिता पर चढ़ाते थे। बहुत सरल दिन थे वे। बहुत भोले लोग थे। चिता पर चढ़ा देते थे, नीचे आग लगा देते थे। और गुरु चिल्लाता था कि तुम मर गये—स्मरण करो कि तुम मर गये। फिर जलती हुई चिता से उस आदमी को उठा कर उसे नया नाम दे देते थे, वह पुराना आदमी गया, पुराना नाम भी गया। पर वह बहुत सरल दिन थे। इस छोटी-सी प्रक्रिया से, इस छोटे-से मन्त्र से, चिता पर चढ़ाने से आदमी मान लेता था कि मर गया, दूसरा आदमी हो गया। आज इतनी सरलता नहीं है। आज यदि चिता पर आपको चढ़ा दें, तो आप उतर आयेंगे, जो चढ़े थे। आपका सिर भी घुटा दें तो आप फोटो उतार कर अलबम में लगा देंगे, जहाँ बिना सिर घुटी लगी है। कण्टीन्युटी जारी रहेगी। आदमी ज्यादा चालाक हुआ है। इसलिए संन्यास कठिन हुआ है। लेकिन संन्यास के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है असम्भूत ब्रह्म को जानने का। सम्भूत ब्रह्म तो संसारी भी जान सकता है, लेकिन असम्भूत ब्रह्म सिर्फ संन्यासी ही जान सकता है।

आज के लिए इतना ही। रात हम बात करेंगे।

अब हम चलें असम्भूत की यात्रा पर—मरें!

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढँका हुआ है। हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे ॥१५॥

सहज ही ख्याल में न आ सके, सहज ही समझ में न आ सके, ऐसा यह सूत्र कई अर्थों में बहुत असाधारण अभिप्राय को लिये हुए है। पहली तो बात यह कि साधारणतः सोचते हैं हम, मानते हैं ऐसा कि सत्य अगर ढँका होगा तो अन्धकार से ढँका होगा। लेकिन यह सूत्र कहता है कि ज्योति से, प्रकाश से ढँका है सत्य। हे प्रभु, तू उस प्रकाश के पर्दे को अलग कर।

यह बहुत ही बहुरी जिसने खोज की हो सत्य के आयाम में, उसकी प्रतीति है। जिन्होंने केवल सोचा होगा, वह सदा कहेंगे, अन्धकार में ढँका है सत्य। लेकिन जिन्होंने जाना है, वह कहेंगे, प्रकाश में ढँका है सत्य। और अगर अन्धकार मालूम होता है, तो वह प्रकाश के आधिक्य के कारण। प्रकाश के आधिक्य में आँखें अन्धी हो जाती हैं। प्रकाश बहुत हो तो अन्धकार जैसा हो जाता है। आँखों की कमजोरी के कारण। सूरज को देखें। आँख खोलें सूरज की तरफ। थोड़ी देर में अन्धकार हो जायगा। इतना ज्यादा है प्रकाश कि आँखें झेल नहीं पातीं। अन्धकार हो जाता है। तो जिन्होने दूर-दूर से जाना है, सोचा है, वह कहेंगे, अन्धकार में छिपा है सत्य। प्रभु का मन्दिर अन्धकार में छिपा है। लेकिन जिन्होंने जाना है, वह कहेंगे कि प्रकाश में छिपा है। हे प्रभु, तू प्रकाश के इस पर्दे को अलग कर दे।

प्रकाश के आधिक्य के कारण ही अन्धकार का भ्रम पैदा होता है। आँखें हमारी कमजोर हैं इसलिए। पात्रता हमारी कम है, इसलिए। जैसे-जैसे सत्य की तरफ यात्रा होती है, वैसे-वैसे प्रकाश बढ़ता जाता है। जो लोग भी ध्यान में थोड़ी-सी गति कर रहे हैं, वह जानते हैं कि जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता है, प्रकाश

गहरा चला जाता है। जब इटालियन साधिका मीलमन्देह ने मुझे आकर कहा कि इतना प्रकाश हो गया है भीतर कि ऐसा लग रहा है, जैसे भीतर से किरणें आ रही हैं और पूरा शरीर जल रहा है। जैसे भीतर कोई सूरज बैठा है। बाहर से नहीं आ रही है गर्मी, भीतर से आ रही है। और प्रकाश इतना ज्यादा है कि रात सोना मुश्किल हो गया है। आंख झपती है, तो प्रकाश ही प्रकाश है। जैसे ही कोई ध्यान में गहरा उतरेगा, प्रकाश घना और गहरा होने लगेगा, तीव्र और प्रखर होने लगेगा। और एक ऐसी घड़ी आती है कि जब प्रकाश का आधिक्य इतना हो जाता है कि करीब-करीब गहन अन्धकार मालूम होने लगता है। ईसाई फकीरों ने उस क्षण को—सिर्फ ईसाई फकीरों ने ही, उस क्षण को ठीक नाम दिया है। उसे उन्होंने कहा है—डार्क नाइट आफ द सोल—आत्मा की अन्धकार-पूर्ण रात्रि। लेकिन अन्धकारपूर्ण रात्रि है वह प्रकाश के आधिक्य के कारण। जब इतना प्रकाश हो जाता है कि भीतर लगता है, अंधेरा हो गया है प्रकाश के, ज्यादा होने के कारण। उस क्षण में की गयी प्रार्थना है यह कि हे प्रभु, इस प्रकाश के पर्दे को हटा ले। ताकि मैं इसके पीछे छिपे सत्य के मुख को देख सकूं। और उचित है यह कि सत्य के मुख के आस-पास इतना प्रकाश आधिक्य हो कि आँखें अन्धी और अन्धेरी हो जायें। उचित यही है, सम्यक् भी यही है कि प्रकाश के वर्तुल के भीतर ही सत्य छिपा हो। अन्धकार अगर मालूम पड़ता है, तो वह हमारी भ्रान्ति है। सत्य के आस-पास कैसे अन्धकार हो सकता है! और अगर सत्य के आस-पास भी अन्धकार हो सकता है, तो फिर इस जगत् में प्रकाश कहां हो सकेगा? सत्य के आस-पास अन्धकार टिकेगा कैसे? सत्य के निकट अन्धकार के टिकने की कोई सम्भावना, कोई उपाय नहीं। सत्य है जहां वहां तो प्रकाश ही होगा। बस, हमें अन्धकार जैसा मालूम हो सकता है।

सूफी फकीरों से अगर पूछें तो वे कहते हैं कि जब उतरते हैं उस जगह तो एक सूरज नहीं, हजार सूरज भी कहना काफी नहीं है। अनन्त सूर्य एक साथ जलने लगें भीतर, इतना आधिक्य हो जाता है। स्वभावतः अंधकार छा ही जायगा। सत्य छिपा है प्रकाश में। और स्मरण रखें, अंधकार में आंख खोलनी आसान है, प्रकाश के आधिक्य में आंख का खोलना बहुत कठिन है। अमावस की रात में आंख खोलने में कौन सी बाधा है? लेकिन सूर्य सामने पड़ जाय तो आंख खोलने में बड़ी कठिनाई है। जो सत्य के निकट जायेंगे उनका अन्तिम संघर्ष प्रकाश से होगा, अन्धकार से नहीं। प्रकाश की इतनी बाढ़ आ जाती है कि आंख खोलनी मुश्किल हो जाती है। उस पीड़ा के क्षण में यह सूत्र कहा गया है। उस पीड़ा के क्षण में यह प्रार्थना है कि हे प्रभु, हटा ले इस प्रकाश को, ताकि मैं तेरे सत्य मुख को

देख सकूं । स्वाभाविक लगता है कि कोई कहे, अंधकार से ले चल हमें दूर, अन्धकार से बाहर ले चल । लेकिन प्रकाश को हटा ले ! और दूसरी बात है कि प्रकाश के लिए जो शब्द प्रयोग किया है—स्वर्ण जैसा है, बहुत प्रीतिकर भी है । वह प्रकाश ऐसा भी नहीं है कि हटाने का मन होता हो । वही कठिनाई है । इतना प्रीतिकर है कि यह भी मन नहीं होता कि प्रकाश हट जाय । लेकिन जब तक वह प्रकाश न हटे तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता । इसलिए दूसरी बात भी समझ लें ।

अशुभ को छोड़ना बहुत आसान है, जब शुभ को छोड़ने की घड़ी आती है तब असली कठिन घड़ी आती है । लोहे की जंजीरों को छोड़ने में कौन सी अड़चन है ? लेकिन जब स्वर्ण की जंजीरें छोड़नी पड़ती हैं तब कठिनाई होती है । क्योंकि स्वर्ण की जंजीरों को जंजीरें मानना ही मुश्किल होता है । वे आभूषण मालूम होती हैं । असाधुता को छोड़ना बहुत आसान है, लेकिन अन्तिम घड़ी में जब साधुता भी बन्धन हो जाती है और उसे भी छोड़ देना पड़ता है तब असली कठिनाई आती है । उस आखिरी घड़ी में शुभ भी छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उसकी पकड़ भी परतन्त्रता है । और सत्य के समक्ष उतनी परतन्त्रता भी बाधा है । वहाँ चाहिए परम स्वातन्त्र्य । इसलिए यह भी मजे की बात है कि ऋषि अंधेरे से खुद लड़ लिया है, लेकिन प्रकाश के लिए कहता है परमात्मा से कि तू दूर कर दे । अन्धेरे से खुद लड़ लेंगे, अड़चन नहीं है बहुत । लेकिन जब प्रकाश से लड़ने की घड़ी आयेगी तब बहुत अड़चन मालूम होती है—प्रकाश से और लड़ना ! और प्रकाश को अलग करने की बात ही पीड़ा देती है । प्रकाश इतना सुखद है, इतना स्वर्गीय है, इतना शान्तिदायी है, इतना उत्फुल्ल करता है, इतना प्राणों को भर जाता है अमृत से कि उसे हटाने की बात ही पीड़ा देती है। इसलिए ऋषि कहता है, हे प्रभु, तू हटा ले । यह मैं हटा पाऊँ—इसकी सामर्थ्य नहीं मालूम पड़ती । मेरा तो मन करेगा इसीमें डूब जाऊँ । ध्यान रहे, प्रकाश का जब ध्यान में गहरा अनुभव हो तो प्रकाश से भी बचना पड़ेगा । उससे भी आगे है यात्रा । उसके भी पार जाना है । उसके भी ऊपर उठना है । अन्धेरे के ऊपर तो उठना ही है, प्रकाश से भी ऊपर उठना है । जब अन्धकार और प्रकाश दोनों के ऊपर चेतना चली जाती है तभी द्वैत के ऊपर अद्वैत का प्रारम्भ होता है । तभी उस एक का दर्शन होता है जो न प्रकाश है और न अन्धकार है । जो न रात है, न दिन है । न जीवन है, न मृत्यु । जो सदा है और सब द्वैत के पार है । उस अद्वैत की प्रतिष्ठा के पहले अन्तिम संघर्ष प्रकाश के साथ होगा । ऐसा भी समझ लें कि दुख को छोड़ना सदा आसान है, दुख से हम लड़ते हैं, लेकिन अगर सुख आ जाय, तो सुख से लड़ना बहुत मुश्किल है । करीब-करीब असम्भव मालूम पड़ता है । सुख से कैसे लड़ पायेंगे ?

लेकिन अगर सुख ने भी पकड़ लिया तो भी मोक्ष सम्भव नहीं है। सुबह मैंने कहा, सुख स्वर्ग ही बनायेगा, वह भी नये बन्धन निर्माण कर जायेगा—सुखद, प्रीतिकर, बड़े मनोरम, मन को भायें ऐसे, लेकिन फिर भी उसमें मुक्ति नहीं है। इस प्रकाश के पर्दे को हटा लेने के लिए, इस ज्योति से ढंके हुए उसके मुख को दर्शन करने की जो आकांक्षा ऋषि ने की है, वह मनुष्य के मन की आखिरी दीनता की खबर है।

मनुष्य का मन प्रकाश से नहीं मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का मन सुख से नही मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का मन स्वर्ग से नही मुक्त होना चाहता है। लेकिन उससे भी मुक्त तो होना ही है। इसलिए द्वार पर खड़ा है ऋषि। एक तरफ उसकी मनुष्यता है, जो कहती है, प्रकाश आह्लादकारी है, नाचो, एक हो जाओ उससे, डूब जाओ उसमें और लीन हो जाओ। लेकिन एक ओर उसके भीतर वह सत्य की जो अभीप्सा है वह कहती है, इसके भी पार, इसके भी पार। ऐसी कठिनाई के क्षण में, ऐसे चुनाव के क्षण में, ऐसे डिसीसिव मूवमेंट में कहा गया सूत्र है कि हे प्रभु, हटा ले अपने इस ज्योति के पर्दे को! इस सुख, इस स्वर्गीय रूप को हटा ले, ताकि मैं उसे देख लूं, जो निपट नग्न सत्य है, जो तू है!

दुख में जो जीते हैं उन्हें पता ही नही कि सुख का भी अपना दुख है। शत्रुओं में जो जीते हैं उन्हें पता ही नहीं कि मित्रों की भी अपनी शत्रुता है। नर्क में जो जीते हैं उन्हें पता ही नहीं कि स्वर्ग की भी अपनी पीड़ा है। अन्धकार में जो जीते हैं उन्हें अनुमान ही कैसे हो कि एक दिन प्रकाश भी कारागृह बन जाता है। जहाँ तक द्वैत है वहाँ तक बन्धन है। जहाँ तक द्वैत है वहाँ तक बन्धन है। पर क्या बचेगा जब प्रकाश भी हट जायगा, अन्धकार भी हट जायगा तो सत्य का मुख होगा कैसा? बचेगा क्या? अभी तो अधिकतम जो हम सोच सकते हैं, विचारणा जहाँ तक जाती है, जहाँ तक विचार के पंख उड़ान ले सकते हैं, जहाँ तक मन की सीमा है, वहाँ तक अधिकतम जो हम सोच सकते हैं वह यह कि सत्य का चेहरा अगर होगा तो प्रकाश जैसा होगा, आलोक जैसा होगा। क्यों ऐसा लगता है? एक-दो बात ख्याल में ले लें। हमने अभी तक प्रकाश देखा नहीं है। आप कहेंगे, प्रकाश देखा नही है! प्रकाश ही तो देख रहे हैं। सुबह सूरज निकलता है और हम प्रकाश देखते हैं। रात चाँद आता है और चाँदनी छा जाती है और हम प्रकाश देखते हैं। नहीं, फिर भी मैं आपसे कहता हूँ, प्रकाश अभी आपने देखा नहीं है। आपने केवल प्रकाशित चीजें देखी हैं। जब सूरज निकलता है तब आप प्रकाश नहीं देखते हैं। सिर्फ प्रकाशित चीजें देखते हैं—पहाड़, नदी, झरने, वृक्ष, लोग। अभी यहाँ बिजली के बल्ब जल रहे हैं। आप कहेंगे हम प्रकाश देखते हैं। लेकिन नहीं, आप

प्रकाश नहीं देखते। बिजली का बल्ब दिखायी पड़ता है प्रकाशित। लोग जो प्रकाशित हैं, वह दिखायी पड़ते हैं। आब्जेक्ट्स दिखायी पड़ते हैं, प्रकाश नहीं।

प्रकाश का अनुभव बाहर के जगत् में होता ही नहीं। बाहर के जगत् में केवल प्रकाशित चीजें दिखायी पड़ती हैं और जब प्रकाशित चीजें नहीं दिखायी पड़ती हैं तो हम कहते हैं, अन्धकार है। इस कमरे में कब अन्धकार हो जाता है? जब इस कमरे में कोई चीज दिखायी नहीं पड़ती है तो हम कहते हैं अन्धकार है। और जब चीजें दिखायी पड़ती हैं तो हम कहते हैं प्रकाश है। प्रकाशित चीजों को देखा है हमने। सीधे प्रकाश को नहीं देखा है। अगर कोई भी चीज इस कमरे में न हो तो आपको प्रकाश दिखायी नहीं पड़ेगा। चीज से टकराता है प्रकाश, चीज का आकार दिखायी पड़ता है तो आपको लगता है प्रकाश है। चीज अगर बिलकुल स्पष्ट दिखायी पड़ती है तो आप कहते हैं, ज्यादा प्रकाश है। अस्पष्ट दिखायी पड़ती है तो कहते हैं, कम प्रकाश है। नहीं दिखायी पड़ती है तो कहते हैं, अन्धकार है। बिलकुल अन्दाज नहीं आता तो कहते हैं, महा अन्धकार है। लेकिन न तो आपने प्रकाश देखा है, न आपने अन्धकार देखा है। अनुमान है हमारा कि जब चीजें दिखायी पड़ रही हैं तो प्रकाश होगा। असल में प्रकाश इतनी सूक्ष्म ऊर्जा है कि बाहर उसके दर्शन नहीं हो सकते। प्रकाश के दर्शन तो भीतर ही होते हैं, क्योंकि भीतर कोई चीज नहीं होती, जिसको प्रकाशित किया जा सके। भीतर कोई आब्जेक्ट्स नहीं हैं जो प्रकाशित हो जायें और उनको आप देख लें। भीतर जब प्रकाश का अनुभव होता है तो शुद्ध प्रकाश का, सीधे प्रकाश का, इमीजिएट, बिना किसी चीज के माध्यम के ही अनुभव होता है। बाहर हम दो बातें देखते हैं—प्रकाशित चीजें देखते हैं और प्रकाश का स्रोत देखते हैं। बीच में जो प्रकाश है वह हम कभी नहीं देखते। सूरज दिखायी पड़ता है, यह बिजली का बल्ब दिखायी पड़ता है। इधर नीचे चमकती हुई चीजें प्रकाशित दिखायी पड़ती हैं। लेकिन दोनों के बीच में जो प्रकाश है वह दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन भीतर जब प्रकाश दिखायी पड़ता है तो न तो वहाँ चीजें होती हैं और न वहाँ कोई सोर्स होता है—दी सोर्सलेस लाइट, स्रोतहीन प्रकाश। वहाँ कोई सूरज नहीं होता जिसमें से प्रकाश आ रहा है। वहाँ कोई दिया नहीं जलता जिसमें से प्रकाश आ रहा है। वहाँ सिर्फ प्रकाश होता है—सोर्सलेस, उद्गमरहित। उस वस्तुशून्य जगत् में प्रकाश जब पहली दफा दिखायी पड़ता है तब कबीर, मुहम्मद, और सूफी फकीर या बाउल फकीर या झेन फकीर नाचने लगते हैं और कहते हैं; तुम जिसे प्रकाश कहते हो, वह अन्धेरा है।

अरविन्द ने लिखा है कि जब तक भीतर नहीं देखा था तब तक जिसे बाहर

प्रकाश समझा था, भीतर देखने के बाद पता चला, वह अन्धकार है। जब तक भीतर नहीं देखा था तब बाहर जिसे जीवन समझा था, जब भीतर देखा तो पता चला वह मृत्यु है। भीतर जब प्रकाश—धूमरहित, वस्तुशून्य, निराकार, अनन्त आकाश में प्रगट होता है तो उसकी आभा को झेलना बड़ा कठिन है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मन होता है कि आ गयी मंजिल—पहुँच गये। साधक के लिए इन्द्रियाँ बड़ी भारी बाधाएँ नहीं हैं। उनसे पार हो जाता है। विचार बड़ी बाधाएँ नहीं हैं, उनसे पार हो जाता है। लेकिन जब भीतर प्रीतिकर अनुभव के फूल खिलने शुरू होते हैं और जब भीतर सिद्धि के आनन्द प्रकट होने शुरू होते हैं तब पैर उठते ही नहीं। छोड़ने का मन नहीं होता। पार जाने की हिम्मत, पार जाने का साहस नहीं होता। लगता है, आ गयी मंजिल। उस क्षण में ऋषि ने कहा है, हे प्रभु! हटा ले इस प्रकाश को भी। मैं तो वही जानना चाहता हूँ जो प्रकाश से भी पार है। अन्धकार के पार मैं आ गया, प्रकाश के पार तू मुझे ले चल। ध्यान रहे, अन्धकार के पार तक जाने में संकल्प काम कर देता है, लेकिन प्रकाश के पार जाने में समर्पण ही काम करता है। अन्धकार के पार जाने में संघर्ष काम कर देता है। हम भी जूझ सकते हैं। आदमी भी काफी सबल है अन्धकार से लड़ने में। लेकिन जब प्रकाश से लड़ने की बात उठती है तो आदमी एकदम निर्बल है। नहीं है, ना के बराबर है। वहाँ कोई संकल्प काम नहीं करता, सिवाय समर्पण के।

यह सूत्र समर्पण का है। हार गया ऋषि। यहाँ तक तो आ गया है, जहाँ कि परम प्रकाश प्रकट होता है। यहाँ तक उसने प्रार्थना नहीं की। यहाँ तक उसने प्रभु से नहीं कहा कि तू ऐसा कर दे। यहाँ तक वह अपने भरोसे चला आया। यहाँ तक आदमी आ सकता है। संकल्प से जो चलते हैं वह इससे आगे कभी न आ सकेंगे। समर्पण की जिनकी तैयारी है, सरेन्डर की जिनकी तैयारी है—टोटल सरेन्डर की, वे ही इसके आगे आ सकेंगे। इसे इस तरह से कहूँ तो शायद जल्दी समझ में आ जाये। प्रकाश के परम अनुभव तक ध्यान ले जाता है, लेकिन प्रकाश के पार प्रार्थना ले जाती है। उसके बाद ध्यान काम नहीं कर पाता। इसलिए जिन्होंने ध्यान नहीं किया और प्रार्थना कर रहे हैं, वह नासमझ हैं। वहाँ प्रार्थना की कोई भी जरूरत नहीं है। और जिन्होंने ध्यान कर लिया और ऐसा सोचा कि अब प्रार्थना की क्या जरूरत है, वे भी नासमझ हैं। क्योंकि ध्यान प्रकाश तक ले जायगा, द्वार पर खड़ा कर देगा, लेकिन अन्त में तो प्रार्थना की पुकार ही सहारा बनेगी। अन्ततः तो कहना ही पड़ेगा कि तेरे हाथ में हूँ, तू ले चल। यहाँ तक मैं आ गया। इसके आगे तू ले चल। और ध्यान रखें, जो ध्यान की सीमा तक चला जाता है उसने पात्रता अर्जित कर ली। उसने पात्रता अर्जित कर ली कि अब अगर

वह कह भी दे कि मैं नहीं आ सकता तो ईश्वर उसे ले आवे २ वह इस बोध हुआ जहाँ से प्रभु की अनुकम्पा शुरू हो। वह आ गया उस जगह तक जहाँ तक आदमी आ सकता था। इससे ज्यादा परमात्मा भी आदमी से अपेक्षा नहीं कर सकता है। आखिरी घड़ी आ गयी, आदमी की क्षमता का छोर आ गया। अब अगर परमात्मा भी इससे ज्यादा आदमी से माँग करे तो ज्यादती है। इससे ज्यादा का कोई सवाल भी नहीं है। प्रार्थना, और बस प्रार्थना—कि तेरे हाथों में छोड़ते हैं, तू हटा ले इस पर्दे को।

प्रार्थना ध्यान का अन्तिम समापन है। समर्पण संकल्प की अन्तिम निष्पत्ति है। जहाँ तक कर सकें, स्वयं करना है। लेकिन जिस घड़ी ऐसा लगे कि अब न हो सकेगा, उस क्षण प्रार्थना को स्मरण कर लेना। उस क्षण प्रभु को पुकार लेना। उस क्षण कहना कि मैं जहाँ तक आ सकता था अपने कमजोर कदमों से, आ गया हूँ। अब बस, अब मेरे बश के बाहर है, अब तू सँभाल।

इसीलिए ऋषि ने इस प्रार्थना को दोहराया है उस घड़ी में कि हे प्रभु, प्रकाश को तू हटा ले, अपने सत्य मुख को उघाड़ दे। कैसा होगा सत्य? अब प्रकाश भी हट जायगा तो सत्य कैसा होगा? इसे थोड़ा-सा ख्याल में ले लेना जरूरी है। कठिन है बहुत, गहन है बहुत, लेकिन फिर भी थोड़ा-सा ख्याल में ले लेना जरूरी है, वह कभी काम पड़ सकता है।

कहा मैंने कि बाहर प्रकाशित वस्तुएँ हैं और प्रकाश का उद्गम स्रोत है। प्रकाश का कोई अनुभव नहीं होता बाहर। भीतर—भीतर प्रकाश का अनुभव होता है, न उद्गम स्रोत रह जाता है, न वस्तुएँ रह जाती हैं। फिर अन्ततः प्रकाश भी खो जाता है। हमारे मन में ख्याल आयगा कि जब प्रकाश खो जायगा तो अन्धेरा हो जायगा। हमारा अनुभव यही है। हम कहेंगे कि ऋषि भी कैसी नासमझी की प्रार्थना कर रहा है। अगर प्रकाश का पर्दा हट गया तो फिर अन्धेरा हो जायगा, फिर प्रभु के चेहरे को वह देखेगा कैसे? स्मरण रखें, अन्धकार के तो पार आ गयी है बात। अब प्रकाश से हटने से अन्धकार नहीं होगा। अन्धकार तो छूट चुका बहुत पीछे। प्रकाश का पर्दा आ गया है। अब प्रकाश भी हट जायगा तो फिर बचेगा क्या? संध्या को जब सूरज डूब जाता है और अभी रात नहीं आयी होती। जब प्रकाश का स्रोत खो जाता है और अन्धेरे का अवतरण नहीं हुआ होता—वह जो बीच का पल है सन्ध्या का वह वैसा ही पल है। इसीलिए प्रार्थना और संध्या का जोड़ बन गया। इसलिए धीरे-धीरे प्रार्थना को लोग संध्या कहने लगे कि संध्या कर रहे हैं। और लोगों ने समझा संध्या कर लेनी है जब सूरज डूबता है। जब संध्या हो जाती है या जब सूरज नहीं उगा होता है तब संध्या होती है। संध्या की

घड़ियाँ हो गयीं । मिड प्वाइंट, दिन जा चुका, रात अभी नहीं आयी । या रात जा चुकी, दिन आने को है । वह जो बीच की छोटी-सी घड़ी है, गैप है, उसको हम संध्या कहते हैं । उसको हमने पूजा और प्रार्थना का क्षण बना लिया । लेकिन असली बात दूसरी है । यह संध्या तो प्रतीक है । असली बात यह है कि जब अन्धकार भी खो चुका होता है और जब प्रकाश भी खो चुका होता है तब संध्या का क्षण आता है अन्तर का । तब वहाँ संध्या आती है । अन्धेरा भी नहीं होता, प्रकाश भी नहीं होता,—होता है आलोक । भाषा-कोश में जायेंगे तो आलोक का अर्थ प्रकाश ही लिखा हुआ पायेंगे । वह गलत है । आलोक का अर्थ होता है, न प्रकाश, न अन्धकार, ऐसा क्षण । भोर में अभी सूरज नही निकला, रात जा चुकी है । भोर के क्षण मे वह आलोक का क्षण है ।

यह सब उदाहरण के लिए कह रहा हूँ, ताकि आपके ख्याल में आ जाय । क्योंकि भीतर की उस घटना के लिए और कोई ख्याल दिलाने का उपाय नही है । जहाँ न अन्धकार है, जहाँ न प्रकाश है, वहाँ आलोक रह जाता है । और जैसा मैंने कहा, बाहर से भीतर जाते वक्त वस्तुएँ खो जाती हैं, प्रकाश का उद्गम खो जाता है, प्रकाश रह जाता है । वैसे ही जब प्रकाश और अन्धकार दोनों खो जाते हैं और सिर्फ आलोक रह जाता है तो जानने वाला और जानी जाने वाली चीज दोनों खो जाते हैं । द्रष्टा और दृश्य दोनो खो जाते है । फिर ऐसा नही होता है कि ऋषि खड़ा है और सत्य को देख रहा है । नहीं, फिर ऋषि ही सत्य हो जाता है । फिर सत्य ही ऋषि हो जाता है । फिर कोई जानने वाला और जानी गयी चीज, कोई ज्ञाता और कोई ज्ञेय, कोई नोअर और कोई नोन, ऐसे दो नहीं रह जाते, वह दोनों खो जाते हैं । आलोक में अन्धकार और प्रकाश भी खो जाते हैं और जानने वाला और जानी गयी चीज भी खो जाती हैं । तब अनुभोक्ता भी नही रह जाता और अनुभव भी नहीं रह जाता—मात्र अनुभूति रह जाती है । एक्सपीरिएंसिग, एक्सपीरिएंस नही, अनुभव नही । क्योंकि अनुभव जहाँ होता है वहाँ अनुभोक्ता, अनुभव करने वाला भी मौजूद होता है । और जिस चीज की अनुभूति होती है वह भी मौजूद होता है । नही, न तो अनुभव करने वाला रह जाता है, न अनुभव जिसका हो रहा है, वह रह जाता है । अनुभूति ही रह जाती है । एक्सपीरिएंसिग ही रह जाती है । ऋषि भी खो जाता है, परमात्मा भी खो जाता है । भेद गिर जाते हैं । प्रेमी खो जाता है, प्रेम-पात्र खो जाता है । भक्त खो जाता है, भगवान् खो जाता है । यह परम मुक्ति का क्षण है । यहाँ ऐसा नही है कि हम कुछ जान लेते हैं, बल्कि ऐसा है कि हम पाते हैं, हम नहीं हैं । और हम यह भी पाते हैं कि कुछ जानने को भी नही है । ज्ञान ही रह जाता है । इसलिए महावीर ने जिस शब्द का प्रयोग

किया है वह बहुत अद्भुत है। महावीर ने कहा है, केवल-ज्ञान, ओनली नोइंग—द नोअर इज नाट, द नोन इज नाट, बट ओनली नोइंग। ज्ञाता भी खो गया, ज्ञेय भी खो गया, सिर्फ बचा ज्ञान। दोनों छोर गये। जैसा सूरज खो गया मूल स्रोत, वस्तुएँ खो गयीं जिन पर प्रकाश पड़ता था। ऐसे ही जानने वाला खो गया मूल स्रोत। जो जाना जाता है ज्ञेय, वह खो गया, वस्तु खो गयी, केवल जानना बचता है। केवल ज्ञान बचता है। मात्र जानना बचता है।

इस जानने की दिशा में मैंने कहा—पहला कदम संकल्प का है, दूसरा कदम समर्पण का है। पहला कदम ध्यान का है, दूसरा कदम प्रार्थना का है। और दोनों कदम जो उठा लेता है उसे फिर जानने को, पाने को, अनुभव करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

हे जगत्पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करने वाले ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्रजापति-नन्दन ! तू अपनी किरणों को हटा ले । तेरा जो अतिशय कल्याणतम रूप है उसे मैं देखता हूँ । यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ ॥१६॥

एक सूर्य है जिससे हम परिचित है। लेकिन जिसे हम सूर्य कहते है वैसे अनन्त सूर्य हैं। रात आकाश जब तारों से भर जाता है तो शायद ही हमें ख्याल आता हो कि जिन्हें हम तारे कहते हैं वे सभी सूर्य है। बहुत दूर हैं, इसलिए छोटे दिखायी पड़ते हैं। हमारा सूर्य कोई बहुत बड़ा सूर्य नही है। हमारा सूर्य सूर्यों के अनन्त विस्तार में बहुत ही मध्यमवर्गीय है। उससे बहुत बड़े सूर्य ब्रह्माण्ड में है। वैज्ञानिक अब तक जितनी गणना कर पाते हैं उससे अन्दाज लगता है कि कोई चार करोड़ सूर्य हैं।

सन्तों की अनुभूति तो अनन्त सूर्यों की है। लेकिन इस सूत्र में जिस सूर्य की बात कही गयी है, वह उस परम सूर्य की बात है, जिससे इन सब सूर्यों को भी प्रकाश मिलता है। वह उस परम सूर्य की बात है, जो कि प्रकाश का आदि उद्‌गम है। जहाँ से कि समस्त किरणों का जाल फैलता है। जहाँ से कि समस्त जीवन आविर्भूत होता है। यह ख्याल में ले ले कि सूर्य की किरणों से जीवन बहुत अनिवार्य रूप से बँधा है। अभी तो वैज्ञानिक बहुत चिन्तित होते हैं, क्योंकि डर लगता है कि तीन-चार हजार वर्ष में हमारा सूर्य ठण्डा हो जायगा। उसने काफी विकीरण कर दिया, उसका काफी रेडिएशन खो चुका है। वह अब एक बुझता हुआ तारा है, जिसमें से रोज किरणें क्षीण होती जायेंगी। ज्यादा-से-ज्यादा चार हजार वर्ष वह और प्रकाश देगा। फिर एक दिन सब ठण्डा हो जायगा। वहाँ सूर्य ठण्डा हुआ, यहाँ सब जीवन शान्त हो जायगा। क्योंकि समस्त जीवन सूर्य की किरणो पर ही यात्रा कर रहा है। चाहे फूल खिलता हो और चाहे पक्षी गीत गाता हो, चाहे मनुष्य के प्राण थिरकते हों, सारा जीवन सूर्य की किरणों से बँधा है। वहाँ

जिस सूर्य की बात की जा रही है वह उस महासूर्य की बात की जा रही है जिससे सब सूर्यों का जीवन भी बँधा है। यह महासूर्य बाहर की यात्रा और खोज से कभी भी मिलने वाला नहीं है।

जैसा मैंने सुबह कहा कि एक प्रगट ब्रह्म है, यह सूर्य प्रगट ब्रह्म है। जिस महासूर्य की बात की जा रही है, वह अप्रगट ब्रह्म है। वह बीज ब्रह्म है। वह अप्रगट है, लेकिन उस अप्रगट स्रोत से ही यह सारा प्रगट जीवन का विस्तार है। यह सारा सगुण, यह साकार, यह सब उससे ही फैलता और निर्मित होता है। यहाँ ऋषि ने कहा है कि हे सूर्य, अपनी किरणों के जाल को तू सिकोड़ ले। इन किरणों के जाल के सिकोड़ने में बहुत-सी बातें कही गयी हैं। क्योंकि किरणों के साथ जीवन का विस्तार है। यहाँ ऋषि कहता है, मृत्यु को हम पार कर आये। हे सूर्य, तू अपने जीवन के विस्तार को भी सिकोड़ ले। जैसा मैंने कहा, अन्धकार हम पार कर आये, अब तू प्रकाश भी सिकोड़ ले। इस सूत्र में ऋषि कहता है, जीवन के विस्तार को भी तू सिकोड़ ले। मृत्यु के मैं पार हुआ, अब जीवन के भी पार हो जाऊँ। असल में सब द्वैत के पार होने की अभीप्सा है। क्योंकि जहाँ तक द्वैत है वहाँ तक हम कुछ भी पा लें, दूसरा सदा मौजूद है। हम कितना ही जीवन पा लें, मौत सदा मौजूद रहेगी। वह द्वैत है, वह उसी सिक्के का दूसरा पहलू है। हम ऐसा नहीं कर सकते कि एक रुपये के सिक्के के एक पहलू को बचा लें और दूसरे को फेंक दें। बस, हम इतना ही कर सकते हैं कि एक पहलू को दबा दें और दूसरे को ऊपर कर लें। लेकिन नीचे दबा हुआ पहलू प्रतीक्षा कर रहा है। मौजूद है। हाथ में ही मौजूद है, कहीं गया नहीं है। ऐसा आप न कर सकेंगे कि एक पहलू फेंक दें और कहें कि दूसरे को हम बचा लें। हालाँकि जिन्दगीभर आदमी इसी नासमझी में पड़ा रहता है। एक पहलू को फेंकता है और एक को बचाता है। कहता है, दुख से छुड़ा लो भगवन्, सुख मुझे दे दो। वह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुख को बचाता है, दुख उसके पीछे बच जाता है। कहता है, सम्मान मुझे दे दो, अपमान मुझसे ले लो। सम्मान को बचाता है, अपमान उसके साथ चला आता है। कहता है, मृत्यु मुझे नहीं चाहिए, मुझे जीवन चाहिए। लेकिन जीवन को माँगा कि मृत्यु पीछे खड़ी हो जाती है।

इस जगत् में जिसने एक माँगा उसे दूसरा बिना माँगे मिल जाता है। या तो दोनों को राजी हो जाओ या दोनों को छोड़ने को राजी हो जाओ। जो दोनों को राजी हो जाता है वह भी दोनों से मुक्त हो जाता है और जो दोनों को छोड़ने को राजी हो जाता है, वह भी दोनों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि दोनों से राजी होने का अर्थ यह होता है कि जो मृत्यु और जीवन दोनों से राजी है, उसे मृत्यु में

कोई वैराग्य न रहा, जीवन में कोई राग न रहा, ऐसे वह मुक्त हो गया। जो सुख-दुख दोनों से राजी है, उसे सुख में क्या सुख रहा और दुख में क्या दुख रहा। दोनों से राजी होते ही दोनों एक-दूसरे को काट देते हैं, निगेट कर देते हैं। दोनों से राजी होते ही दोनों कट कर शून्य हो जाते हैं। या जो दोनों को छोड़ने को राजी है, जो कहता है, दुख भी छोड़ देता हूँ, सुख भी छोड़ देता हूँ, वह भी पार हो जाता है। लेकिन मन कहता है, दुख को छोड़ दो, सुख को बचा लो। इस मन को तोड़ना हो तो दो ही उपाय हैं, या तो दोनों से राजी हो जाओ या दोनों से नाराज हो जाओ। दोनों की जो पोलैरिटी है, दोनों की जो ध्रुवता है, दोनों का जो विरोध है, वह एक साथ हैं, वह एक ही अस्तित्व के हिस्से हैं। इसलिए ऋषि कहता है, सिकोड़ ले अपनी सूर्य की किरणों को, सिकुड़ जाय उनके साथ ही सब जीवन। और इस महासूर्य से ही सब कुछ निकलता है। इसलिए ऋषि की आकांक्षा अगर हम ठीक से समझें तो ऋषि की आकांक्षा यह है कि मैं उसे देखना चाहता हूँ जहाँ से सब निकलता है, या जहाँ सब सिकुड़ जाता है। मैं मूल देखना चाहता हूँ। मैं वह देखना चाहता हूँ, जहाँ से सारी सृष्टि प्रगट होती है और जहाँ सारी प्रलय लीन होती है। मैं उस जगह को देखना चाहता हूँ, जहाँ से सब आता और सब विलीन हो जाता है। जहाँ से जीवन का यह विराट् फैलाव होता है और जहाँ फिर सब महामृत्यु सिकोड़ लेगी। इसलिए सूर्य को यम भी कहा है। वह भी ध्यान देने की बात है।

यम तो मृत्यु का देवता है और सूर्य है जीवन का! लेकिन ध्यान रहे, जहाँ से जीवन आता है, वहीं से मृत्यु आती है। मृत्यु कहीं और से नहीं आ सकती। जहाँ से जीवन आता है, वहीं से मृत्यु आती है। क्योंकि दोनों अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं होता है कि मृत्यु कहीं और से आये और जीवन कहीं और से आये। अगर ऐसा होता तो हम जीवन को बचा लेते और मृत्यु को छोड़ देते। सूर्य को इसीलिए यम भी कहा है। यम शब्द और भी अर्थों में उपयोगी है। जिन्होंने मृत्यु को यम कहा, बड़े अद्भुत लोग हैं। यम का अर्थ होता है, नियमन करने वाला—दि कण्ट्रोलर। बड़े मजेदार लोग हैं। मृत्यु को जीवन का नियमन करने वाला कहा है। अगर मृत्यु जीवन का नियमन न करे तो बड़ी अव्यवस्था हो जाय, बड़ी अराजकता हो जाय। मृत्यु आकर सब उपद्रव को शान्त करती चली जाती है। मृत्यु विश्राम है। जैसे दिनभर के श्रम के बाद रात आ जाती है और रात की गोद में आदमी सो जाता है, विश्राम में। कभी आपने ख्याल किया, अगर दस-पाँच दिन नींद न आये तो बड़ा अनियमन हो जायगा। चित्त बड़ा भ्रान्त हो जायगा। उद्विग्न हो जायगा। अराजक हो जायगा। दस दिन

नींद न आये तो आप विक्षिप्त हो जायेंगे। रात नींद आकर आपकी विक्षिप्तता को बचा जाती है। रात आकर वह व्यवस्था दे जाती है, ताकि सुबह आप फिर ताजे होकर जाग सकें। **गहरे अर्थों में, विस्तीर्ण अर्थों में, पूरे जीवन के उपद्रव के बाद, पूरे जीवन की दौड़-धूप के बाद मृत्यु रात का विश्राम है।** वह फिर नियमन दे देती है। वह फिर जीवन के सब शूल, जीवन की सब चिन्ताएँ, जीवन के सब उपद्रव, जीवन के सब भार छीन लेती है। फिर नयी सुबह, फिर नया जीवन! इसलिए मृत्यु के देवता को कहा है यम। वह जीवन को नियमित करता रहता है, इसलिए। वह न हो तो जीवन विक्षिप्त हो जाय। मृत्यु जीवन की शत्रु नहीं है। यम का अर्थ हुआ, मृत्यु जीवन की मित्र है। जीवन पागल हो जाय, अगर मृत्यु न हो। जीवन विक्षिप्त हो जाय, अगर मृत्यु न हो तो।

इसे अगर और आयामो में भी फैला कर देखेंगे तो बहुत हैरान हो जायेंगे। क्योंकि इसमें बड़े अर्थों के फूल खिल सकते हैं। अगर सुख मिल जाय इतना कि दुख कभी न मिले तो भी आदमी पागल हो जायगा। यह बात अजीब लगेगी। यह बात समझ में नही पड़ेगी। लेकिन सुख अगर मिल जाय अमिश्रित, जिसमे दुख बिलकुल न हो तो सुख विक्षिप्त कर जायगा। इसलिए बड़े मजे की बात है कि दीन, दरिद्र, दुखी समाजों में लोग कम पागल होते है। सुखी, समृद्ध समाजो मे लोग ज्यादा पागल होते हैं। आज जमीन पर अमरीका सबसे बड़ा पागल-खाना है। दीन, दरिद्र-से-दरिद्र मुल्क भी इतने पागल पैदा नहीं करता, जितना अमरीका पैदा करता है। क्या बात हो गयी है? दुख का भी अपना नियमन है। असल में गुलाब में जब फूल लगते हैं, तो हमें लगता होगा, काँटे बड़े दुश्मन हैं। लेकिन सब काँटे फूलों की सुरक्षा हैं, नियमन हैं। **जीवन विरोध के द्वारा नियमन करता है।** पोलेरिटी के द्वारा, विपरीत के द्वारा जीवन संतुलन करता है। कभी आपने नट को देखा है रस्सी पर चलते वक्त? देखेंगें तो एक बहुत मेटाफिजिकल सत्य, एक बहुत पारलौकिक सत्य नट के रस्सी पर चलते वक्त दिखायी पड़ सकता है। **लेकिन हम तो देखते हुए भी कुछ देखते नहीं।** नट जब रस्सी पर चलता है, तो आपने ख्याल किया कि पूरे वक्त हाथ में डण्डा लिये दोनों तरफ झूलता रहता है। जब वह बायें झूलता है, तब इसलिए कि कहीं दायें न गिर जाय। जब दायें गिरने को होता है, तब बायें झुकता है। और जब बायें गिरने को होता है तब दायें झुकता है। बायें गिरने का डर दायें झुक कर सन्तुलित कर लेता है। दायें गिरने का डर बाये झुककर सन्तुलित कर लेता है। **विपरीत झुकना पड़ता है संतुलन के लिए। जीवन का संतुलन होती है मृत्यु। सुख का संतुलन होता है दुख। प्रकाश का संतुलन होता है अन्धकार। चैतन्य**

का संतुलन होता है पदार्थ। इसलिए अद्‌भुत लोग होंगे, जिन्होंने मृत्यु को यम कहा। निश्चित ही मृत्यु के साथ उनकी कोई शत्रुता न रही। उन्होंने मृत्यु के सत्य को पहचान लिया। उन्होंने कहा, हम जानते हैं कि तू जीवन का नियमन करने वाली है, तू न हो तो बहुत मुश्किल हो जाय।

थोड़ा सोचें। दो-चार सौ साल किसी घर में ऐसा हो जाय कि कोई न मरे तो उस घर में से किसीको पागलखाने न भेजना पड़ेगा, पागलखाने को उसी घर में ले आना पड़ेगा। इधर बूढ़े विदा होते हैं, उधर बच्चे आते हैं। और नट की तरह एक सन्तुलन चलता रहता है। पूरे समय एक सन्तुलन हो रहा है। तो कहता है ऋषि, हे महासूर्य ! हे यम ! जीवन को देने वाले, मृत्यु से जीवन को सन्तुलित करने वाले ! तू अपनी सब किरणें सिकोड़ ले। तू अपने जीवन को भी सिकोड़ ले। तू अपनी मृत्यु को भी सिकोड़ ले। मैं तो उस तत्त्व को जानना चाहता हूँ, जो जीवन और मृत्यु दोनों के पार है। जो न कभी जन्मता और न कभी मरता है। मैं तो उस मूल उद्‌गम को जानना चाहता हूँ या उस मूल विलय, अन्तिम विलय को। या तो उस प्रथम क्षण को जानना चाहता हूँ, जब कुछ भी नही था और उस कुछ भी नहीं से सब पैदा हुआ। और या उस अन्तिम, अल्टीमेट क्षण को जानना चाहता हूँ, जब सब कुछ फिर लीन हो जायगा और कुछ भी शेष नहीं रहेगा। उस शून्य को जानना चाहता हूँ, जिससे जन्मता है सब, या उस शून्य को जानना चाहता हूँ, जिसमें लीन हो जाता है सब। तू सिकोड़ ले अपनी किरणों के सारे जाल को।

निश्चित ही यह किसी बाहर के सूर्य से की गयी प्रार्थना नही है। यह तो भीतर उस जगह पहुँच कर की गयी प्रार्थना है, जहाँ अन्तिम पड़ाव आ जाता है। जहाँ से छलांग लगती है। जहाँ से शून्य में छलांग लगती है। जहाँ से अनादि अनन्त में छलांग लगती है। उस घड़ी की गयी प्रार्थना है—हे आदित्य, सिकोड़ ले अपना सब। बड़े साहस की जरूरत है इस प्रार्थना के लिए। आखिरी साहस की जरूरत है। क्योंकि जहाँ जीवन और मृत्यु सिकुड़ जायेंगी और जहाँ उस महासूर्य की सभी किरणें सिकुड़ जायेंगी, वहाँ मैं बचूँगा ? वहाँ मैं भी नहीं बचूँगा। लेकिन ऋषि की अभीप्सा यह है कि मैं बचूँ, न बचूँ यह सवाल नहीं है, मैं तो वह जानना चाहता हूँ, जो सदा ही बच रहता है। सबके नष्ट हो जाने पर भी जो बच रहता है, उसे ही मैं जानना चाहता हूँ। मैं भी नष्ट हो जाऊँगा, तब जो बच रहेगा, उसे ही मैं जानना चाहता हूँ।

जगत् में, अनेक-अनेक युगों में, अनेक-अनेक लोगों ने सत्य की खोज की है। लेकिन जैसी खोज जमीन के इस टुकड़े पर हुई है, वैसी कहीं भी नहीं हुई है।

जैसी आत्यन्तिक अल्टीमेट खोज और जैसे आखिरी साहस का परिचय जमीन के इस टुकड़े पर कुछ लोगों ने दिया है, वैसा समानान्तर परिचय कहीं भी नहीं दिया जा सका है। बहुत खोज करने पर भी मैं वैसे लोग नहीं खोज पाता हूँ, जो अपने को खोकर सत्य पाने को राजी हों। सारे जगत् में सत्य के खोजी हुए हैं, लेकिन एक शर्त रख कर कि मैं बचा रहूँ और सत्य को जान लूं। लेकिन जब तक 'मैं' बचा रहूँगा, तब तक मैं संसार को ही जानूंगा, क्योंकि मैं संसार का हिस्सा हूँ। और अगर उन खोजियों से कोई कहे, अगर कोई अरस्तू से कहे, अफलातू से कहे या हीगल या कांट से कहे कि तुम अपने को खोओगे, तभी सत्य को जान सकोगे, तो वह कहेंगे कि ऐसे सत्य को जानने की जरूरत क्या है? जब हमीं न बचेंगे तो सत्य को जान कर भी क्या करना है? एक शर्त के साथ उनकी खोज है। एक कण्डीशन के साथ कि हम बचें और सत्य को जान लें। इसलिए जितने खोजियों ने स्वयं को बचा कर सत्य को जानने की कोशिश की है, उन्होंने सत्य को नहीं जाना, सत्य को फेब्रीकेट किया। उन्होंने सत्य को बनाया। इसलिए हीगल बड़ी-से-बड़ी किताबें लिखे या कांट बड़े-से-बड़े, गहरे-से-गहरे सिद्धान्तो की बात करे। जिनकी मैं को खोजने की कोई तैयारी नहीं है, उनके सिद्धान्तों की, उनके बड़े-से-बड़े शास्त्रों की कोई कीमत, कोई मूल्य नही है। अगर कांट और हीगल से पूछें कि उनका इस उपनिषद् के ऋषि के बाबत क्या ख्याल है, तो वह कहेंगे, पागल है! अपने को खो कर, सत्य को पा कर क्या करना है?

लेकिन ऋषि की पकड़ गहरी है। वह कहता है कि मैं हूँ असत्य का ही हिस्सा। मैं हूँ संसार का ही हिस्सा। अगर मैं चाहता हूँ कि बाहर से संसार हट जाय और सत्य आ जाय और मेरे भीतर 'मैं' पूरी तरह मौजूद रहूँ तो मैं एक असम्भव काम कर रहा हूँ। संसार जायगा तो पूरा जायगा—बाहर भी, भीतर भी। यहाँ बाहर पदार्थ खो जायगा, वहाँ भीतर 'मैं' खो जायगा। बाहर आकृतियाँ खो जायेंगी, भीतर भी आकार खो जायगा। बाहर भी शून्य होगा, भीतर भी शून्य होगा। इसलिए अगर सत्य को खोजना है तो स्वयं को खोने की तैयारी अनिवार्य शर्त है।

सब सिकोड़ ले महासूर्य—सब—अनकण्डीशनली, बेशर्त। जो भी तेरा फैलाव है, पूरा तू वापस ले ले। अपने सारे विस्तार को सिकोड़ ले। तू अपने बीज में लौट जा। तू वापस लौट जा वहाँ, जहाँ कुछ भी नहीं था। ताकि मैं उसे जान लूं, जिससे सब आता है। यह अल्टीमेट जम्प है, आत्यन्तिक छलांग है। इस छलांग का साहस जब कोई जुटाता है, तब परम सत्य के साथ एक हो जाता है। बिना स्वयं मिटे परम सत्य के साथ कोई एकता सम्भव नहीं है।

इसलिए पश्चिम का दार्शनिक जब खोजता है सत्य को, तो उसके सत्य मानवीय सत्य से ज्यादा नहीं हो पाते। आदमी की ही खोजबीन होती है, इसलिए एक्जीस्टेंशियल नहीं, अस्तित्वगत नहीं, मात्र मानवीय। पूरब का सन्त जब खोजने निकलता है, तो उसके सत्य मानवीय नहीं, उसके सत्य अस्तित्वगत होते हैं। वह कहता है, सागर को किनारे खड़े होकर क्या जानेंगे, हम तो डूब कर जानेंगे। पर डूबने में भी हम पूरे कहाँ डूबते हैं। सागर अलग रह जाता है, हम अलग रह जाते हैं। तो ऋषि कहते हैं कि अगर ऐसा है, तो हम नमक के पुतले होकर डूब जायेंगे। हम सागर को जानेंगे सागर होकर ही। एक हो जायेंगे सागर के साथ। उसके खारेपन के साथ खारे हो जायेंगे। उसके पानी के साथ पानी हो जायेंगे। उसकी लहरों के साथ लहर बन जायेंगे। उसकी अनन्त गहराई के साथ अनन्त गहराई हो जायेंगे। तभी उसे जान सकेंगे। उसके पहले जानना नहीं हो सकता। उसके पहले एक्वीटेंस हो सकता है, नालेज नहीं—परिचय हो सकता है, ज्ञान नहीं। तट के किनारे खड़े होकर परिचय ही हो सकते हैं। ज्ञान तो डूब कर होता है। इस डूबने की आकांक्षा इस सूत्र में है।

आज के लिए इतना ही। अब हम सागर में डूबने की तैयारी करें।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर अपने किये हुए को स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए को स्मरण कर ॥१७॥

जीवन मिल जाये उसीमें, जहाँ से जन्मा है। आकार खो जाये उस निराकार में, जहाँ से आकार निर्मित हुआ है। ये प्राणवायु के साथ एक हो जायें। शरीर धूल में, मिट्टी में समा जाय। ऐसे क्षण में—और ऐसे क्षण दो हैं, जिनकी मैं आपसे बात करूँगा—ऐसे क्षण में ऋषि ने कहा है, अपने संकल्पात्मक मन से कि **हे मेरे संकल्प करने वाले मन, अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर, अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर।** ऐसे क्षण दो हैं, जब यह प्रार्थना सार्थक हो सकती है। एक तो मृत्यु के क्षण में और दूसरा समाधि के क्षण में। एक तो तब, जब सच में ही आदमी मृत्यु को उपलब्ध होने के द्वार पर खड़ा होता है और या फिर तब, जब मृत्यु से भी बड़ी मृत्यु में, समाधि के द्वार पर व्यक्ति अपनी बूँद को सागर में खोने के लिए तत्पर होता है।

साधारणतः जिन लोगों ने भी उपनिषद् के इस सूत्र की व्याख्या की है, उन्होंने पहले ही अर्थ में की है। यही मान कर की है कि मृत्यु के समय ऋषि कह रहा है। जब सब मिला जा रहा है अस्तित्व उसीमें जहाँ से आया था, उस क्षण में कह रहा है मन से कि मेरे सकल्पात्मक मन, अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर। लेकिन जैसा मैं देख पाता हूँ, यह स्मरण मृत्यु के क्षण मे किया गया नहीं है। **यह स्मरण समाधि के क्षण में किया गया है।** मृत्यु के क्षण में इसलिए किया गया नहीं है कि मृत्यु की कोई पूर्वसूचना नहीं होती। आप नहीं जानते कभी भी कि मृत्यु किस क्षण आ जाती है। मृत्यु आ जाती है, तभी पता चलता है। लेकिन तब तक जिसे पता चलता है, वह मर चुका होता है, वहाँ जा चुका होता है। जब तक मृत्यु आयी नहीं, तब तक पता नहीं चलता और जब आ जाती है, तब पता चलने वाला खो चुका होता है।

सुकरात मर रहा था तो उसके मित्रों ने उससे कहा कि तुम भयभीत नहीं मालूम पड़ते—दुखी-पीड़ित नहीं, चिन्तित नहीं, भयातुर नहीं ! तो सुकरात ने कहा कि मैं सोचता हूँ कि जब तक मृत्यु नहीं आयी है, तब तक तो मैं जीवित ही हूँ। और जीवित जब तक हूँ, तब तक मृत्यु की चिन्ता क्यों करूँ ? और या फिर यह भी सोचता हूँ कि जब मृत्यु आ ही जायेगी और मर ही जाऊँगा, तो फिर चिन्ता करने वाला कौन बचेगा ? सोचता हूँ कि मृत्यु में मैं मर ही जाऊँगा, बिलकुल मिट जाऊँगा, कोई बचेगा ही नहीं। और मृत्यु के पार अगर कोई बचेगा ही नहीं, तो भयभीत होने का कोई कारण नहीं। और यदि जैसा कि और कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु आ जायेगी, फिर भी मैं मरूँगा नहीं। यदि ऐसा हुआ कि मृत्यु आ जायेगी और मैं मरूँगा ही नहीं, तो फिर चिन्ता का तो कोई भी कारण नहीं।

मैंने कहा, दो क्षणों में यह सूत्र सार्थक हो सकता है—मृत्यु के क्षण में या समाधि के क्षण में। लेकिन मृत्यु के क्षण का हमें कोई भी पता नहीं होता। अनप्राडक्टेबल है, मृत्यु की कोई भविष्यवाणी नहीं है। अनायास है, इसीलिए किसी भी क्षण हो सकती है। **अगले क्षण भी हम होंगे, इसका कुछ पक्का नहीं है।** किसी भी क्षण हो सकती है घटित, फिर भी किस क्षण होगी, इसकी कोई पूर्वसूचना नहीं है। और यह प्रार्थना तो तभी हो सकती है, जब पूर्वसूचना हो। जब कि ऋषि को पता हो कि मैं मरने के द्वार पर खड़ा हूँ—मैं मर रहा हूँ। नहीं, इसलिए मैं कहता हूँ कि यह मृत्यु के समय में किया गया स्मरण नहीं है। यह महामृत्यु के क्षण में किया गया स्मरण है। महामृत्यु समाधि का नाम है। मृत्यु को मैं साधारण मृत्यु कहता हूँ, क्योंकि इसमे सिर्फ शरीर मरता है, मन नहीं मरता। ध्यान को, समाधि को मैं महामृत्यु कहता हूँ, क्योंकि शरीर का तो सवाल ही नहीं, मन ही मर जाता है। और इसलिए भी मैं कहता हूँ कि यह स्मरण *समाधि के समय मे किया गया है, क्योंकि ऋषि कह रहा है, अपने संकल्पात्मक* मन से, स्मरण कर अपने किये हुए कर्मों का, स्मरण कर। इस दूसरे हिस्से के सम्बन्ध में भी बड़ी भ्रान्ति हुई है। असल बात यह है कि साधारणतः जिन्हें हम पण्डित कहते हैं, वे व्याख्याएँ करते हैं। वे कितनी ही कुशल व्याख्या करें, उनकी व्याख्या में बुनियादी भूल हो जाती है। भूल इसलिए हो जाती है कि शब्द वे समझते हैं ठीक से, सिद्धान्त भी समझते हैं, शास्त्र भी समझते हैं, **लेकिन शब्द और सिद्धान्त के पीछे जो अनकहा छिपा है, उसे वे बिलकुल नहीं समझते। और धर्म के सत्य शब्दों में नहीं कहे जाते, शब्दों के बीच में जो खाली जगह छूट जाती है, उसीमें कहे जाते हैं।** पंक्तियों में नहीं, पंक्तियों के बीच में जो रिक्त स्थान छूट जाता है, उसमें कहे जाते हैं। जो रिक्त स्थान को पढ़ने में समर्थ नहीं हैं,

जो केवल काले अक्षरों को पढ़ने में समर्थ हैं, वह इन महासूत्रों का अर्थ करने में समर्थ नहीं हो सकते ।

पश्चिम में एक आन्दोलन चलता है, कृष्ण कासससेस का, कृष्ण चेतना का । उस आन्दोलन को चलाने वाले स्वामी भक्ति वेदान्त प्रभुपाद की ईशावास्योपनिषद् पर मैं एक किताब देख रहा था । बहुत हैरान हुआ । इस सूत्र का अर्थ उन्होंने जो किया है, इतना चकित करने वाला मालूम पड़ा—किया है अर्थ कि मैं मर रहा हूँ, मैं मृत्यु के द्वार पर खड़ा हूँ, हे प्रभु, मैंने जो-जो त्याग तेरे लिये किये, उनका स्मरण रखना । मैंने जो-जो कर्म तेरे लिए किये, उनका स्मरण रखना । शब्दों के बीच जो रिक्त स्थान नहीं पढ़ सकते, उन्हें तो छोड़ें, यह तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जो शब्द भी नही पढ़ सकते, वे भी अर्थ करते हैं । ऋषि कह रहा है, हे मेरे संकल्पात्मक मन—यहाँ ईश्वर का तो कोई सवाल ही नहीं है । और ऋषि यह तो कह ही नहीं रहा है कि मेरे किये हुए कर्मों को जो मैंने तेरे लिए किये, मेरे किये हुए त्यागों को जो मैंने तेरे लिए किये, उनका स्मरण रखना । लेकिन हमारी जो व्यवसायात्मक बुद्धि है, जो बिजनेस माइण्ड है, वह शायद यही अर्थ कर पायेगा । वह कहेगा, मरने का क्षण करीब आ गया, मैंने दान किया था, मन्दिर बनवाया था, तालाब का पाट बनवाया था, स्मरण रखना ! हे प्रभु, मैंने जो-जो कर्म किये थे तेरे लिए, जो-जो त्याग किये थे, अब घड़ी आ गयी, अब मुझे ठीक से उनका फल दे देना, प्रतिफल दे देना ।

मेरे संकल्पात्मक मन—संकल्प है हमारे मन की अभीप्सा का स्रोत । संकल्प अर्थात् विल । इसे थोड़ा समझ लें तो आगे की बात ख्याल मे आ सकेगी । इच्छा तो हमारे मन में सबके होती है—डिजायर, वासना । लेकिन वासना तब तक संकल्प नहीं बनती, जब तक वासना से अहंकार जुड़ न जाये । वासना प्लस अहंकार संकल्प बन जाता है । वासना तो सभी लोग करते हैं, लेकिन अगर अपने अहंकार से वासना को न जोड़ पायें तो वासना सिर्फ स्वप्न बनकर रह जाती है । वह कर्म नहीं बन पाती । कर्म बनने के लिए तो अहंकार जुड़ जाना चाहिए । अहंकार जुड़ जाये वासना में तो संकल्प निर्मित होता है । फिर किसी कर्म को करने की अहंता और अस्मिता निर्मित होती है । फिर कर्ता बनने का भाव निर्मित होता है । वासना के साथ जैसे ही अहंकार जुड़ा कि आप कर्ता बने । ऋषि कह रहा है, मेरे संकल्पात्मक मन, मेरे अहंकार और वासनाओं से भरे मन, अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर ! क्यों कह रहा है यह ? और एक बार नहीं, दो बार—अपने किये हुए कर्मों का स्मरण कर ! अपने किये हुए कर्मों का स्मरण

कर ! क्यों ? समाधि के क्षण में इस स्मरण की क्या जरूरत है ? या मृत्यु के क्षण में भी इस स्मरण की क्या जरूरत है ?

मजाक कर रहा है ऋषि, व्यंग्य कर रहा है । वह यह कह रहा है कि अब सब खोया जा रहा है समाधि के द्वार पर—मन खो रहा है, शरीर खो रहा है, भूत खो रहे हैं, सब लीन हुआ जा रहा है । अब मेरे मन, तू जो सोचता था, मैंने यह किया, मैंने वह किया, अब उसका क्या हुआ ! वह तू जो सोचता था, वह सब पानी पर खींची गयी रेखाएँ अब कहाँ हैं ? स्मरण कर, तेरा किया गया सब खो गया है, अब तू भी खो रहा है । अब तू स्मरण कर, लौट कर पीछे देख । कितने गौरव से भर कर तूने सोचा था, यह मैंने किया है ! कितने अहंकार से भर कर तूने कहा था, यह मैंने किया है ! कितनी आकांक्षाओं को तूने सँजोया था कि यह मैं करूँगा ! जन्म-जन्म, अनन्त यात्राओं पर, कितने चरण-चिह्न तूने छोड़े थे ! आज उनका कहीं भी कोई निशान नहीं रहा । उनका तो निशान रहा ही नहीं, आज तू भी शून्य हुआ जा रहा है । अब तेरा भी निशान नहीं रहेगा । आज तू भी मिटने के करीब आ गया है । आज तू भी बिदा हो रहा है । आज सब भूत अपने में लीन हो जायेंगे । आज सारी यात्रा समाप्त होगी । तो एक बार लौट कर तू पीछे देख ले, किस भ्रम में तू जिया था, किस इलूजन में, किस माया में तू जिया था । किस पागलपन मे कैसे सपने तूने देखे थे और उन सपनों के लिए कितनी पीड़ा झेली थी । और उन सपनों के लिए कितना चिन्तित हुआ था । अगर कभी कोई स्वप्न तेरा पूरा नहीं हुआ था, तो कितनी परेशानी, कितनी विफलता, कितना फ्रस्ट्रेशन तूने पाया था । और अगर कभी कोई सपना सफल हो गया था तो तू कितना फूला नहीं समाया था । आज सब सपने भी जा चुके, आज सब कर्म भी खो चुके । तू भी खोने के करीब आ गया । तू भी न होने के करीब आ गया । लौट कर एक बार स्मरण कर ।

यह बहुत व्यंग्य में, अपने ही संकल्प को और अपने ही अहंकार को उद्‌बोधन है । इसलिए मैं कहता हूँ, यह मृत्यु के समय किया गया उद्‌बोधन नहीं है, समाधि के समय किया गया उद्‌बोधन है । क्योंकि मृत्यु में तो सिर्फ शरीर ही मरता है, संकल्पात्मक मन नहीं मरता । मृत्यु के बाद भी आप अपने मन को लिये चले जाते हैं । वही मन तो आपके अनन्त जन्मों का स्रोत है । शरीर तो गिर जाता है यहीं । मन साथ यात्रा करता है । वासना साथ चली जाती है । अहंकार साथ चला जाता है । किये हुए कर्मों की स्मृति साथ चली जाती है । करने थे जो कर्म और नहीं कर पाये, उनकी आकांक्षा साथ चली जाती है । पूरा मनोशरीर साथ चला जाता है । सिर्फ देह गिरती है मृत्यु में । सिर्फ फिजियोलाजिकल,

सिर्फ देहपात जो हमारा ढांचा है, वह मर गिर जाता है मृत्यु में। लेकिन मन साथ चला जाता है। वही मन फिर नये शरीर को पकड़ लेता है। वही मन अनन्त शरीरों को पकड़ चुका है। वह अनन्त शरीरों को पकड़ता चला जाता है। इसलिए ज्ञानी मृत्यु को वास्तविक मृत्यु नहीं कहते, क्योंकि उसमें कुछ भी तो नहीं मरता। सिर्फ वस्त्र ही बदलते हैं। शरीर वस्त्र से ज्यादा नहीं है। इस बात को भी ठीक से समझ लें।

साधारणत: हम सोचते हैं कि शरीर हमारा पहले आता है, फिर उसके भीतर मन जन्म लेता है। और विगत सौ-दो सौ वर्षों की पश्चिम की चिन्तना और धारणा ने सारी दुनिया में यह भ्रान्ति फैला दी है कि शरीर पहले निर्मित होता है, फिर उसके भीतर मन जन्मता है। वह बाई प्रोडक्ट है, इपीपेनामिनाम है। वह शरीर का ही एक गुण है। ऐसे ही, जैसे पुराने चार्वाकों ने कहा है कि शराब जिन चीजों से मिलकर बनती है, अगर उनको एक-एक को अलग-अलग आप लें, तो नशा नहीं चढ़ेगा। उन सबके मिल जाने से नशा बाई प्रोडक्ट की तरह पैदा होता है। नशा का अपना कोई आगमन नहीं है कहीं से। नशा पाँच-दस चीजों के मिलने से पैदा हो जाता है। पाँच-दस चीजों को अलग कर लें, तो नशा तिरोहित हो जाता है। और उन पाँच-दस चीजों को आप अलग-अलग ले लें तो भी नशा नहीं चढ़ेगा। तो नशा उनके मिलन से, उनके बीच में पैदा होता है। इसलिए पुराने चार्वाक कहते थे कि मनुष्य का शरीर निर्मित होता है पंचभूतों से और उन पंचभूतों के मिलन से मन निर्मित होता है। मन एक बाई प्रोडक्ट है। पश्चिम का विज्ञान भी फिलहाल अभी जैसे अज्ञान की स्थिति में है, उसमें वह भी मानता है कि मन जो है, वह शरीर के पीछे पैदा हो गयी एक छायामात्र है। लेकिन पूरब में, जिन्होंने बहुत गहरी खोज की है, उनका कहना है कि मन पहले है और शरीर उसके पीछे छाया की तरह निर्मित होता है।

इसे ऐसा समझें; पहले आपके जीवन मे कर्म आता है या पहले वासना आती है? पहले आती है वासना मन में, फिर बनता है कर्म। लेकिन बाहर से कोई अगर देखेगा तो पहले दिखायी पड़ता है कर्म और वासना का अनुमान करना पड़ता है। मेरे भीतर आया क्रोध, मैंने आपको उठ कर चाँटा मार दिया। क्रोध मेरे भीतर पहले आया—मन पहले। फिर हाथ उठा, शरीर ने कृत्य किया। लेकिन आपको पहले दिखायी पड़ेगा मेरा हाथ और चाँटे का पड़ना। पीछे आप सोचेंगे, जरूर इस आदमी को क्रोध आ गया। पहले शारीरिक घटना दिखायी पड़ेगी, पीछे मन का अनुमान होगा। लेकिन वास्तविक जगत् में पहले मन निर्मित होता है, पीछे कर्म और घटना घटित होती है। हमें भी जब एक बच्चा जन्म लेता है तो

पहले शरीर दिखायी पड़ता है। लेकिन जो गहरा जानते है, वे कहते हैं कि पहले मन है। वही मन इस शरीर को निर्मित करवाला है—वही मन। वही मन इस शरीर को, ढांचे को, व्यवस्था को बनाता है। वह मन ब्लू-प्रिन्ट है। वह बिल्टइन-प्रोग्राम है। जब कोई मरता है तो उसका मन एक ब्लू-प्रिन्ट, एक नक्शा लेकर यात्रा करता है। वही नक्शा नये शरीर को, नये गर्भ को निर्मित करेगा। और आप हैरान होंगे, साधारणतः हम सोचते हैं कि एक स्त्री और पुरुष सम्भोग में रत होते हैं, तो जब वे सम्भोग मे रत होते हैं, तब शरीर निर्मित हो जाता है, फिर एक आत्मा प्रवेश कर जाती है। लेकिन गहरे देखने पर पता चलता है कि जब कोई आत्मा प्रवेश करना चाहती है तब दो स्त्री-पुरुष सम्भोग करने के लिए आतुर होते हैं। लेकिन पहले चूंकि हमे शरीर दिखायी पड़ता है, इसलिए मन का तो हम अनुमान करते हैं। लेकिन मन की तरफ से जिन्होंने गहरी खोज की है, वे कहते है कि पहले गर्भातुर, गर्भ-प्रवेश के लिए आतुर आत्मा जब आपके आस-पास परि-भ्रमण करने लगती है तब सम्भोग की आतुरता जन्मती है। मन अपना शरीर निर्मित करवाने की चेष्टा करता है।

सांझ आप सोते है। कभी आपने शायद ख्याल न किया होगा। रात सोते वक्त ख्याल करे, आखिरी विचार जब नीद उतरती हो, उतर हो रही हो, उतर ही गयी हो तब पकड़े अपने मन में कि आखिरी विचार क्या है। फिर सो जायें। और जब सुबह नीद टूटे, होश आये, तब तत्काल पहली खोज करें कि सुबह जागने का पहला विचार कौन-सा है। तो आप बहुत चकित होंगे। रात जो आखिरी विचार होता है वही सुबह पहला विचार होता है। रात सोते समय जो चित्त मे अन्तिम विचार होता है, सुबह जागते समय वही पहला विचार होता है। ठीक ऐसे ही मरते वक्त जो अन्तिम वासना होती है, वही जन्म लेते वक्त पहली वासना होती है।

शरीर तो गिर जाता है हर मृत्यु में, लेकिन मन चलता चला जाता है। आपके शरीर की उम्र, हो सकता है, पचास साल हो, लेकिन आपके मन की उम्र पचास लाख साल भी हो सकती है। आपने जितने जन्म लिये हैं उन सभी मनों का संग्रह आपके भीतर आज भी मौजूद है, अभी भी मौजूद है। बुद्ध ने उसे बहुत अच्छा नाम दिया है। पहला नाम बुद्ध ने ही उसको दिया, उसे उन्होंने नाम दिया आलय-विज्ञान। आलय-विज्ञान का अर्थ होता है—स्टोर हाउस ऑफ कांससनेस। स्टोर हाउस की तरह आपने जितने भी जन्म लिये हैं वे सभी स्मृतियाँ आपके भीतर संग्रहीत हैं। आपका मन बहुत पुराना है। और ऐसा भी नहीं है कि आपके पास जो मन है वह सिर्फ मनुष्य-जन्मों का है। अगर आपके पशुओं में जन्म हुए, जो कि हुए। अगर

आपके वृक्षों में जन्म हुए, जो कि हुए। तो वृक्षों की स्मृति, पशुओं की स्मृति, वे सभी स्मृतियाँ आपके भीतर मौजूद हैं। जो लोग आलय-विज्ञान की प्रक्रिया में गहरे उतरते हैं वे कहेंगे, अगर किसी व्यक्ति को गुलाब के फूल को देख कर अचानक प्रेम उमड़ता है तो उसका गहरा कारण यही है कि उसके भीतर गुलाब के होने की कोई गहरी स्मृति आज भी शेष है, जो समतुल को, जो रिजोनेंस को, जो गुलाब को देख कर प्रतिध्वनित हो उठती है। अगर एक व्यक्ति कुत्ते को बहुत प्रेम किये चला जा रहा है तो यह आकस्मिक नहीं है। उसके भीतर के आलय-विज्ञान में स्मृतियाँ हैं, जो उसे कुत्ते के साथ बड़ी सजातीयता, बड़ा अपनापन, बड़ी निकटता का बोध करवाती हैं। हमारे जीवन में जो भी घटता है वह आकस्मिक नहीं है। उसकी गहरी कार्य-कारण की प्रक्रिया पीछे काम करती है।

तो मृत्यु में शरीर गिरता है, लेकिन मन यात्रा करता चला जाता है। और मन संग्रहीत होता चला जाता है। इसलिए आपके मन में कई बार ऐसे रूप आपको दिखायी पड़ेंगे, जिनको आप कहेंगे ये मेरे नही हैं। आपको भी कई बार लगेगा कि कुछ काम आप ऐसे कर लेते हैं जिनको आपको कहना पड़ता है—इनस्पाइट ऑफ मी, मेरे बावजूद हो गये। एक आदमी का किसीसे झगड़ा होता है और वह दाँत से उसकी चमड़ी काट लेता है। पीछे वह सोचता है कि मैं और दाँत से चमड़ी काट सका! मैं कोई जंगली जानवर हूँ? आज वह नहीं है, कभी वह था। और किसी क्षण में उसके भीतर की स्मृति इतनी सक्रिय हो सकती है कि वह बिलकुल पशु जैसा व्यवहार करे। हममें से सभी लोग अनेक मौको पर पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं। वह व्यवहार आसमान से नही उतरता, हमारे भीतर के ही चित्त के संग्रह से आता है। हमारी मृत्यु सिर्फ हमारे शरीर की मृत्यु है। संकल्पात्मक मन उसमें मरता नहीं। इसलिए ऋषि को मजाक का मौका न होता, अगर मृत्यु हो रही होती। इसलिए भी मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यह सूत्र समाधि के क्षण का है। समाधि के साथ एक भेद है कि समाधि की पूर्वघोषणा हो सकती है। क्योंकि मृत्यु आती है, समाधि लायी जाती है। मृत्यु घटती है, समाधि का आयोजन करना पड़ता है। एक-एक कदम ध्यान का उठा कर आदमी समाधि तक पहुँचता है। यह भी आप ख्याल रख लें कि समाधि शब्द बड़ा अच्छा है। कब्र के लिए भी कभी आप समाधि बोलते हैं। साधु मर जाता है तो उसकी कब्र को समाधि कहते हैं। सच है यह बात। समाधि एक तरह की मृत्यु ही है। लेकिन बड़ी गहरी मृत्यु है। शरीर तो शायद वहीं रह जाता है, लेकिन भीतर जो मन था वह विनष्ट हो जाता है।

उस मन के विनष्ट होने के क्षण में ऋषि कह रहा है कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किये हुए का स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर। इसलिए

कि इसी मन ने कितने धोखे दिये। और यह मन आज खुद ही नष्ट हुआ जा रहा है। जिस मन को हमने समझा मेरा है, जिसके आधार पर जिये और मरे। जिसके आधार पर काम किये, हारे और जीते। जिसके आधार पर जय और पराजय की आकांक्षाएँ बाँधीं। जिसके आधार पर सुखी और दुखी हुए। सोचा था कि जो सदा साथ देगा, आज वही धोखा दिये जा रहा है। जिसके कन्धे पर हाथ रखकर इतनी लम्बी यात्रा की, आज पाया कि वह कन्धा भी विदा हो रहा है। जिसको समझा था कि नाव है, आज पाया कि वह भी पानी ही सिद्ध हुई और नदी में मिली जा रही है। इस क्षण में, इस क्षण में ऋषि कहता है, मेरे संकल्पात्मक मन, अब स्मरण कर अपने किये हुए कर्मों का। अपने सोचे हुए कर्मों का। स्मरण कर—कैसे तूने वायदे किये थे! क्या तेरे प्रामिसेस थे, क्या तेरा आश्वासन था! कितने तेरे भरोसे थे! तूने क्या-क्या मुझसे करवा लिया! और तूने मुझे क्या-क्या कर रहा हूँ, इसका भ्रम दिया। और तूने कैसे-कैसे स्वप्न मुझसे निर्मित करवाये। और कैसी-कैसी विक्षिप्तताएँ मुझसे करवायीं। अब तू खुद विदा हुआ जा रहा है। और मैं एक ऐसे लोक में प्रवेश करता हूँ, जहाँ तू नही होगा। लेकिन जब तक तूने सदा मुझसे यही कहा था कि जहाँ संकल्प नही होगा, वहाँ तुम नहीं होओगे। लेकिन आज मैं देखता हूँ कि तू तो विदा हो रहा है, लेकिन मै पूरा का पूरा हूँ।

मन सदा कहता है कि अगर संकल्प न रहा तो मिट जाओगे। टिक न पाओगे जिन्दगी के संघर्ष में। अगर अहंकार न रहा तो खो जाओगे। बच न सकोगे, सर्वाइवल न होगा। मन सदा कहता है—पुरुषार्थ करो, संकल्प करो। लड़ो। नहीं लड़ोगे तो बचोगे नहीं। संघर्ष नहीं करोगे तो मिट जाओगे। निश्चित, ऋषि आज मजाक करे तो स्वाभाविक है। वह मन से कहे कि तू तो खुद मिटा जा रहा है, लेकिन मैं तो पूरा का पूरा शेष हूँ। तू खो रहा है, मैं नहीं खो रहा हूँ। लेकिन अब तक तूने यही धोखा दिया था कि तू नहीं होगा तो मैं नहीं बचूंगा। आज तू तो जा रहा है और मैं बच रहा हूँ।

इसी घड़ी को ऋषि व्यंग्य बनाये, दो कारणों से—एक तो अपने मन के लिए और एक उनके मन के लिए भी, जो अभी समाधि के द्वार तक तो नहीं पहुँचे हैं, लेकिन कर्म कर रहे होंगे। जिनका मन अभी कह रहा होगा, यह करो, यह करो। अगर यह न कर पाये तो तुम्हारी जिन्दगी व्यर्थ है। अगर यह महल न बना तो बेकार हो गया। अगर इस पद पर न पहुँचे तो क्या तुम्हारा अर्थ रहा। अगर तुमने यह पुरुषार्थ सिद्ध न किया तो तुम दो कौड़ी के हो। व्यर्थ गया तुम्हारा जीवन, निष्प्रयोजन हुआ। जिनके मन अभी यह कहे जा रहे होंगे, उनको भी ऋषि व्यंग्य

कर रहा हैं। उनसे भी कह रहा है एक दफा फिर से सोच लेना। मन सबसे बड़ा धोखा है। मन सबसे बड़ी प्रवंचना है।

हमारी सारी प्रवंचना मन से ही आविर्भूत होती है। हम सब शेखचिल्लियों से ज्यादा नहीं हैं। और मन इतना कुशल है कि कभी भी इस तल तक हमें गहरे में नहीं देखने देता कि हमें पता चल जाये कि हम धोखा खा रहे हैं। इसके पहले कि पता चले, मन नया धोखा निर्मित कर देता है। इसके पहले कि पुराना धोखा टूटे, मन नये धोखे के भवन बना देता है और कहता है, यहाँ आ जाओ, यहाँ विश्राम करो। एक आकांक्षा पूरी होती है, तब मन अगर एक क्षण भी गैप दे दे, एक क्षण भी अन्तराल दे दे तो आपको पता चल जाये कि जिस वासना को पूरा करने के लिए इतनी पीड़ा झेली, वह पूरा करके कुछ भी हाथ में नहीं आया है। राख भी हाथ में नहीं आयी। लेकिन मन इतना अन्तराल नहीं देता, इतना मौका नहीं देता। इधर एक आकांक्षा पूरी भी नही हो पाती कि मन दूसरी आकांक्षा के बीज बोना शुरू कर देता है। इधर एक आकांक्षा पूरी होकर व्यर्थ होती है कि नये अंकुर वासना के मन खड़े कर देता है। दौड़ पुनः शुरू हो जाती है। मन कभी भी मौका नही देता विश्राम का, विराम का कि आप देख पाये कि किस धोखे में पड़े है। पैर के नीचे से जमीन का एक टुकड़ा हटता है तो गड्ढे को नहीं देखने देता, नया जमीन का टुकड़ा दे देता है कि इसके सहारे खड़े रहो।

बुद्ध एक छोटी-सी और बड़ी मीठी कहानी कहा करते थे, वह मैं आपसे कहूँ। सुनी भी होगी। लेकिन शायद इस अर्थ में सोची नही होगी। बुद्ध कहते थे, भाग रहा है एक आदमी जंगल में। दो कारणों से आदमी भागता है। या तो आगे कोई चीज खींचती हो, या पीछे कोई चीज धकाती हो। या तो आगे से कोई पुल—खीचता हो, या पीछे से कोई पुश—धक्का देता हो। वह आदमी दोनों ही कारणो से भाग रहा है। गया था जगल में हीरो की खोज में। कहा था किसीने कि हीरो की खदान है। इसलिए दौड़ रहा था। लेकिन अभी-अभी उसकी दौड़ बहुत तेज हो गयी थी, क्योंकि पीछे एक सिंह उसके लग गया था, हीरे तो भूल गये थे। अब तो किसी तरह इस सिंह से बचाव करना था। भाग रहा था बेतहाशा, और आखिर उस जगह पहुँच गया, जहाँ आगे रास्ता समाप्त हो गया था। गड्ढा था भयंकर, रास्ता समाप्त था। लौटने का उपाय न था। लौटने का उपाय कहीं भी नहीं है—किसी जंगल में और किसी रास्ते पर। और चाहे हीरों के लिए भागते हों और चाहे कोई मौत पीछे पड़ी हो, इसलिए भागते हों, लौटने का कोई उपाय कहीं भी नहीं है। असल में लौटने के लिए रास्ता बचता ही नहीं। समय में सब पीछे के रास्ते नीचे गिर जाते हैं। पीछे

नहीं लौट सकते, एक इंच पीछे नहीं लौट सकते। वह भी नहीं लौट सकता था, क्योंकि पीछे सिंह लगा था और सामने रास्ता समाप्त हो गया था। बड़ी घबराहट में कोई उपाय न देखकर, जैसा निरुपाय आदमी करे, वही उसने किया। गड्ढे में लटक गया एक वृक्ष की जड़ों को पकड़ कर। सोचा कि जब सिंह निकल जायगा, तो वापस ऊपर आ जायगा। लेकिन सिंह भी ऊपर आ गया और उसके निकलने की प्रतीक्षा करने लगा। सिंह की भी अपनी वासना है। कभी तो ऊपर आओगे।

जब देखा कि सिंह ऊपर खड़ा है और प्रतीक्षा करता है, तब उस आदमी ने नीचे झाँका। नीचे देखा कि एक पागल हाथी चिंघाड़ रहा है। सोचा कि अब कोई उपाय नही है। उस आदमी की स्थिति हम समझ सकते हैं कि कैसे सन्ताप में पड़ गया होगा। लेकिन इतना ही नहीं, संताप जिन्दगी में अनन्त हैं। कितने ही आ जायें तो भी कम हैं। जिन्दगी और भी दे सकती है। तभी उसने देखा कि जिस शाखा को वह पकड़े है, वह कुछ नीचे झुकती जाती है। ऊपर आँखें उठायी तो दो चूहे उसकी जड़ों को काट रहे हैं। बुद्ध कहते थे, एक सफेद चूहा था, एक काला चूहा था। जैसे दिन और रात आदमी की जड़ों को काटते चले जाते हैं। हम समझ सकते है कि उसके प्राण कैसे सकट मे पड़ गये होंगे। लेकिन नहीं, आदमी की वासना अद्भुत है और आदमी के मन की प्रवचना का खेल अद्भुत है। तभी उसने देखा कि ऊपर मधुमक्खी का एक छत्ता है और मधु की एक-एक बूंद टपक रही है। फैलायी उसने जीभ अपनी—मधु की एक बूंद जीभ पर टपकी। आँख बन्द कीं और कहा, धन्य भाग, बहुत मधुर है। उस क्षण मे उसके लिए न ऊपर सिंह रहा, न नीचे चिघाड़ता हाथी रहा। न जड़ो को काटते हुए चूहे रहे। न कोई मौत रही, न कोई भय रहा। एक क्षण को वह सब भूल गया। कहा उसने, बहुत मधुर मधु है—बहुत मधुर!

बुद्ध कहते थे, हर आदमी इसी हालत में है, लेकिन मन मधु की एक-एक बूंद टपकाये चला जाता है। आँख बन्द करके आदमी कहता है, बहुत मधुर है। स्थिति यही है, सिचुएशन यही है। पूरे वक्त यही है। नीचे भी मौत है, ऊपर भी मौत है। जहाँ जिन्दगी है, वहाँ सब तरफ मौत है। जिन्दगी सब तरफ मौत से घिरी है। और प्रतिपल जीवन की जड़ें कटती जा रही हैं अपने-आप। जीवन रिक्त हो रहा है, चुक रहा है—एक-एक दिन, एक-एक पल। जैसे कि रेत की घड़ी होती है और एक-एक क्षण रेत नीचे गिरती जाती है और चुकती जाती है। ऐसे ही जीवन से समय चुकता जाता है। और जीवन खाली होता चला जाता है। लेकिन फिर भी एक बूंद गिर जाये मधु की, स्वप्न निर्मित हो जाते हैं, आँख बन्द हो जाती है। मन कहता है, कैसा मधुर है! और जब तक

एक बूंद चुके, समाप्त हो, तब तक दूसरी बूंद टपक आती है। मन प्रवंचना की बूंदें टपकाये चला जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, हे मेरे संकल्पात्मक मन, कितने धोखे, कितनी प्रवंचनाएँ तूने दीं। अब तू उन सबका एक बार स्मरण कर। एक बार स्मरण कर ले, जो तूने किया, जो तू सोचता था, कर रहा है। जिसका तू कर्ता बना था। और आज तू समाप्त हुआ जाता है, शून्य हुआ जाता है, मिटा जाता है।

समाधि के द्वार पर मन शून्य हो जाता है। विचार बन्द हो जाते हैं, चित्त के कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। चित्त की तरंगें निस्तरंग हो जाती हैं। मन होता ही नहीं। जहाँ मन नहीं है, वहीं समाधि है। मैंने कहा कि समाधि का एक अर्थ है—साधु मर जाय तो उसकी कब्र को हम कहते हैं समाधि। समाधि का दूसरा अर्थ है—जहाँ समाधान है। जहाँ कोई समस्या नहीं है। यह बड़े मजे की बात है कि जहाँ मन है, वहाँ समस्या और समस्या और समस्या—समाधान कभी भी नहीं है। मन समस्याओं को पैदा करने की बड़ी कीमिया है। जैसे वृक्षों पर पत्ते लगते हैं, ऐसे मन में समस्याएँ लगती हैं। समाधान उसमें कभी नहीं लगता। मन के तल पर कोई समाधान कभी भी नहीं है। समाधान तो वहाँ है, जहाँ मन खो जाता है। इसलिए जब कोई आकर मुझसे कहता है कि मेरे मन को समाधान करवा दें, तो मैं उससे कहता हूँ कि तुम इस झंझट में न पड़ो। मन को कभी समाधान न करवा पाओगे। मन को छोड़ो तो समाधान हो पायेगा।

एक मित्र आज साँझ को ही मुझसे कह रहे थे कि मैं लोभ से कैसे मुक्त हो जाऊँ? मैंने कहा, न हो सकोगे। क्योंकि तुम ही लोभ हो। जब तक तुम हो तब तक लोभ से मुक्त न हो सकोगे। तुम ना हो जाओ, लोभ नहीं रह जायगा। मन का कभी समाधान नहीं होता। मन नहीं होता, तब समाधान होता है। इसलिए कहते हैं उसे समाधि। जहाँ सब समाधान आ गया, जहाँ कोई समस्या न रही। जब तक मन है, तब तक समस्या बनाये ही चला जायगा। एक समस्या हल करेंगे तो दूसरी समस्या निर्मित करेगा। और एक समाधान अगर कोई देगा, तो दस समस्याएँ उस समाधान में से निर्मित करेगा।

एक मित्र आये दो दिन पहले। मुझे उन्होंने पत्र लिखा था कि आता हूँ शिविर में। चित्त में बड़ी अशान्ति है। वे आये। तीन दिन के प्रयोग ने अशान्ति को तिरोहित किया। तीन दिन बाद मेरे पास आये और कहने लगे, अशान्ति तो चली गयी, लेकिन यह शान्ति कहीं धोखा तो नहीं है? मैंने उनसे पूछा कि अशान्ति धोखा है, ऐसा कभी मन ने कहा था कि नहीं? उन्होंने कहा, मन ने

ऐसा कभी नहीं कहा। 'कितने दिन से अशान्त हैं?' उन्होंने कहा कि सदा से अशान्त हूँ।

मन ने कभी यह नहीं पूछा कि अशान्ति धोखा तो नहीं है। अभी तीन दिन से शान्त हुए तो मन कहता है, कहीं शान्ति धोखा तो नहीं है? बहुत अद्भुत मन है। अगर परमात्मा भी आपको मिल जाये तो मन कहेगा, पता नहीं, असली है या नकली—अगर मन मौजूद हो तो। इसीलिए परमात्मा मन के रहते मिलता नहीं। क्योंकि मन उसको बड़ी दिक्कत में डालेगा। मन को आनन्द भी मिल जाये तो भी संदिग्ध होता है कि पता नहीं, है या नहीं। **मन सन्देह निर्मित करता है, शंकाएँ निर्मित करता है, समस्याएँ निर्मित करता है, चिन्ताएँ निर्मित करता है।** फिर भी मन को इतने जोर से क्यों हम पकड़ते हैं? अगर मन सारी बीमारियों की जड़ है, जैसा कि समस्त जानने वाले कहते हैं, तो फिर हम मन को इतने जोर से क्यों पकड़े हुए हैं? वही कारण है, जिससे ऋषि व्यंग्य कर रहा है। **मन को हम इसलिए जोर से पकड़े हैं कि हमको डर है कि अगर मन नहीं रहा तो हम नहीं रहेंगे।** असल में हमने जाने-अनजाने में मन को अपना होना समझ रखा है। तादात्म्य कर रखा है। समझ लिया है कि मैं मन हूँ। जब तक आप समझेंगे कि मैं मन हूँ, तब तक आप समस्त बीमारियों को पकड़े बैठे रहेंगे, छाती से लगाये बैठे रहेंगे। आप मन नहीं हैं। **आप तो वह हैं, जो मन को भी जानता है, जो मन को भी देखता है, जो मन को भी पहचानता है।** पीछे हटना पड़ेगा थोड़ा मन से। थोड़ा दूर होना होगा। थोड़ा पार उठना पड़ेगा। जरा किनारे खड़े होकर मन की धारा को देखना पड़ेगा कि वह रही मन की धारा। आप मन नहीं हैं, लेकिन समझा हमने यही है कि मैं मन हूँ। जब तक आप समझे हैं कि मैं मन हूँ, तब तक आप मन को छोड़ेंगे कैसे? वह तो प्राणघाती हो जायेगी बात। मन को छोड़ना मतलब मरना हो जायगा। ऐसे आप मन को नहीं छोड़ सकेंगे। **मन को तो वही छोड़ सकता है, जो जान ले कि मैं मन नहीं हूँ।**

समाधि का पहला चरण यह अनुभव है कि मैं मन नहीं हूँ। जब यह अनुभव गहरा होने लगता है और इतना गहरा हो जाता है कि यह आपकी स्पष्ट अनुभूति हो जाती है कि मैं मन नहीं हूँ, उसी दिन इस अनुभूति के पूर्ण होते ही मन तिरोहित हो जाता है। मन उस दिन उसी तरह तिरोहित हो जाता है, जैसे किसी दिये का तेल चुक जाये। दिये का तेल चुक जाय तो भी थोड़ी देर बाती जलेगी। बाती में थोड़ा तेल चढ़ गया होगा इसलिए। लेकिन थोड़ी ही देर। वही स्थिति है ऋषि की। तेल चुक गया है। जान लिया ऋषि ने कि मैं मन नहीं हूँ। लेकिन बाती में जो थोड़ा-सा तेल चढ़ गया है उससे अभी ज्योति जल रही है। इस आखिरी

जलती और अन्तिम समय में बुझती ज्योति से ऋषि कहता है कि तूने मुझे धोखा दिया था कि सदा साथ देगी और प्रकाश देगी। तेरा तो बुझने का क्षण आ गया ! अब मैं देखता हूँ कि तेल तो चुक गया है, कितनी देर जलेगा मेरा संकल्पात्मक मन ? अब तो सारी बात समाप्त हुई जाती है। लेकिन फिर भी मैं हूँ। तो अपने ही विदा होते मन को वह कह रहा है कि मैं था और मैं सदा तुमसे अलग था, लेकिन सदा मैंने तुझे अपने साथ एक समझा। वही मेरी भ्रान्ति थी। वही संसार था। वही माया थी।

अपने से तो कह ही रहा है, मैंने आपसे कहा कि आपसे भी कह रहा है। शायद—शायद आपको भी ख्याल आ जाये। लौट के थोड़ा देखें तो शायद ख्याल आ जाये। बीस साल पहले लौट जायें, बच्चे थे। क्लास में प्रथम आने की कैसी आकांक्षा थी भारी। रात-रात नींद न आती थी। परीक्षा प्राणों पर संकट मालूम पड़ती थी। लगता था, सब कुछ इसी पर टिका है। आज न कोई परीक्षा रही, न क्लास रही। लौट कर याद करें, क्या फर्क पड़ा कि प्रथम आये थे कि द्वितीय, कि तृतीय, कि बिलकुल नहीं आये थे। क्या फर्क पड़ा ? आज कुछ याद भी नहीं आता। दस साल पीछे लौटें। किसीसे झगड़ा हो गया है, लगता है कि जीवन-मरण का सवाल है। आज दस साल बाद बात ऐसी हो गयी, जैसे पानी पर खींची गयी रेखाएँ मिट जाती हैं। किसीने राह में गाली दे दी थी तो ऐसा लगा था कि अब कैसे बचेंगे ? बचे हैं भली तरह। गाली भी नहीं है, कुछ पता भी नहीं है, आज कोई याद भी नहीं आता। आज लौट कर वापस देखें, कितना मूल्य दिया था उस क्षण ! क्या आज उतना मूल्य रह गया है ? कुछ भी मूल्य नहीं रह गया। आज जिस चीज को मूल्य दे रहे है, ध्यान रखना कल इतनी ही निर्मूल्य हो जायेगी। इसलिए आज भी बहुत मूल्य मत देना। कल के अनुभव से आज भी मूल्य को खींच लेना। ऋषि समस्त अनुभवों के आधार पर कह रहा है कि तेरे ऊपर मैंने बहुत मूल्य दिया संकल्पात्मक मन। लेकिन आज आखिरी विदा में तुझसे कहता हूँ कि धोखा था सब, वंचना थी, मूढ़ता थी। मैं तुमसे अलग था, अलग हूँ। जब मन विलीन होता है, उस क्षण में सब विलीन हो जाता है। क्योंकि मन के आधार पर ही सब जुड़ा है। मन जो है, वह न्यूक्लियस है। उसके ऊपर ही सारे जीवन का चाक घूमता है। इसलिए ऋषि कह रहा है, वायु वायु में लीन हो जायेगी, अग्नि अग्नि में लीन हो जायेगा, आकाश आकाश में खो जायगा। सब खो जायगा। क्योंकि वह जो जोड़ने वाला मन था, वही खो रहा है।

बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ, उन्होंने एक अद्भुत बात कही। जिस दिन पहली बार उनका मन मिटा और वह मन शून्य दशा में प्रविष्ट हुए उस दिन उन्होंने भी

ठीक ऐसी ही बात कही, जैसी उपनिषद् के इस ऋषि ने कही है। उन्होंने कहा कि मेरे मन, अब तुझे बिदा देता हूँ। अब तक तेरी जरूरत थी, क्योंकि मुझे शरीररूपी घर बनाने थे। लेकिन अब मुझे शरीररूपी घर बनाने की कोई जरूरत न रही, अब तू जा सकता है। अब तक मुझे जरूरत थी तो मन के आर्किटेक्ट को, मन के इंजीनियर को पुकारना पड़ता था। उसके बिना कोई शरीर का घर नहीं बन सकता। लेकिन आज तुझे बिदा देता हूँ, क्योंकि अब मुझे शरीर के बनाने की कोई जरूरत न रही। अब मुझे अपना परम निवास मिल गया है अब मुझे घर बनाने की कोई जरूरत नहीं। अब मैं वहीं पहुँच गया हूँ, जो मेरा घर है। अब मुझे बनाने की कोई जरूरत न रही। अब मैं असृष्ट स्वरूप के घर में पहुँच गया हूँ। पहुँच गया हूँ—स्वयं में, निजता में। अब तू जा सकता है।

साधक के लिए ऐसे सूत्र कीमत के हैं। कण्ठस्थ करने से फायदा नहीं है। हृदयस्थ करने से फायदा है। कण्ठस्थ कर लें, याद कर लें, रोज दोहरा दें, बासे पड़ जायेंगे। धीरे-धीरे अर्थ भी खो जायगा। धीरे-धीरे शब्द ही रह जायेंगे मुर्दा, अर्थहीन। लेकिन अगर हृदय तक पहुँच जाये बात, समझ में आ जाय यह बात —केवल बौद्धिक समझ नहीं, प्राणगत समझ में आ जाय कि सच ही यह मन सिवाय धोखे के और कुछ भी नहीं है तो आपकी जिन्दगी एक नयी यात्रा पर, एक नयी क्रान्ति में प्रवेश कर जायेगी। मैं यदि इन सूत्रों पर बोल रहा हूँ तो इसलिए नहीं कि ये सूत्र आपकी स्मृति में बैठ जायें, कि आप थोड़े ज्यादा ज्ञानवान् हो जायें। नहीं, आप जरूरत से ज्यादा ज्ञानवान् पहले ही हैं। आपके ज्ञान में बढ़ती की अब कोई भी जरूरत नहीं है। मैं बोल रहा हूँ इसलिए इन सूत्रों पर कि आपको जीवन की वास्तविकता का स्मरण आ जाय। रिमेंबरिंग आ जाय, यह होश आ जाय कि हम जैसे जी रहे हैं, कहीं ये सूत्र उस जीने के बाबत भी कोई प्रकाश डालते हैं।

च्वांगत्से चीन मे एक फकीर हुआ। एक साँझ निकलता है एक मरघट से। किसीकी खोपड़ी पैर में लग जाती है। शिष्य उसके साथ हैं। च्वांगत्से खोपड़ी को उठा कर सिर से लगा कर बार-बार क्षमा माँगने लगता है कि मुझे माफ कर दे। हे भाई, मुझे माफ कर दे!

उसके शिष्यों ने कहा, आप कैसी बात कर रहे हैं। हमने सदा आपको बुद्धिमान् जाना। अब आप यह क्या पागलपन कर रहे हैं? च्वांगत्से ने कहा, तुम्हें पता नहीं है, यह छोटे लोगों का मरघट नहीं है, बड़े लोगों का मरघट है। यहाँ गाँव के जो बड़े आदमी हैं, वे दफनाये जाते हैं। उन्होंने कहा: कोई भी हो, बड़ा हो या छोटा हो, मौत सबको बराबर कर देती है।

मौत तो बहुत कम्युनिस्ट है—एकदम समान कर देती है।

पर च्वांगत्से ने कहा कि नहीं, माफी तो माँगनी ही पड़ेगी। अगर यह आदमी जिन्दा होता तो पता नहीं, आज मेरी क्या हालत होती। उन्होंने कहा, पर वह आदमी जिन्दा नहीं है। इसलिए तुम चिन्ता मत करो। पर च्वांगत्से उस खोपड़ी को घर ले आया और अपने कमरे में, अपने बिस्तर के पास ही रखने लगा। जो भी आता, वह चौंक कर देखता कि यह खोपड़ी यहाँ क्यों है? च्वांगत्से कहता कि मेरा जरा पैर लग गया था। अब यह आदमी मर गया है, बड़ी मुश्किल है। अब माफी किससे माँगूँ? तो इसकी खोपड़ी ले आया हूँ, रोज इससे माफी माँगता हूँ कि शायद कभी सुनायी पड़ जाय।

लोग कहते, आप कैसी बातें कर रहे हैं! तो च्वांगत्से कहता कि इसलिए भी इस खोपड़ी को ले आया हूँ कि इसे देखकर मुझे रोज ख्याल बना रहता है कि आज नहीं, कल अपनी भी खोपड़ी किसी मरघट पर ऐसी ही पड़ी होगी। लोगों की ठोकरें लगेंगी। कोई माफी भी माँगेगा तो हम माफ करने की हालत में भी नहीं होंगे। नाराज होने की तो बात अलग है। तो जिस दिन से इस खोपड़ी को लाया हूँ, अपनी खोपड़ी के बाबत बड़ी समझ पैदा हुई है। अब अगर कोई मेरी खोपड़ी को लात मार जाय तो मैं इस खोपड़ी की तरफ देख कर शान्त रहूँगा।

यह एक्जिस्टेंसियल अण्डरस्टैंडिंग हुई। यह अस्तित्वगत समझ हुई—बौद्धिक नहीं। इसका परिणाम हो गया। यह आदमी बदल गया।

ऐसे ही यह सूत्र आपके हृदय तक पहुँच जाय और जब आप कोई कर्म कर रहे हों या कर्म की योजना बना रहे हों और मन कह रहा हो कि ऐसा करो, कि यह एलेक्शन आ रहा है, इसमें लड़ो और जीत जाओ, तो यह काम आयगा। जैसे यह सूत्र मोरारजी को दे देना चाहिए—अभी मन बड़े संकल्प कर रहा होगा। वह मरते दम तक करता चला जाता है संकल्प। हालाँकि किसी चीज से कुछ मिलता नहीं। अब मोरारजी डिप्टी-कलेक्टर से लेकर डिप्टी-प्राइम-मिनिस्टर तक की यात्रा कर लिये। उससे कोई हल नहीं हुआ। आगे भी कितनी यात्रा करें, कुछ हल नहीं होगा। पर मन हारे तो मुसीबत में डालता है, जीते तो मुसीबत में डालता है। मन की हालत जुआरी जैसी है। जुआरी हार जाय तो सोचता है, एक दाँव और लगा लूँ, शायद जीत जाऊँ। और जीत जाय तो सोचता है कि अब चूकना ठीक नहीं है, एक दाँव और लगा लूँ, जब जीत ही रहा हूँ। जीतता है तो और लगाता है, क्योंकि जीतने से आशा बढ़ जाती है। जब तक हार न जाय तब तक जीतना कहता है और दाँव लगा लूँ। हार जाय तो मन कहता है कि हार गये। हार के लौटना उचित है कहीं? एक दाँव और देख लो। कौन जाने जीत हो जाय!

मन जुआरी की तरह है। इस सूत्र को स्मरण रखना। और जब मन दाँव लगाने की बात करे—हार-जीत की बात करे तब कहना कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किये हुए का स्मरण कर। इससे कर्म के प्रति जो भारी लगाव है वह क्षीण होगा, और कर्ता होने की जो अकड़ता है वह टूटेगी। और समाधि की ओर कदम बढ़ सकेंगे। ध्यान की ओर यात्रा हो सकेगी। स्मरण रखें, मूर्च्छा नहीं चलेगी। मन के साथ बेहोशी नहीं चलेगी। अगर आप बेहोश ही चले जाते हैं मन के साथ, मूर्च्छित ही चले जाते हैं मन के साथ, तो मन पुनरुक्त करता रहेगा वही, जो उसने कल किया था। यह बात शायद आपके ख्याल में न हो कि आपका मन कोई नये काम नहीं करता। बस, उन्हीं-उन्हीं कामों को पुनरुक्त करता चला जाता है। कल भी क्रोध किया था, परसों भी क्रोध किया था। और मजा यह है कि परसों क्रोध करके भी पछताये थे कि अब न करेंगे। कल भी क्रोध करके पछताये कि अब न करेंगे। आज भी क्रोध किया है और आज भी पछतायेंगे कि अब न करेंगे। क्रोध भी पुराना है, पश्चात्ताप भी पुराना है। रोज वही दोहराये चले जाते हैं। अगर क्रोध न छूटता हो तो कम-से-कम पश्चात्ताप ही छोड़ दें। कहीं से तो पुराना टूटे। लेकिन नहीं, क्रोध भी जारी रहेगा, पश्चात्ताप भी जारी रहेगा। वही-वही रोज दोहराता रहेगा। आदमी की पूरी जिन्दगी एक रिपीटीशन है। कोल्हू के बैल से भिन्न नहीं है। कोल्हू के बैल को भी शक पैदा होता होगा कि बड़ी यात्रा कर रहे हैं। क्योंकि आँखें तो बँधी होती हैं और पैर चलते रहते हैं तो कोल्हू के बैल को भी ख्याल तो आता ही होगा कि कितना चल चुके! न मालूम पृथ्वी की यात्रा कर ली कि कहाँ पहुँच चुके! मन भी कोल्हू के बैल की तरह चलता है वर्तुल में। वही कर रहे हैं आप रोज। अगर एक आदमी अपनी जिन्दगी की डायरी रखे, लेखा-जोखा रखे तो बहुत चकित होगा कि कहीं मैं मशीन तो नहीं हूँ? वही-वही दोहराये चला जा रहा है! वही सुबह है, वही उठना है, वही साँझ है! अगर पति-पत्नी बीस साल साथ रह लेते हैं तो पति साँझ को देर से लौट कर घर में क्या कहेगा, पत्नी पहले से जानती है। बीस साल का अनुभव! पति जो भी कहेगा उसका क्या परिणाम पत्नी पर होगा, वह पति जानता है। फिर भी पति वही कहेगा और पत्नी वही कहेगी।

इस तरह मन की यान्त्रिकता में जो डूब कर, मूर्च्छित हो कर चल रहा है, उसे कितने ही अवसर मिलें, वह सारे अवसर चूक जायगा। अवसर हमें कम नहीं मिलते। अवसर बहुत हैं। लेकिन हम हर अवसर चूक जाते हैं। हम अवसर चूकने में कुशल हैं। जिन्दगी रोज मौका देती है कि तुम नये हो जाओ, मत करो पुराना। लेकिन हम फिर पुराना करते हैं। यह होता है इसलिए कि 'अपने किये

हुए का स्मरण कर', यह सूत्र हमारे ख्याल में नहीं है। जब आप कल क्रोध करें तो क्रोध करने के पहले अपने मन से कहें कि हे मेरे मन, अपने पहले किये हुए क्रोधों का स्मरण कर! पहले दो क्षण रुक कर अपने पहले किये हुए क्रोधों का स्मरण कर लेना, फिर क्रोध करना। और मैं आपसे कहता हूँ कि आप क्रोध करने में असमर्थ हो जायेंगे। जब कल मन फिर वासना से भर जाय तब अपने मन को कहना कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपनी पहली की हुई वासनाओं का स्मरण कर। पहले उनका स्मरण कर ले। नयी यात्रा पर निकलने के पहले पुराने अनुभव को ख्याल में ले ले। नहीं, फिर आप यात्रा पर नहीं निकल पायेंगे। वासना वहीं ठिठक कर खड़ी हो जायेगी। **इतना होश काफी है मन की यान्त्रिकता को तोड़ देनें के लिए।**

गुरजिएफ ने लिखा है अपने संस्मरणों में कि मेरा पिता मर रहा था। उसके एक वचन ने मेरी पूरी जिन्दगी बदल दी। मरता था पिता तब गुरजिएफ तो बहुत छोटा था। घर में सबसे छोटा लड़का था। बाप बहुत बूढ़ा था। उसने सब बेटों को अपने पास बुलाकर कान मे मरते वक्त कुछ कहा। सबसे छोटे बेटे को भी बुलाया। उससे कहा कि झुक, आ मेरे पास और एक बात तुझसे कह जाता हूँ वह जीवनभर स्मरण रखना। मेरे पास तुझे देने को और कोई सम्पत्ति नही है। भोला लड़का, उसने कान झुका लिया। बाप ने उससे कहा कि एक बात का वचन मुझे दे दे कि जब भी कोई बुरा काम करने का सवाल उठे तो तू चौबीस घण्टे रुक कर करना। करना जरूर। लेकिन चौबीस घण्टे रुक जाना। वह मेरे से वायदा कर। क्रोध करना हो, बिलकुल करना। मैं मना नहीं करता हूँ। लेकिन चौबीस घण्टे रुक कर करना। किसीकी हत्या करनी हो, बिलकुल करना। लेकिन चौबीस घण्टे रुक कर करना। गुरजिएफ ने पूछा; लेकिन इसका मतलब क्या है? उसके बाप ने कहा कि इससे तू अच्छी तरह से कर सकेगा। चौबीस घण्टे रुक जायगा तो ठीक से नियोजना, योजना बना सकेगा। प्लानिंग कर सकेगा। और भूल-चूक कभी नहीं होगी यह मेरी जिन्दगी का अनुभव है। यह अनुभव मैं तुझे दिये जाता हूँ।

गुरजिएफ ने लिखा है कि उस एक बात से मेरी जिन्दगी बदल गयी। क्योंकि **चौबीस घण्टे तो बहुत देर की बात हो गयी, चौबीस क्षण भी अगर कोई बुराई करने में ठहर जाय तो नहीं कर पाता है।** क्रोध जब आपको आये आप घड़ी देखने लगें, और कहें कि एक मिनट घड़ी देख लूँ, फिर करूँगा। एक मिनट घड़ी का काँटा देखें। जब सेकेंड का काँटा पूरा चक्कर लगा ले तब घड़ी नीचे करके क्रोध शुरू कर दें। आप क्रोध नहीं कर पायेंगे, क्योंकि इस साठ सेकेंड के बीच में पिछले किये हुए क्रोधों की सारी झलक और प्रतिबिम्ब लौट आयगा। वे सारे पश्चात्ताप,

वे सारी कसमें जो आपने खायीं थीं, वे सब निर्णय कि अब नहीं करूँगा, वे सब दोहर जायेंगे। और आप असमर्थ हो जायेंगे क्रोध करने में। लेकिन बुराई करने में हम इतना नही रुकते। हाँ, भलाई करने में हम जरूर रुकते हैं।

एक मित्र को सन्यास लेना है। वह आज आये थे। कहने लगे कि मेरा जन्म-दिन आ रहा है, दो-तीन महीने बाद—तब। अगर क्रोध करना हो तो जन्म-दिन तक कोई नहीं रुकता। संन्यास लेना हो तो जन्म-दिन तक! मैंने उनसे कहा कि पक्का है? ऐसा तो नहीं होगा कि अगली बार तुम कहो कि मृत्यु-दिन जब आयेगा तब लूंगा! **और जन्म-दिन का भरोसा है कि वह मृत्यु-दिन नहीं बन जायगा?** **एक पल का भी भरोसा नहीं है।** लेकिन भलाई को हम पोस्टपोन (स्थगित) करते हैं। बुराई को हम तत्काल करते हैं कि कही ऐसा न हो कि समय चूक जाये और बुराई न हो पाये।

नहीं, बुराई को स्थगित करना, भलाई को तत्काल कर लेना। क्योंकि पल का भी भरोसा नही है। **भलाई एक क्षण भी चूक गयी तो फिर जरूरी नहीं कि करने का मौका मिलेगा। और पलभर भी बुराई के लिए रुक गये तो मैं कहता हूँ कि फिर कभी न कर पायेंगे।** उतना रुकने मे जो समर्थ है वह बुराई करने में असमर्थ हो जाता है। ध्यान रखें, एक पल बुराई को रोकने में जो समर्थ है वह बुराई करने में असमर्थ हो जाता है। वह बड़ा सामर्थ्य है—एक क्षण रुक जाने का सामर्थ्य। जब आँख में खून उतरने लगे और हाथ की मुट्ठियाँ भिचने लगे तब एक क्षण क्रोध मे रुक जाने का सामर्थ्य इस जगत् में बड़े-से-बड़ा सामर्थ्य है। इस सूत्र को इसीलिए ऋषि ने कहा है—खुद के व्यंग्य के लिए भी और आप सबके व्यंग्य के लिए भी। आप सबकी भी खूब हँसी है उसमें।

आज के लिए इतना।

दो-तीन बातें ध्यान के सम्बन्ध मे समझ ले। फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे। और कह दूं सबसे पहले कि ध्यान को स्थगित मत करना, पलभर के लिए भी। यह मत सोचना कि कल कर लेंगे। ध्यान को करना अभी। दो-तीन बातें समझ लें फिर उठें, अभी बैठे रहें।

एक तो जो लोग मेरे पीछे बैठे हैं, जिनको मैंने कल कहा कि पीछे बैठें। उनसे यह नहीं कहा है कि बैठे रहें। वे कुछ ऐसा समझ गये, मालूम होता है, कि बैठे रहो। नहीं, बैठकर करने को कहा है। मैंने पीछे लौट कर देखा तो मुश्किल मे आठ-दस लोग कर रहे थे, बाकी लोग बैठे हुए थे। बैठे होने से कुछ भी न मिलेगा। और कभी-कभी मुझे हैरानी होती है कि इतने लोग कर रहे है, इतने लोग आन्दोलित है, इतने लोग आनन्दमग्न होकर नाच रहे हैं, क्या आपके भीतर पत्थर है, हृदय नही

है, जिसमें जरा-सी भी कोई चहल-पहल नहीं होती ? इतने लोगों को आनन्दित देख आपका कोई रोयाँ नहीं कँपता ? नहीं, मुझे लगता है, रोयाँ तो कँपता होगा। आप बड़े समझदार हैं। उसको दबा कर बैठे रहते हैं कि कहीं कँप न जाय। कृपा करके अपने को छोड़ें। 'लेट गो।' इतने शरीर जहाँ नाच रहे हैं, इतने लोग जहाँ मुक्त मन से, सरल चित्त से बच्चों जैसे सरल हो गये हैं, वहाँ अपनी कठोरता को लिये बैठे मत रहें। कठोरता को छोड़ें। आन्दोलित हों।

और ध्यान रखें, कुछ मित्रों को ऐसा ख्याल है कि जब अपने से होगा तब करेंगे। सौ में से नब्बे प्रतिशत लोगों को अपने से हो जायगा, दस प्रतिशत लोगों को नहीं होगा। और दस प्रतिशत वे ही लोग हैं, जिनको समझदार होने का भ्रम होता है। उनको कुछ तोड़ना पड़ेगा अपनी तरफ से। तो मैं आपसे कहता हूँ कि जिनको अपने से न होता हो, वे करना शुरू करें। दो क्षण करेंगे, तीसरे क्षण स्पोंटेनियस, सहज आविर्भाव हो जायगा। एक दफा झरना टूट जाय, गति आ जाय तो सहज स्फुरणा शुरू हो जाती है। आज तो एक दिन और बचा है, इसलिए मैं चाहूँगा कि कोई भी वंचित न रहे। इसलिए सारे लोग सम्मिलित हो। नीचे जो लोग खड़े है वह खड़े हो जायें। ऊपर से भी जिनको खड़े होकर करना है वह नीचे चले जायें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्ने ! हमें कर्म फल भोग के लिए सन्मार्ग से ले चल । हे देव ! तू समस्त ज्ञान और कर्मों को जानने वाला है । हमारे पाखण्डपूर्ण पापों को नष्ट कर । हम तेरे लिए अनेकों नमस्कार करते हैं ॥१८॥

पर्वतों से उतरते हुए झरनों को हमने देखा है। सागर की ओर बहती हुई नदियों से हम परिचित हैं। जल सदा ही नीचे की ओर बहता है—और नीची जगह, और नीची जगह खोज लेता है। गड्ढों में ही उसकी यात्रा है। अधोगमन ही उसका मार्ग है। उसकी प्रकृति है नीचे, और नीचे, और नीचे। जहाँ नीची जगह मिल जाये वहीं उसकी यात्रा है। अग्नि बिलकुल ही उल्टा है। सदा ही ऊपर की तरफ बहता है। ऊर्ध्वगामी उसका पथ है। आकाश की ओर ही दौड़ता चला जाता है। कहीं भी जलायें उसे, कैसे भी रखें उसे, उल्टा भी लटका दें दिये को तो भी ज्योति ऊपर की तरफ भागना शुरू करती है। अग्नि का यह ऊर्ध्वगमन अति प्राचीन समय में ही ऊर्ध्वगामी चेतनाओं को ख्याल में आ गया था। चेतना दोनों तरह से बह सकती है। पानी की तरह भी और अग्नि की तरह भी। साधारणतः हम पानी की तरह बहते हैं। साधारणतः हम भी नीचे गड्ढे और गड्ढे खोजते रहते हैं। हमारी चेतना नीचे उतरने को रास्ता पा जाय तो हम ऊपर की सीढ़ी तत्काल छोड़ देते हैं। साधारणतः हम जल की तरह हैं। होना चाहिए अग्नि की तरह कि जहाँ ज़रा-सा अवसर मिले ऊपर बढ़ जाने का, हम नीचे की सीढ़ी छोड़ दें। जहाँ ज़रा भी मौका मिले पंख फैला कर आकाश की तरफ उड़ जाने का, हम तैयार रहें।

अग्नि इसलिए प्रतीक बन गया, देवता बन गया। ऊर्ध्वगमन की जिनकी अभीप्सा थी, ऊपर जाने का जिनका इरादा था, आकांक्षा थी जिनकी निरन्तर श्रेष्ठतर आयामों में प्रवेश करने की, उनके लिए अग्नि प्रतीक बन गया, देवता बन गया। एक और कारण से अग्नि प्रतीक बना और देवता बना। जैसे ही

व्यक्ति ऊपर की यात्रा पर निकलता है, ऊपर की यात्रा साथ ही साथ भीतर की यात्रा भी है। और ठीक वैसे ही नीचे की यात्रा साथ ही साथ बाहर की यात्रा भी है। गहरे अर्थों में बाहर और नीचे पर्यायवाची हैं। भीतर और ऊपर पर्यायवाची हैं। **जितने भीतर जायेंगे, उतने ऊपर भी चले जायेंगे। जितने बाहर जायेंगे उतने नीचे भी चले जायेंगे**। या जितने नीचे जायेंगे उतने बाहर चले जायेंगे और जितने ऊपर जायेंगे उतने भीतर चले जायेंगे। अस्तित्व की दृष्टि से ऊपर और भीतर एक ही अर्थ रखते हैं। भाषा की दृष्टि से नहीं, अनुभव की दृष्टि से बाहर और नीचे एक ही अर्थ रखते हैं। वे पर्यायवाची हैं। जिन लोगों ने भी ऊपर की यात्रा करनी चाही, उन्हे भीतर की यात्रा करनी पड़ी। और जैसे-जैसे भीतर प्रवेश हुआ, वैसे-वैसे अन्धेरा कम हुआ और ज्योति बढ़ी, प्रकाश बढ़ा। अन्धकार क्षीण हुआ और आलोक बढ़ा। अग्नि इसलिए भी प्रतीक बन गया—अन्तर्यात्रा का।

और भी एक कारण से अग्नि प्रतीक बन गया और उसका स्मरण बड़ी ही श्रद्धा से किया जाने लगा। अग्नि की एक और खूबी है, उसका एक और स्वभाव है। **शुद्ध को बचा लेता है, अशुद्ध को जला देता है**। डाल दे सोने को तो अशुद्ध जल जाता है, शुद्ध निखर आता है। तो अग्नि परीक्षा बन गया—अशुद्ध को जलाने के लिए और शुद्ध को बचाने के लिए। अग्नि-परीक्षा, वस्तुतः कोई सीता को किसी अग्नि में डाल दिया हो, ऐसा नहीं है। अग्नि-परीक्षा एक प्रतीक बन गया। वह प्रतीक हो गया इस बात का कि अग्नि उसको जला देगा, जो अशुद्ध है और उसे बचा लेगा, जो शुद्ध है। वह अग्नि का स्वभाव है। शुद्ध को बचा लेने की उसकी आतुरता है। अशुद्ध को नष्ट कर देने की उसकी आतुरता है।

बहुत कुछ है, जो अशुद्ध है, हमारे भीतर। इतना ज्यादा है कि सोने का तो पता ही नहीं चलता। कहीं होगा छिपा हुआ। कोई ऋषि कभी घोषणा करता है स्वर्ण की। हम तो मिट्टी और कचरे को ही जानते हैं। कोई ज्ञानी कभी पुकारता है कि भीतर स्वर्ण भी है तुम्हारे। हम तो खोजते हैं, तो कंकड़-पत्थर के सिवाय कुछ पाते नहीं हैं। तो स्वर्ण को भी अग्नि में डालना है। **स्वर्ण को अग्नि में डालना ही तप का अर्थ है**। तप ताप से ही बना है, अग्नि से ही बना है। तप का अर्थ ऐसा नही है कि कोई धूप मे खड़ा हो जाय तो तप कर रहा है। तप का अर्थ है कि अन्दर इतनी अग्नि से गुजरे कि उसके भीतर जो भी अशुद्ध है, वह जल जाय और जो भी शुद्ध है, वह रह जाय।

अग्नि में एक-दो बातें और ख्याल मे ले लेनी जरूरी हैं, तब उसके दिव्य रूप का स्मरण करना आसान हो जायेगा। तब उस ऋषि की बात समझनी सुविधा-

जनक हो जायेगी कि हे देवता, हे अग्नि, मुझे सन्मार्ग पर ले चल । यह ख्याल में आ सकेगा कि अग्नि से ऐसी प्रार्थना क्यों की जा सकी । अग्नि को देखा है । पानी को भी देखा है । पानी कितने ही नीचे उतरे, मौजूद रहता है । पहाड़ से उतर आये खाई में तो भी मिट नहीं जाता । अग्नि उठता है आकाश की तरफ, लेकिन जरा ही उठा कि विलीन हो जाता है । असल में जो भी ऊपर की तरफ जायेगा, वह विलीन भी होगा । वह विलीन भी होता जायेगा । वह प्रतिपल लीन होगा । जल्दी ही उसकी अस्मिता खो जायेगी, वह नहीं होगा । आकाश के साथ एक हो जायेगा । अग्नि थोड़ी दूर तक ही दिखायी पड़ता है । अग्नि का पथ थोड़ी दूर तक ही दृश्य है, फिर अदृश्य हो जाता है । आप देख भी नहीं पाते कि गया, शून्य मे खो गया । पानी कितना ही नीचे उतरे, मौजूद रहेगा । नीचे की यात्रा पर अस्मिता मौजूद ही रहेगी । और अगर बहुत नीचे उतर जाय तो पानी बर्फ बन जायगा । और अगर अहकार बहुत नीचे उतर जाये तो पत्थर की तरह सख्त हो जायेगा ।

ध्यान रखें, जितना नीचे उतरते हैं, उतना अहंकार मजबूत, फ्रोजन, सख्त, क्रिस्टलाइज होता है । जितने ऊपर जाते हैं, उतना विरल, क्षीण, विलीन । अग्नि की ज्योति को देखते रहें । थोड़ी देर में पता चलेगा कि गया । कहाँ गया ? बुद्ध से ठीक उनके महानिर्वाण के समय में कोई पूछता है कि जब आप नही होंगे— अभी थोड़ी देर बाद आप कहते हैं, आप नही हो जायेंगे, तो फिर आप कहाँ होंगे ? तो बुद्ध कहते हैं, 'दिये को देखना । और जब दिये की ज्योति आकाश में खो जाये तो पूछना कि ज्योति कहाँ चली गयी । ऐसे ही मैं भी थोड़ी देर में खो जाऊँगा । अब आ गयी है वह घड़ी, जहाँ से ज्योति महाआकाश में लीन हो जायेगी ।'

एक और भी गहरा रहस्य अग्नि के साथ है । और वह रहस्य यह है कि अग्नि सब कुछ जला देता है । सब कुछ जलाता है और अन्त में स्वयं को भी जला लेता है । ईंधन को जलाता है, फिर ईंधन जल जाता है, तो अग्नि बचता नहीं ईंधन को जला कर । ईंधन जला—अग्नि भी जल गया । सब कुछ जल जाता है । अन्ततः अग्नि पीछे बच नहीं रहता । अग्नि भी खो जाता है । दूसरे को जला कर जो बच रहे तब तो हिंसा है । लेकिन दूसरे को विलीन करके जब स्वयं भी कोई लीन हो जाये तो प्रेम है । दूसरे को जला कर कोई बच रहे तो वायलेंस है । लेकिन दूसरे को शून्य करके स्वयं भी शून्य हो जाय तो प्रेम है—तो ही प्रेम है । तो अग्नि दुश्मन नहीं है ईंधन का, प्रेमी है । नहीं तो ईंधन को तो जला डालता और खुद बच जाता । जलाता ही इसलिए कि खुद बच जाय । लेकिन नहीं, ईंधन को जला कर स्वयं भी जलता है और शान्त हो जाता है । मजे की बात

है कि ईंधन तो जल कर भी पीछे राख की तरह बच रहता है, अग्नि उतना भी नहीं बच रहता। इतना शुद्ध है कि पीछे कोई राख नहीं छोड़ता। असल में राख अशुद्धि से बनती है। अग्नि शुद्धतम अस्तित्वमात्र है। पीछे कुछ रूपरेखा भी नही छूटती।

ये सारे ख्याल, ये सारी स्मृतियाँ जिन ऋषियों को आयीं, वे किसी प्रतीक की तलाश मे थे। बड़ी कठिन खोज है। भीतर जो घटित होता है, साधक को उसके लिए बाहर प्रतीक खोजना बड़ी कठिन खोज है। अब तक जो श्रेष्ठतम प्रतीक खोजा जा सका है, वह अग्नि है। वह चाहे पारसियों के मन्दिर में सतत जलता हो, चाहे ऋषियों के यज्ञ मे जलता हो। चाहे हवन में जलता हो, चाहे मन्दिर के दिये में जलता हो। लेकिन अब तक जो श्रेष्ठतम प्रतीक खोजा जा सका है, निकटतम भीतर की घटना के, ऊर्ध्वगमन की घटना के, वह अग्नि है। इसलिए अग्नि को देवता कह सके वे लोग।

देवता किसे कहते हैं? देवता सिर्फ उसे नहीं कहते जो दिव्य है, क्योंकि इस अर्थ मे तो सभी देवता हैं। सभी कुछ दिव्य है, क्योंकि सभी कुछ दिव्य से निकला है। साधारणतः शब्दकोश में खोजने जायेंगे तो देवता का अर्थ होगा—जो दिव्य है—वन हू इज डिवाइन। लेकिन दिव्य तो सभी हैं। किन्हीं को पता होगा, किन्हीं को पता नहीं होगा। दिव्य कौन है, जो नहीं है। पत्थर भी दिव्य है। वृक्ष भी दिव्य है। नदी, पहाड़, आकाश, सभी दिव्य हैं। कण-कण दिव्य हैं। फिर देवता का यह मतलब नहीं हो सकता कि जो दिव्य है। क्योंकि दिव्य तो सभी हैं। फिर विशेष रूप से किसीको देवता कहने का क्या अर्थ है? देवता कहने का अर्थ है, जो दिव्य है इतना ही नहीं, जो दिव्य की ओर ले जाता है। जो दिव्य की ओर उन्मुख करता है, वह देवता है। जो दिव्य की ओर फिराता है, जो दिव्य की ओर इंगित करता है, जो दिव्य की ओर इशारा करता है, जो दिव्य की ओर रुख को मोड़ देता है, जो दिव्य की ओर गति दे देता है, वह देवता है। इसीलिए तो ऋषि कह सके कि गुरु देवता है। और कोई कारण नहीं है। दिव्य तो सभी हैं। इसलिए जहाँ-जहाँ से दिव्यता की ओर इशारा मिल सके, वह सब देवता हो गया। अगर आकाश की तरफ देख कर निराकार का स्मरण आ जाय, तो आकाश देवता हो गया। हमें कठिनाई होती है। जो लोग पढ़ते हैं आज वेद को, उन्हें बड़ी कठिनाई होती है कि आकाश देवता है, इन्द्र देवता है, सूरज देवता है! यह सब क्या पागलपन है! और जब पश्चिम के लोगों ने पहली बार वेद के अनुवाद किये, तो उनको बड़ी कठिनाई पड़ी। उन्होंने कहा, यह पाथीइज्म है। यह सर्वेश्वरवाद है। हर चीज में देवता को देखने की वृत्ति है।

लेकिन नहीं, ऐसा नहीं है। जहाँ से भी दिव्यता का स्मरण मिलता है, जहाँ से भी चोट पड़ती है, आघात पड़ता है, और हृदय की वीणा के तार झंकृत हो जाते हैं और दिव्य की ओर यात्रा शुरू होती है, वही देवता है। देखें आकाश को थोड़ी देर तक। देखते-देखते-देखते आकार क्षीण होगा, निराकार प्रगाढ़ हो जायगा। तो निराकार की ओर आकाश ने इशारा किया। तो क्या इतने कृतघ्न होंगे कि धन्यवाद भी न देंगे कि हे देवता, धन्यवाद। तूने निराकार की ओर स्मरण दिलाया। अग्नि को देखते रहें बैठ कर। यज्ञ का वही अर्थ था। हवन का वही अर्थ था। करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है हवन में कि आप कुछ कर रहे हैं। कि कुछ डाल रहे हैं कि नहीं डाल रहे हैं। यह सब उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि अग्नि के निकट बैठ कर, अग्नि का ऊर्ध्वगमन की यात्रा के साथ आत्मसात् होना महत्त्वपूर्ण है। आग भागी जा रही है ऊपर की तरफ, उसकी लपट खोयी जा रही है महाशून्य में। आप भी उसके पास बैठ कर एकाग्रचित्त हो, ध्यानमग्न हो, उस लपट के साथ एक हो भाग रहे हैं, खो रहे हैं, शून्य में जा रहे हैं। तो फिर अग्नि देवता हो गया।

जहाँ से भी दिव्यता की ओर इशारा है, पुकार है। जहाँ से भी दिव्यता की ओर भीतर की प्यास को चोट है। जहाँ से भी दिव्यता की ओर भीतर सोये हुए बीज को तोड़ने की चेष्टा है, वहीं देवता है। इसलिए ऋषि कहता है कि हे देव, हे अग्नि, मुझे सन्मार्ग पर ले चल। मुझे कुछ पता नहीं कि क्या रास्ता है? मुझे कुछ भी पता नहीं। मुझे यह भी पता नहीं है कि क्या शुभ है, क्या अशुभ है। मैं अज्ञानी हूँ। तू मुझे ले चल। एक बात वहाँ बहुत गहरे में ख्याल में ले लेने जैसी है, वह यह है कि जिसने यह पुकारा कि मुझे सन्मार्ग की तरफ ले चल—यह पुकार ही सन्मार्ग की तरफ जाने का मूल आधार बन जाती है। यह पुकार साधारण नहीं है, यह पुकार बहुत असाधारण है। क्योंकि हमारी प्रत्येक वृत्ति, हमारी प्रत्येक वासना, हमारी प्रत्येक इच्छा असद् मार्ग की तरफ ले जाती है। उसके लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती है। उसके लिए पुकारना भी नहीं पड़ता। उसके लिए प्रकृति ने हमें काफी उपकरण दिया है, वह अपने-आप हमें ले जाती है। नीचे की तरफ उतरना हो, तो किसी पुकार की, किसी प्रार्थना की कोई भी जरूरत नहीं है। अन्धेरे की तरफ जाना हो, तो प्रकृति आपको ले ही जाती है। ले ही जा रही है। आपके ही अपने कर्म लिये जा रहे हैं। आपकी ही अपनी आदतें और संस्कार लिये जा रहे हैं। सब लिये जा रहा है। यह बड़े मजे की बात है कि आज तक पृथ्वी पर किसीने यह प्रार्थना नहीं की कि हे प्रभु, मुझे असद् मार्ग पर ले चल। इसमें प्रभु की कोई जरूरत नहीं पड़ी। आदमी

खुद ही काफी समर्थ है। इसमें प्रभु की सहायता की कोई भी जरूरत नहीं है। **इसमें तो प्रभु को भी असद् मार्ग पर ले जाना हो तो आदमी ले जा सकता है।** और बड़े मजे की बात है कि असद् मार्ग बहुत संकटपूर्ण है। फिर भी कोई प्रार्थना नहीं करता। करनी चाहिए। कि मैं असद् मार्ग पर जा रहा हूँ, हे प्रभु! सहायता करना, सुरक्षा करना। असद् मार्ग बहुत संकट की अवस्था है। बहुत पीड़ा में, बहुत दुख में जाना है। बहुत विक्षिप्तता में, पागलपन में उतरना है। अपने ही हाथों उपद्रव को निमंत्रण है। तो प्रभु की सहायता माँगनी चाहिए कि मेरा ख्याल रखना, लेकिन कोई नहीं माँगता। क्योंकि प्रत्येक जानता है कि हम पर्याप्त हैं। हम ही निपट लेंगे। आदमी असद् में इतना समर्थ है, लेकिन जहाँ सन्मार्ग का सवाल है, जहाँ सद् की यात्रा है, वहाँ आदमी अचानक पाता है कि असमर्थ हूँ। उसकी असमर्थता का कारण है। सारी वासनाएँ उसे खींचती हैं नीचे की तरफ और कोई बिल्टइन, कोई प्रकृति की तरफ से दी गयी ऐसी वासना नहीं है, जो उसे सहज ऊपर की तरफ ले जाती हो। अगर वह कुछ न करे और खड़ा रहे तो अपने-आप नीचे जाता रहेगा। अगर वह कुछ न करे, खड़ा रहे तो अपने-आप उतरता रहेगा। उतार से, ढलान से नीचे लुढ़कता रहेगा। प्रकृति की कशिश काफी है, वह उसे खींचती जायेगी नीचे और नीचे और नीचे। और हर कदम पर लगेगा कि और थोड़ा नीचे उतर जाऊँ। ये पूरे प्राण कहेंगे कि और थोड़े नीचे उतर चलो। और सुख है नीचे। अगर दुख पा रहे हो, तो इसीलिए पा रहे हो कि कुछ और थोड़े नीचे नहीं उतर पा रहे हो।

तथाकथित ईमानदार आदमी मुझे मिलते हैं, तो वह कहते हैं कि देख रहे हैं आप, बेईमान कितना सुख उठा रहे हैं? तथाकथित ईमानदार कहता हूँ मैं उन्हें। क्योंकि जिसको बेईमान में सुख दिखायी पड़ता है, वह ज्यादा देर ईमानदार रह नहीं सकता। गहरे में तो होगा ही नहीं। और अगर ईमानदार दिखायी पड़ता है, तो सिर्फ भयभीत होगा, इसलिए दिखायी पड़ता है। बेईमान होने के लिए भी साहस चाहिए। बेईमान होने के लिए भी हिम्मत चाहिए। वह हिम्मत उसमें नहीं है। कमजोर आदमी है, कायर है। बेईमानी कर नहीं सकता, लेकिन 'बेईमान रस ले रहे हैं, बेईमान सफल हो रहे हैं, बेईमान सुख पा रहे हैं', यह जरूर उसकी पूरी वासनाएँ उससे कहे जा रही हैं कि तू चूक रहा है। नीचे की पुकार सब ओर से है। भीतर से भी प्रकृति का सारा उपकरण कहता है, नीचे उतरो। क्यों? **क्योंकि जितने आप नीचे उतरते हैं, उतना प्राकृतिक हो जाते हैं।** जितना ऊपर उठते हैं, उतना प्रकृति के अतीत होते हैं, उतने प्रकृति के पार होते हैं। स्वाभाविक है कि प्रकृति कहे कि और नीचे उतर आओ, यहाँ बहुत विश्राम है।

अगर बिलकुल पत्थर हो जाओ तो पूरा विश्राम है। उतर आओ, छोड़ दो चेतना। चेतना ही तुम्हारा दुख है। वृत्तियाँ कहती हैं, वासनाएँ कहती हैं कि छोड़ दो चेतना। चेतना ही तुम्हारा दुख है, मूर्च्छित हो जाओ। इसलिए आदमी शराब खोजता है, नशे खोजता है। बेहोश होने की हजार तरकीबें खोजता है कि उतर जाये नीचे, और नीचे। तो नीचे उतरने का तो पूरा इन्तजाम है, ऊपर उठने का कोई इन्तजाम नहीं है। और ऊपर उठे बिना कोई आनन्द नहीं, कोई शान्ति नहीं। यह दुविधा है। कहें कि यह ह्यूमन पैरोडाक्स, यह ह्यूमन डायलेमा है। **यह मनुष्य का द्वंद्व है कि नीचे जाने का सब उपाय है और ऊपर जाये बिना कोई उपाय नहीं है।** ऊपर पहुँचे बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। नीचे जाने के लिए सब सुविधाएँ उपलब्ध हैं, ऊपर जाने के लिए कोई मार्ग नही। और ऊपर जाये बिना सिवाय भटकाव के कुछ हाथ में लगता नही। तो ऐसी असहाय अवस्था है आदमी की, ऐसी हेल्पलेसनेस। इस हेल्पलेसनेस से उठती है प्रार्थना। **इस असहाय अवस्था के बोध से उठती है प्रार्थना।** तो ऋषि कह रहा है कि हे देवता, मुझे सन्मार्ग की तरफ ले चल। ऐसा नही है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जायगा। यह भी समझ ले। क्योंकि उससे बड़ी भ्रान्तियाँ फैली हैं। ऐसा नहीं है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जायगा। सन्मार्ग की तरफ तो जाना है आपको ही। लेकिन यह प्रार्थना आपको जाने मे समर्थ बनायेगी। यह प्रार्थना आपके भीतर एक द्वार तोड़ेगी। आपके भीतर यह प्रार्थना अगर सघन हो जाय, घनीभूत हो जाय, अगर प्यास और पुकार बन जाय और रोयाँ-रोयाँ चिल्लाने लगे, श्वाँस-श्वाँस कहने लगे कि ले चल मुझे प्रभु, हे दिव्य अग्नि, मुझे ले चल ऊपर, जहाँ सब खो जाय, मै भी खो जाऊँ, वही रह जाय, जो मैं नही था, तब था, और जब मैं नही रहूँगा तब रहेगा। **यह प्रार्थना––देवता नहीं कोई, यह प्रार्थना ही जब आपके भीतर सघन होनी शुरू होती है, तो आपको सन्मार्ग पर ले जाने का कारण बनती है।** क्योंकि हम वही चले जाते हैं, जहाँ हम जाने की तीव्र आकांक्षा पैदा करते है। हमारे विचार ही हमारे कृत्य बन जाते हैं।

एडिंगटन ने एक बहुत अद्भुत वाक्य लिखा है और एडिंगटन जैसे आदमी ने लिखा है, इसलिए और अद्भुत है। एडिंगटन पिछले पचास वर्षों के श्रेष्ठतम वैज्ञानिको मे एक है। नोबुल प्राइज विनर है। जीवन के अन्तिम समय में अपने संस्मरणो मे लिखा है कि जब मैने वैज्ञानिक खोज शुरू की और जब मैं युवा था, तो म सोचता था, जगत् वस्तुओं का समूह है। लेकिन जैसे-जैसे मैं खोज में गहरा गया और जैसे-जैसे मैंने प्रकृति के रहस्यों का साक्षात्कार किया, अब मैं अपने जीवन

के अन्त में टेस्टामेण्ट करता हूँ, इस बात की बसीयत करता हूँ कि द युनिबर्स रिजेम्बल्स मोर ए थाट दैन ए थिंग । यह जो विश्व है, यह एक विचार की तरह ज्यादा है, बजाय एक वस्तु की तरह । रिजेम्बल्स मोर ए थाट, एक विचार की भाँति ज्यादा ।

बुद्ध ने धम्मपद के पहले वचन में कहा है, **तुम जो सोचोगे, वही हो जाओगे** । इसलिए सोच-समझ कर सोचना । क्योंकि कल किसी और को जिम्मेदार नहीं ठहरा पाओगे। और जो तुम आज हो गये हो, वह तुमने जो कल सोचा था, उसका परिणाम है । हमारी ही नासमझियाँ फलीभूत हो जाती हैं । हमारे ही गलत भाव सघन होकर आचरण बन जाते हैं । हमारे ही विचार केन्द्रीभूत होकर जीवन बन जाते हैं । उठती है विचार की सूक्ष्म तरंग, चल पड़ी यात्रा पर, आज नहीं कल वस्तु बन जायेगी । सभी वस्तुएँ विचार के सघन रूप हैं—कण्डेंस्ड थाट । हम जो हैं, हमारे विचार का फल हैं । तो अगर कोई प्रार्थना इतनी सघन हो जाय कि प्राण का रोयाँ-रोयाँ कम्पित होने लगे, हृदय की धड़कन-धड़कन आन्दोलित होने लगे । रात के स्वप्न भी उससे प्रभावित हो जायँ, दिन की विचारणा भी उसमें डूबे । रात की निद्रा में भी वह आपके प्राणों में सरकने लगे । वह आपके जीवन की धुन बन जाय तो परिणाम आ जायगा । कोई देवता नहीं आयगा आपकी सहायता को । लेकिन, दिव्य जहाँ-जहाँ हमें दिखायी पड़ता है, उससे की गयी प्रार्थना हमें तैयार करेगी । इस भेद को समझ लेना जरूरी है । अगर आपके ख्याल में यह है कि हम प्रार्थना करें और निश्चित हो गये, क्योकि देवता सम्हालेगा । जैसा कि अधिक लोग समझ बैठे है कि ठीक है, हमने प्रार्थना कर दी, अब काफी ओब्लाइज कर दिया देवता को । काफी अनुग्रह किया कि हमने प्रार्थना कर दी । बाकी तुम करो । न करो, तो कल हम शिकायत लेकर खड़े हो जायेंगे । अगर और बिलकुल न किया तो कल हम कहेंगे कि कोई देवता नही है । सब झूठ है । नहीं, प्रार्थना का यह अर्थ नहीं है कि हम किसी और पर छोड रहे हैं काम । प्रार्थना का यही अर्थ है कि हम प्रार्थना के बहाने—प्रार्थना एक डिवाइस है—**हम प्रार्थना के बहाने अपने रोयें-रोयें तक को कम्पित कर रहे हैं** । और ध्यान रहे, प्रार्थना सर्वाधिक रोओं तक प्रवेश पाती है । अगर कोई पूरे भाव से प्रार्थना में रत हो जाय तो कण-कण शरीर का पुकारने लगता है । कोई विचार इतना गहरा नहीं जाता, जितनी प्रार्थना गहरी जाती है । कोई वासना भी इतनी गहरी नही जाती, जितनी प्रार्थना जाती है, लेकिन प्रार्थना करने की क्षमता हो तब ।

ऐसी कोई भी वासना नही है जिसके बाहर आप न छूट जाते हों । आप

बाहर छूट ही जाते हैं। सेक्स जैसी वासना, जो कि गहनतम वासना है, उसके भी बाहर आप छूट जाते हैं। उसके भीतर भी आप पूरे नहीं होते। उसके भी आप बाहर होते हैं। कोई हिस्सा—गहन हिस्सा तो चेतना का बाहर ही रह जाता है। काम-वासना में भी ज्यादा-से-ज्यादा शरीर प्रवेश करता है। जो बहुत कामातुर हैं, उनके मन का छोटा-सा हिस्सा प्रवेश करता है। लेकिन चेतना और आत्मा तो बिलकुल बाहर रह जाती है। टोटल आप उसमें नहीं हो पाते। वही तो काम-वासना की पीड़ा है। कामवासी मन कहता है कि पूरा इसमें डूब जाऊँ और रस ले लूं, लेकिन पूरा कभी डूब नहीं पाता। हमेशा पाता है डूबा, नहीं डूब पाया। गया एक सीमा तक, और वापस लौट आया। डूबने का क्षण आया था कि टूटने का क्षण आ गया। **प्रार्थना अकेली एक घटना है, जिसमें आदमी पूरा डूब पाता है—पूरा।** जिसमें कुछ भी बाहर शेष नहीं रह पाता। प्रार्थना करने वाला भी बाहर शेष नहीं रह जाता, तभी प्रार्थना पूरी होती है। अगर प्रार्थना करने वाला मौजूद है और प्रार्थना आप कर रहे हैं, तो प्रार्थना एक बाहरी कृत्य है। वह आपको छुयेगा नहीं। आप अछूते रह जायेंगे। लेकिन प्रार्थना इतनी गहरी हो सकती है, हो जाती है, कि प्रार्थना करने वाला पीछे बचता ही नहीं। **प्रार्थना ही बचती है।** तब उस प्रार्थना के आन्दोलन में, उस प्रार्थना के कम्पन मे घटना घटती है और सन्मार्ग की यात्रा शुरू हो जाती है। पूरा रुख बदल जाता है। नीचे की यात्रा की तरफ से चेहरा फिर जाता है, ऊपर की तरफ चेहरा हो जाता है। **अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि वह ऊर्ध्वगामी है। अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि वह अशुद्धि को जला देने वाला है। अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि उसमें कोई अस्मिता नहीं है, वह बहुत जल्दी आकाश में लीन हो जाता है। जब कोई प्रार्थना से भरता है पूरा तो अग्नि की एक लपट बन जाता है—ए फ्लेम, और एक ऐसी लपट, जिसमें धुआँ नहीं होता।** पहले तो होता है। पहले जब कोई प्रार्थना शुरू करता है, तो अग्नि सीधी नहीं होती, धुआँ बहुत होता है। क्योंकि ईंधन हमारा बड़ा गीला होता है। जितनी ज्यादा वासनाएँ होती हैं, उतना ईंधन गीला होता है। जैसे लकड़ी पर पानी पड़ा हो, तो आग लग भी जाय तो धुआँ ही धुआँ पैदा होता है। इसलिए घबड़ा मत जाना। प्रार्थना की यात्रा पर निकले व्यक्ति को पहले अग्नि का साक्षात्कार नहीं होता, धुएँ का ही साक्षात्कार होता है। क्योंकि हमारे पास ईंधन बहुत गीला है। इसलिए दूसरी बात ऋषि ने उसमें कही है कि मेरे पिछले किये हुए जो कर्म हैं, उनको भी तू जला दे। क्योंकि वे पिछले किये हुए कर्म ही हमारा ईंधन है। और वे बड़े गीले हैं।

कर्म सूखा कब होता है और गीला कब होता है ? किस कर्म को गीला कहें और किस कर्म को सूखा कहें ?

सूखा कर्म अगर हो तो ऊपर की यात्रा बड़ी आसान हो जाती है, क्योंकि वह ठीक ईंधन बन जाता है । और गीला कर्म अगर हो तो ऊपर की यात्रा मुश्किल हो जाती है, क्योंकि गीला ईंधन कैसे जले । धुआँ ही पैदा होता है । **जिस कर्म को करके आप उसके बिलकुल बाहर हो जाते हैं वह कर्म सूखा होता है । जिस कर्म को करके भी आप उसके भीतर अड़े रह जाते हैं वह गीला होता है** । जिस कर्म को करते समय आप साक्षी हो पाते हैं, विटनेस हो पाते हैं, वह सूखा हो जाता है और जिस कर्म को करते वक्त आप साक्षी नही हो पाते, कर्ता बन जाते हैं, वह गीला हो जाता है । जिस कर्म को करते वक्त अहंकार खडा हो जाता है और कहता है, मैं कर रहा हूँ, वह कर्म गीला हो जाता है। जिस कर्म को करते वक्त आप कहते हैं, परमात्मा करवा रहा है, प्रकृति करवा रही है, मैं तो देख रहा हूँ । ऐसा कहते ही नही हैं, ऐसा जानते हैं, ऐसा जीते है, ऐसा अनुभव करते हैं तो कर्म सूखा हो जाता है। जिनके पास सूखे कर्मों का ईंधन है उनकी जीवन की ज्योति, उनकी जीवन की लपट तत्काल ब्रह्म में छलाँग लगा लेती है । जिनके पास गीले कर्मों का ईंधन है, उन्हे कठिनाई होती हैं । ऋषि जानता है कि बहुत कर्म गीले हैं । हम सबके बहुत कर्म गीले हैं ।

तो एक तो कर्म को सूखा करने की कोशिश करना । क्योंकि अकेली प्रार्थना से कुछ भी न होगा । कर्म को सूखा करने की कोशिश करना । **अतीत के कर्मों से अपने अहंकार को तोड़ लेना । आज के कर्मों से तो तोड़ ही डालना । आने वाले कल के कर्मों से तो अपने को जोड़ना ही मत** । ऐसे कर्म सूखे हो जायेगे। और अगर प्रार्थना की लपट जोर से पकड ले तो प्रार्थना की अग्नि उन्हें जला देगी, भस्मीभूत कर देगी । लेकिन आप यह स्मरण सदा ही रखना कि कोई और आकर आपकी प्रार्थना को पूरा नही कर जायगा । आपकी प्रार्थना के करने में ही आप बदल जाते हैं । **प्रार्थना करना ही रूपान्तरण है** । रूपान्तरण पीछे से आता नही । प्रार्थना मे ही फलित हो जाता है । इसलिए **प्रार्थना का फल मत देखना, प्रार्थना स्वयं फल है** । प्रार्थना करके चुपचाप भूल जाना । प्रार्थना स्वयं ही फल है । आप कर सकें, यही बड़ी बात है । लेकिन हमारे ख्याल गलत हैं । हम सोचते है कि प्रार्थना कर दी हमने, अब कोई प्रार्थना को पूरा करेगा । तो अब हमें प्रतीक्षा करनी है । हमने कर दी, अब हमें प्रतीक्षा करनी है ।

प्रार्थना बहुत जीवंत क्रिया है—आग ही जैसी । प्रार्थना के तीन पहलू हैं, वह मैं आपको कह दूँ तभी ख्याल में आ सकेगा । एक, जब आप प्रार्थना करते हैं

तब आप अहंकार को विदा देते हैं। क्योंकि अहंकार के रहते प्रार्थना नहीं हो सकती। जब ऋषि कहता है, हे अग्नि, हे देवता, मुझे सन्मार्ग दिखा, क्योंकि मुझे कुछ पता नहीं, तब उसने अपने अहंकार को विदा दे दी। जब तक आपका अहंकार है, आप प्रार्थना न कर पायेंगे। जब आप प्रार्थना करेंगे तब आपको अहंकार को विदा देनी पड़ेगी। प्रार्थना अपनी ह्यूमिलिटी, अपनी विनम्रता की पूर्ण स्वीकृति है। आप प्रार्थना नहीं कर सकते, प्रार्थना करने में आपको मिटना पड़ेगा। आप मिटेंगे तो ही प्रार्थना हो सकेगी। तो पहली बात, प्रार्थना करना इस बात की सूचना है कि मैं अपनी हंबुलनेस को, अपनी विनम्रता को स्वीकार करता हूँ। अपनी असहाय अवस्था को, हेल्पलेसनेस को स्वीकार करता हूँ। कहता हूँ, मुझसे कुछ नहीं हो सकता है। घोषणा करता हूँ कि मैं कुछ भी करने में समर्थ नहीं। मैं अंगीकार करता हूँ कि जो भी मैंने किया वह नीचे ले गया। जो भी मैंने किया उससे मैं उलझा और उलझन में पड़ा। मेरा किया हुआ ही मेरा नर्क बन गया है। मेरे किये हुए कर्मों के जाल ने ही मेरी छाती के ऊपर पत्थर रख दिये हैं। अब मैं और नहीं करता, अब मैं कहता हूँ, हे देवता, हे प्रभु, अब तू ही कर। अब तू मुझे ले चल। फिर भी मैं कहता हूँ कि इसका यह मतलब नहीं कि देवता आपको ले जायगा। यह प्रार्थना ही अगर पूरे हृदय से की गयी और अहंकार निःशेष हो गया तो ले जायेगी। यह प्रार्थना ही ले जायेगी। तो पहला सूत्र; अहंकार नहीं।

दूसरा सूत्र; अपने पर भरोसा बहुत कर लिये। एक आदमी फकीर इकहार्ट के पास जाकर कह रहा था : आई एम ए सेल्फमेड मैन। मैं एक ऐसा आदमी हूँ, जिसने खुद ही अपने को निर्मित किया है। इकहार्ट ने उसकी बात सुनी, आकाश की तरफ हाथ जोड़े और कहा, हे परमात्मा, बहुत-सी जिम्मेदारियों से तू मुक्त हो गया—यू आर फ्री आफ मच रिस्पांसबिलिटी। यह आदमी सेल्फमेड है, यह अच्छा है। नही तो मैं यही सोच रहा था कि हे भगवन्, ऐसे-ऐसे आदमी तू कैसे बना देता है! लेकिन तू सेल्फमेड है, तेरी बड़ी कृपा है। कम-से-कम भगवान् अपराधी होने से बच गया। नहीं तो जिम्मा भगवान् पर ही जाता। हम सब अपने पर बहुत भरोसा करते हैं। हममें से अधिक लोग अपने को सेल्फमेड मानते हैं। अपने को सेल्फमेड मानना, अपने को अपने द्वारा निर्मित मानना वैसे ही है, जैसे कोई अपना बाप होने की कोशिश करे। करते हैं सभी लोग। पूरी जिन्दगी यही चेष्टा है कि हम सिद्ध कर दें कि हम अपने बाप हैं। या ऐसी चेष्टा है कि कोई अपने जूते के बन्द को पकड़ कर अपने को उठाने की कोशिश करे। करते हैं हम। थक जाते हैं, बन्द टूट जाते हैं, हाथ-पैर टूट जाते हैं। कोई उठा नहीं पाता अपने को। जूते के बन्द से पकड़ कर अपने को उठाना! अपने पर भरोसा छोड़ना

प्रार्थना है। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही उठा लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही खोज लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि सन्मार्ग मैं बना लूंगा, पहुँच जाऊँगा। छोड़ें यह भरोसा कि मन्दिर की यात्रा मुझसे हो सकती है। फिर भी मैं कहता हूँ, यात्रा आपसे ही होगी। कोई और यात्रा करवाने वाला नहीं है। लेकिन इस भरोसे के छोड़ते ही यात्रा शुरू हो जाती है। यह भरोसा ही बाधा है। जटिल मालूम पड़ेगा थोड़ा-सा। जटिल जरा भी नहीं है। **यह भरोसा ही बाधा है।** अपने पर भरोसा छोड़ें। और अपने पर भरोसा छोड़ते ही आपकी ऊर्जा मुक्त हो जाती है। अपने पर भरोसा छोड़ते ही आपकी ऊर्जा परमात्म-प्रतिष्ठित हो जाती है। अपने पर भरोसा छोड़ते ही **आप ही देवता हो जाते हैं।** कोई और अग्नि देवता नहीं है, जो आपको ले जायगा। आपके ही भीतर छिपा हुआ अग्नि काफी है। आपके भीतर ही दिव्यता काफी छिपी है, वही यात्रा शुरू कर देगी।

लेकिन जितना ही अहंकार उतनी ही वह दिव्यता संकुचित हो जायगी। जितना अहंकार उतना उस दिव्यता को मार्ग नहीं मिलता। जितना अहंकार उतने ही द्वार-दरवाजे बन्द। जितना अहंकार उतनी ही वह दिव्यता लाख उपाय करे तो ऊपर नहीं जा सकती। क्योंकि अहंकार पत्थर की तरह गले में लटका होता है। और अहंकार डुबाता है नदी में। छोड़ें भरोसा। उस पत्थर को, जिसको गले में बाँधे हैं, उसे अलग करें। आप तैर जायेंगे। आप ही तैर जायेंगे। कभी आपने देखा है, नदी में एक बड़ी अद्भुत घटना घटती है। लेकिन हम अंधे हैं, हम कुछ देखते नहीं हैं। **नदी में जिन्दा आदमी डूब जाते हैं, मुर्दा तैर जाते हैं।** मुर्दा बड़ा अद्भुत है। जिन्दा तो डूब गया और मुर्दा ऊपर है। मुर्दे को जरूर कोई सीक्रेट पता है, जो जिन्दे को पता नहीं है। कोई राज, कोई रहस्य, कोई कुंजी तैरने की, पानी की छाती पर होने की, न डूबने की। मुर्दे को डुबा दे नदी तो हम जानें! मुर्दे को कोई नदी नहीं डुबा पाती। बड़े-बड़े सागर नहीं डुबा पाते। मुर्दा लहरों पर आ जाता है। राज क्या है? मुर्दे को कौन सी बात पता है, जो जिन्दों को पता नहीं? मुर्दे को कुछ पता नहीं है। **सिर्फ मुर्दा नहीं है।** वही राज है। और जब कोई जिन्दा रहते हुए मुर्दे की तरह हो जाता है तो डूबना असम्भव है। नीचे उतरना असम्भव है। तैर जाता है। कोई देवता नहीं तैरा जाता, आपके अहंकार का पत्थर ही हट जाता है तो आप हल्के हो जाते हैं, वेटलेस हो जाते हैं, निर्भार हो जाते हैं। फिर कोई डुबाये भी तो कैसे डुबाये! **डूबते हम अपने हाथों से हैं।** अपने पर भरोसा ही डुबाता है। अपने अहंकार का ही आग्रह डुबाता है। मैं ही सब कर लूंगा, बस, यात्रा हो गयी नर्क की। एक ही यात्रा हो पायेगी, नर्क पहुँच जायेंगे। इसलिए ये प्रार्थनाएँ बड़ी अद्भुत हैं।

ध्यान रहे, मेरी अपनी कठिनाई है। जब मैं इस ऋषि की प्रार्थना को अद्भुत कहता हूँ तो आप जो प्रार्थनाएँ घरों में करते रहते हैं, चाहे ईशावास्य पढ़ कर ही करते हों, उनको अद्भुत नहीं कह रहा हूँ। वे बिलकुल बोगस हैं। अग्नि जलाये हुए लोग बैठे हैं, हवन-कीर्तन कर रहे हैं—बिलकुल नानसेंस है! कोई अर्थ नहीं, कोई अभिप्राय नहीं। क्योंकि कहीं भी तो वह जो अग्नि को जला कर बैठा हुआ आदमी है, रूपान्तरित नहीं होता, वही तो प्रमाण है, और तो कोई प्रमाण नहीं है। जिन्दगीभर से एक आदमी हवन कर रहा है, चालीस साल से हवन कर रहा है, आदमी वही का वही है। कहीं कोई फर्क नहीं पड़ा। हवन हुआ ही नहीं। एक आदमी रोज मन्दिर जा रहा है, मस्जिद जा रहा है, रोज प्रार्थना कर रहा है, रोज जा रहा है। आदमी वही का वही है। मस्जिद को भला थोड़ा-बहुत नुकसान पहुँचा हो, उनको कोई नुकसान नहीं। मस्जिद भला उनसे डरने लगी हो कि ये सज्जन चालीस साल से परेशान कर रहे हैं, लेकिन वह जरा परेशान नहीं हैं। वह वही के वही हैं। नहीं, प्रार्थना हो नहीं रही है। मस्जिद में प्रवेश नहीं हो रहा है, मन्दिर में प्रवेश नहीं हो रहा है। वह प्रवेश इतना स्थूल नहीं है, जैसा हम सोचते हैं। ऋषि की प्रार्थना को मैं कह रहा हूँ कि सार्थक है। बड़ी विनम्र है। बड़ी सरल है, बड़ी सहज है। हे अग्नि, ले चल मुझे सन्मार्ग पर, क्योंकि मुझे पता नहीं। बस, इतना जो कह सके पूरे भाव से, हे आकाश, ले चल मुझे निराकार की तरफ, क्योंकि मुझे पता नहीं। और अचानक आप पायेंगे कि मार्ग खुल गया। जिसने कहा; मुझे पता नहीं, उसके ज्ञान का मार्ग खुला। जिसने कहा; मैं अज्ञानी हूँ, उसने ज्ञान की तरफ पहला कदम उठाया। जिसने कहा; मैं ज्ञानी हूँ उसने कहीं और थोड़ा रंध्र-वंध्र रहा हो, मकान में कोई छेद-वेद रहा हो, जहाँ से रोशनी आ जाय, उसको भी बन्द किया।

प्रार्थना सिर्फ अज्ञान की ही नहीं, असहाय अवस्था की भी स्वीकृति है। अज्ञानी ही नही हैं, बड़े असहाय हैं। कोई कूल नहीं दिखता, कोई किनारा नहीं दिखता, कोई नाव नहीं दिखती, कुछ नहीं दिखता। सागर अनन्त दिखता है। गहराई भयंकर है। सामर्थ्य नहीं है बिलकुल। आँख बन्द करके समझे चले जाते हैं कि नाव में हैं—कागज की नावें हैं! आँख बन्द करके समझे चले जाते हैं कि ठीक है, तट पर खड़े हैं। बड़ी असहाय है अवस्था—बिलकुल हेल्पलेस। प्रार्थना में अज्ञान की स्वीकृति है, साथ ही स्वीकृति है इस बात की कि मैं असहाय हूँ। कोई उपाय नहीं, निरुपाय हूँ। और जिसने यह की घोषणा कि मैं निरुपाय हूँ, उसके हाथ आया उपाय। यह निरुपाय होने की घोषणा ही उपाय है। यह असहाय होने की पूर्ण स्वीकृति ही परम सहारे को उपलब्ध हो जाना है। जिसने

छोड़ा अपने को, उसने पाया प्रभु को। जिसने कहा, अब से तू ही चला तो मैं चलूँगा, तू ही उठा तो मैं उठूंगा, अब तू जहाँ ले जाय वहीं मैं जाऊँगा। जिसने इतनी सरलता से अनकण्डीशनल, बेशर्त समर्पण से, सरेण्डर से, अनन्त के प्रति ज्ञापन किया, उसके भीतर का द्वार खुला। ये प्रार्थनाएँ द्वार खोलने की कुंजियाँ हैं। ये छोटी-छोटी प्रार्थनाएँ बड़ी गहरी हैं। ये बड़ी दूरगामी हैं।

इस प्रार्थना को स्मरण रखें। उठते, बैठते, सोते, चलते, क्षणभर को मौका मिले तो कहें अपने से, नही कुछ जानता हूँ, असहाय हूँ। प्रभु, तू ले चल। फिर भी मैं कहता हूँ, जोर देकर कहता हूँ कि कोई आपको ले जाने वाला नहीं आयेगा। यह प्रार्थना ही आपको ले जायेगी। आप ही समर्थ हो जायेंगे प्रार्थना के करते ही। **प्रार्थना शक्ति है, बड़ी महत् शक्ति है।** छोटे-से अणु में अगर विराट् ऊर्जा छिपी है तो छोटी-सी प्रार्थना में अनन्त अणुओं से भी ज्यादा विराट् ऊर्जा छिपी है। **करें और देखें।** तत्क्षण परिणाम है, तत्क्षण। एकदम हल्के हो जायेंगे। पंख निकल आयेंगे और उड़ने की तैयारी हो जायेगी। भार गया, भार है ही हमारी अस्मिता में, अहंकार में, इगो में। और हम ऐसे कुशल हैं कि हम प्रार्थना तक से अहंकार को भर लेते हैं। देखें, मन्दिर से एक आदमी प्रार्थना करके लौटता है तो चारो तरफ देखता लौटता है कि पापी जा रहे हैं, क्योंकि वह प्रार्थना करके आ रहा है।

मुहम्मद ने एक दिन एक युवक को कहा कि कभी मेरे साथ प्रार्थना को चल। मुहम्मद ने कहा था तो वह टाल न सका। जैसे कि मैं आपसे कभी कहता हूँ तो आप नही टाल पाते। नहीं टाल सका। मुहम्मद ने कहा था तो सोचा कि चलो, नहीं मानता, चले चलें। पहुँच गया सुबह। मुहम्मद तो नमाज में खड़े हो गये, वह भी अपना कुछ-कुछ गुन-गुन करता रहा खड़ा होकर। गुन-गुन ही कर सकता था। मुहम्मद बड़े बेचैन हुए कि इस आदमी को गलत ले आये। लेकिन अब कोई उपाय न था। नमाज पूरी की, वापस लौटे। सुबह का वक्त है, गर्मी के दिन हैं। लोग अभी भी सोये हुए है। उस युवक ने मुहम्मद से कहा, देखते हैं हजरत, इन लोगों का क्या होगा? नमाज का वक्त, अभी तक बिस्तरों पर पड़े हैं! क्या ख्याल है आपका? ये लोग नर्क जायेंगे?

मुहम्मद ने कहा, भाई, ये कहाँ जायेंगे मुझे पता नहीं, मुझे वापस मस्जिद जाना है। उसने कहा, क्या हो गया आपको? उन्होंने कहा, मेरी पहली नमाज तो बेकार गयी। तुझे मैंने नुकसान पहुँचाया। नमाज न करने के पहले तू कम-से-कम विनम्र था, कम-से-कम इनको पापी नहीं समझता था। यह तो और उपद्रव हो गया। तू मुझे माफ कर और दुबारा मस्जिद मत आना। और मैं जाऊँ, फिर से नमाज पढ़ूं, पहली नमाज तो बेकार गयी। मैंने तुझे नुकसान ही पहुँचाया

मस्जिद से आकर। तेरी अकड़ और भारी हुई। प्रार्थना से अकड़ टूटनी चाहिए। तो वह और भारी ही गयी।

तिलक, चंदन-वंदन लगा कर देखा, आदमी कैसा अकड़ कर चलता है। चोटी-वोटी बढ़ा कर देखा आदमी! जैसे परमात्मा से कोई लाइसेंस उनको मिल गया है। वे कुछ सगे-सम्बन्धी हो गये और भाई-भतीजों में अब उनकी गिनती है परमात्मा के। अब वे सारी दुनिया को नर्क भेजे बिना नहीं मानेंगे। प्रार्थना भी अहंकार को भर जाती है तो आदमी अद्‌भुत है। चालाकी की कोई सीमा नहीं है। प्रार्थना की शर्त ही अहंकार-विसर्जन है। धार्मिक आदमी कह भी न सकेगा अपने मुंह से कि मैं धार्मिक हूँ। क्योंकि इतने अधर्म का उसे बोध होगा अपने में कि वह कहेगा कि मुझसे अधार्मिक और कौन है? धार्मिक आदमी कह भी न सकेगा कि मैं पुण्यात्मा हूँ। क्योंकि पुण्य में भी उसे पाप की रेखा दिखायी पड़ेगी, अहंकार खड़ा हुआ दिखायी पड़ेगा। वह कहेगा, मुझसे पापी और कौन? इसलिए वह ऋषि कहता है कि न मालूम कितने कर्म किये हैं, जो भारी पड़ेंगे। न मालूम कितने पाप किये हैं, जो भारी पड़ेंगे। योग्य तो मैं बिलकुल नहीं हूँ। पात्र तो मैं बिलकुल नहीं हूँ, दावेदार मैं हो नहीं सकता। क्लेम मैं कर नहीं सकता कि मुझे मिल जाय। सिर्फ प्रार्थना कर सकता हूँ।

ध्यान रहे। इसलिए तीसरा सूत्र आपसे कहता हूँ; प्रार्थना दावा नहीं है। क्लेम नहीं है। पात्रता की घोषणा नहीं है, अपात्रता की स्वीकृति है। मैं कुछ हकदार हूँ, ऐसा भाव भी आ गया तो प्रार्थना विषाक्त हो गयी। मैं हकदार तो बिलकुल नहीं हूँ। इसीलिए प्रार्थना करने वाले को जब मिलता है कुछ तो वह कहता है, तेरी कृपा से मिला, मेरी योग्यता से नहीं। इसलिए प्रार्थना करने वालों ने प्रभु-प्रसाद शब्द खोजा है। वह कहते हैं, जो मिलता है वह प्रभु-प्रसाद है। डिवाइन ग्रेस है। हम कहाँ पात्र थे। हमसे ज्यादा अपात्र तो खोजना मुश्किल था। फिर भी मैं कहता हूँ कि मिलता है आपकी पात्रता से। आपकी अपात्रता से नहीं मिलता। लेकिन अपनी अपात्रता का बोध ही प्रार्थना की पात्रता है। अपनी अपात्रता का बोध ही प्रार्थना की पात्रता है। अपने ना कुछ होने का बोध ही प्रार्थना का दावा है। दावा न करना ही प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना भेजती है, न आये तो हम कहेंगे कि हम इस योग्य कहाँ थे कि आये। आ जाय तो हम कहेंगे, उसकी कृपा है। यद्यपि उसकी कृपा से नहीं मिलता, क्योंकि उसकी कृपा सब पर बराबर है। अगर उसकी कृपा से मिलता हो तो इसका मतलब यह हुआ कि वहाँ भी भाई-भतीजावाद कुछ चलता होगा। क्योंकि एक आदमी ने घण्टे बजा कर मन्दिर में प्रार्थना कर ली और कहा कि हे भगवन्, तू पतित-पावन है, कि तू महान्

है। जैसे कोई राजा के दरबार में कुछ कह देता हो और राजा प्रसन्न हो जाता हो। ऐसे ही लोग प्रार्थना किये चले जाते हैं कि शायद परमात्मा प्रसन्न हो जाय। इसलिए हमने सब प्रार्थनाएँ राजाओं के दरबारों में बोले गये वचनों के आधार पर निर्मित की हैं—दरबारी! और दरबारी भी कहीं कोई प्रार्थना हो सकती है? खुशामदें—खुशामद को संस्कृत में कहते हैं स्तुति। खुशामद है सब। नहीं, परमात्मा महान् है, यह नहीं कहना है, यह तो खुशामद हो जायेगी। 'मैं कुछ नहीं हूँ' इतना निवेदन काफी है। तू महान् है, यह नहीं। क्योंकि मैं कितना ही महान् कहूँ, मुझ क्षुद्र से तेरी महानता की घोषणा भी कैसे हो सकेगी। और मेरे द्वारा बतायी गयी तेरी महानता कितनी महानता होगी! और मैं कितना तुझे नाप पाऊँगा! कितनी तेरी महानता का हिसाब लगा पाऊँगा! नहीं, तेरी महानता के लिए मेरे पास कोई मापदण्ड नहीं हो सकता, मैं अपनी क्षुद्रता को ही माप लूं उतना काफी है। इतना ही मैं कह पाऊँ प्रार्थना के क्षण में कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, काफी है।

उसकी कृपा से नहीं मिलता कुछ, यह मैं पुनः आपसे कह दूं। यद्यपि जब भी किसीको मिलता है तो वह जानता है उसकी कृपा से मिला है। जब भी किसीको मिला है तो उसने घोषणा की है हृदयपूर्वक नाच कर गाँव-गाँव खबर कर दी है लोगों को कि उसकी कृपा से मिला है। उसका प्रसाद है। यद्यपि उसकी कृपा से किसीको कुछ नहीं मिलता है। क्योंकि **कृपा तो वही कर सकता है जो अकृपा भी कर सकता हो**। उसकी कृपा तो शाश्वत है। उसकी कृपा तो बरस ही रही है।

बुद्ध कहते थे, बरस रहा है अमृत, लेकिन कुछ हैं, जो अपने घड़ों को उल्टा रखे बैठे हैं। जिस दिन घड़ा सीधा होगा कोई उस दिन अमृत बरसने लगेगा, ऐसा नहीं है। अमृत तो उस दिन भी बरस रहा था, जिस दिन आप घड़ा उल्टा किये थे। वहाँ भी बरस रहा था, जहाँ कोई घड़ा न था। कोई आप पर विशेष कृपा नहीं हो जायेगी, कि जब आप अपनी मटकी सीधी करेंगे तो कोई अमृत आप पर बरसने आ जायगा कि चलो इसकी मटकी सीधी है, बरस जायें! **अमृत तो बरस ही रहा है। परमात्मा की कृपा उसका स्वभाव है**। अस्तित्व का अमृत उसका स्वभाव है। वह बरस ही रहा है। वह सतत बरस रहा है। हमारी मटकी उल्टी हम रखकर बैठे हैं।

अहंकार मटकी को उल्टा रखकर बैठता है और भरने की कोशिश करता है। मटकी को सीधी रखने का मतलब है, मैं ना कुछ हूँ, इसकी घोषणा। जब मटकी सीधी होती है, तो उसके भीतर का खालीपन ही तो प्रकट होता है, और क्या प्रकट होता है? जब मटकी उल्टी होती है, तो खालीपन छिपा होता है, और क्या होता है? उल्टी मटकी अपने भरे होने का भ्रम पैदा कर लेती है, क्योंकि खालीपन

दिखायी नहीं पड़ता है, एम्पटीनेस दबी होती है। इसलिए तो हम मटकी को उल्टा रखे रहते हैं। सीधी होकर मटकी को पता चलता है कि मैं तो सिवाय खालीपन के और कुछ भी नहीं हूं। सिर्फ एक जगह हूं, जिसमें कुछ भर सकता है। भरा हुआ मुझमें कुछ भी नहीं है। जिसने जाना कि मैं ना कुछ हूं, उसकी मटकी हो गयी सीधी। जिसने अपनी मटकी की सीधी, गया प्रार्थना में। कृपा बरस रही है, वह भर जायेगी। जब भरेगी, तब वह कहेगा कि उसकी कृपा। यद्यपि आप मटकी सीधी न करते तो उसकी कृपा हो नहीं सकती थी। आपकी ही कृपा है कि आपने मटकी सीधी रखी। अपने पर कृपा करना प्रार्थना है। अपने पर करुणा करना प्रार्थना है। अपने पर क्रूर होना अहंकार है। अपने साथ ज्यादती करना अहंकार है। अपने साथ हिंसा करना अहंकार है।

सुबह के लिए इतना ही।

अब हम चलें, कृपा करें, मटकी सीधी रखें। ●

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है।

ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

जीवन का शाश्वत नियम है, जहाँ से होता है प्रारम्भ, वहीं होती है परिणति। जो है आदि, वही है अन्त। जीवन के इसी शाश्वत नियम के अन्तर्गत ईशावास्य जिस सूत्र से शुरू होता है, उसी सूत्र पर पूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। सभी यात्राएँ वर्तुल में हैं—द फर्स्ट स्टेप इज द लास्ट आलसो। जो ऐसा समझ लेते हैं कि पहला कदम आखिरी कदम भी है, वह व्यर्थ की दौड़-धूप से बच जाते हैं। जो जानते हैं कि जो प्रारम्भ है, वही अन्त भी है, वे व्यर्थ की चिन्ता से बच जाते हैं। पहुँचते हैं हम वहीं, जहाँ से हम चलते हैं। यात्रा का जो पहला पड़ाव है, वही यात्रा की अन्तिम मंजिल है। इसलिए बीच में हम बिलकुल आनन्द से चल सकते हैं। क्योंकि अन्यथा कोई उपाय नहीं है। हम वहाँ नहीं पहुँचेंगे जहाँ हम नहीं थे। हम वहाँ पहुँचने की कितनी ही चेष्टा करें, हम वहाँ नहीं पहुँचेंगे, जहाँ हम नहीं थे। हम वहीं पहुँचेंगे, जहाँ हम थे। इसे ऐसा समझें कि हम वही हो सकते हैं, जो हम हैं ही। अन्यथा कोई उपाय नहीं है। जो हममें छिपा है, वही प्रकट होगा, और जो प्रकट होगा, वह वापस लुप्त हो जायगा। बीज वृक्ष बनेगा, वृक्ष फिर बीज बन जाते हैं। ऐसा जीवन का शाश्वत नियम है। इस नियम को जो समझ लेते हैं, उनकी चिन्ता क्षीण हो जाती है। उनके त्रिविध ताप शान्त हो जाते हैं। कोई फिर कारण नहीं है। न दुख का, न सुख का। दुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हम अपनी मंजिल अपने साथ लेकर चलते हैं। सुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हमें ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो हमें सदा से मिला हुआ ही नहीं है।

इस महानियम की सूचना के लिए ही शुरू होता है ईशावास्य जिस मन्त्र से,

उसी मन्त्र पर पूरा होता है। बीच में हमने जो यात्रा की, वे भी उसी मन्त्र तक पहुँचने के अलग-अलग द्वार थे। प्रत्येक मन्त्र पुनः-पुनः उसी महासागर की स्मृति को जगाने के लिए सूचना थी। और प्रत्येक घाट और प्रत्येक तीर्थ उसी सागर में नाव छोड़ देने के लिए पुकार है—आमन्त्रण है, आवाहन है। इस सूत्र को अगर आपने ख्याल रखा हो, तो हर सूत्र के प्राणों में यही अनुस्यूत था। इसलिए पहले ही घोषणा कर दी थी और अब अन्त में उसकी निष्पत्ति की घोषणा है। मैंने पहले दिन इस सूत्र का अर्थ आपको कहा था, आज इसका अभिप्राय कहूँगा। पूछेंगे आप अर्थ और अभिप्राय में क्या फर्क होता होगा ?

अर्थ तो बहुत प्रगट बात है, अभिप्राय बहुत गुप्त। **अर्थ तो शरीर है, अभिप्राय आत्मा।** अर्थ तो बुद्धि से भी समझा जा सकता है, अभिप्राय सिर्फ हृदय से। स्वभावतः प्राथमिक रूप से अर्थ ही कहा जा सकता था, अभिप्राय नहीं। लेकिन अब हमने बहुत-बहुत द्वारों से भी झाँक कर देखा उस मन्दिर में, जिस मन्दिर के लिए यह सूत्र घोषणा करता है। न केवल हमने समझा, बल्कि ध्यान में उतर कर भी देखने की कोशिश की। एक अर्थ में यह घटना अनूठी है। उपनिषद् पर बहुत टीकाएँ हुई हैं। लेकिन ध्यान के साथ कभी कोई टीका हुई हो, यह पृथ्वी पर पहला मौका है। उपनिषद् के शब्दों का अर्थ हुआ है, लेकिन अभिप्राय में छलाँग लगाने की जीवन्त चेष्टा भी हुई हो, ऐसा यह पहला मौका है। अर्थ के साथ अभिप्राय की गहन खोज भी एक साथ हुई। जो मैं बोल रहा था, वह सिर्फ इसीलिए था कि जब आप छलाँग लगायेंगे, तो उसके लिए जम्पिंग बोर्ड बन जाय। लेकिन प्रयोजन छलाँग ही था। इसलिए हर सूत्र के बाद हम ध्यान मे कूदते रहे। शब्द से जिसे जाना था, उसे छलाँग लगा कर अनुभव से भी जानने की चेष्टा की। इसलिए अब मैं अभिप्राय कह सकता हूँ। क्योंकि अब आपने शब्द भी सुन लिये हैं और शब्द को समझ कर पर्याप्त नहीं माना तो शब्द के बाद कुछ और भी किया है—निःशब्द में पहुँचने के लिए। केवल अर्थ तो वे भी जान पाते हैं, वे भी जान लेते हैं, जो शब्द को जानते हैं। **लेकिन अभिप्राय केवल वे ही जानते हैं और जान पाते हैं, जो निःशब्द को जान लेते हैं।** अगर थोड़ी-सी झलक निःशब्द की मिली होगी तो अब मैं जो अभिप्राय कहता हूँ, वह समझ में आ सकेगा।

इस सूत्र के अभिप्राय में पहली बात तो आपसे यह कह दूँ कि यह सूत्र घोषणा करता है कि **जीवन अतर्क्य है,** इन्‌लाजिकल है। कहीं भी इस सूत्र में कहा नहीं है कि जीवन अतर्क्य है। इशारा है यह। जो कहा है उसका अर्थ मैंने कह दिया। जो कहा नहीं है, जिसकी ओर सिर्फ इशारा है, वह अब आपसे कहता हूँ। विटिग्स्टीन ने इस सदी में लिखी गयी सम्भवतः सर्वाधिक कीमती किताब—

ट्रक्टेटस में एक बात कही है—दैट ह्विच कैन नाट बी सैड, मस्ट नाट बी सैड। जो नहीं कहा जा सकता, उसे कभी नहीं कहना चाहिए। उसे अनकहा छोड़ देना चाहिए। एक बात और कही है कि दैट ह्विच कैन नाट बी सैड, कैन बी शोड। जो नहीं कहा जा सकता है, वह भी बताया जा सकता है। ऐसा समझें, जो नहीं कहा जा सकता है, उसकी तरफ भी इशारा किया जा सकता है। जो कहा जा सकता था, वह मैंने पहले सूत्र के अर्थ में आपसे कहा। जो नहीं कहा जा सकता है और न ही कहे जाने का जिसका उपाय है, वह इस सूत्र का अभिप्राय है। मैं अब उस तरफ इशारा करता हूँ।

पहला इशारा—जीवन अतर्क्य है। इसलिए जो लोग तर्क से जीवन को खोजने जायेंगे, वे केवल मृत्यु के आस-पास भटकेंगे। वे जीवन को कभी नहीं जान पायेंगे। कैसे इस सूत्र से अतर्क की तरफ, इर्रेशनल की तरफ इशारा मिलता है? यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है। पहली तो बात पूर्ण से पूर्ण निकलेगा कैसे? क्योंकि पूर्ण के बाहर कोई जगह भी नहीं होती, जिसमें पूर्ण निकल आये। पूर्ण का मतलब ही है Absolute, परम, जिसके पार कुछ भी नही है। अगर कुछ भी हो तो उतना तो अपूर्ण हो जायगा इसके भीतर। पूर्ण के बाहर कुछ भी नहीं होता। जगह भी नहीं होती, स्पेस भी नहीं होता। आकाश भी नहीं होता। तो पूर्ण के बाहर पूर्ण निकलेगा कैसे? निकलेगा तो कहाँ जायगा निकल कर? निकलने की कोई भी सुविधा नहीं है। लेकिन यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है। न केवल इतना कहता है, बल्कि और एक अतर्क्य बात कहता है कि फिर पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। तर्क से कोई सोचेगा तो यह किसी पागल का वक्तव्य है। गणित से कोई सोचेगा, तो यह सूत्र बिलकुल गलत है। लगेगा, यह किसीने होश में नहीं लिखा है। मस्तिष्क ठीक न रहा होगा, तब कहा होगा। अगर कोई तर्क और गणित से सोचेगा तब। लेकिन जो तर्क और गणित से सोचता है, वह वैसे ही भूल करता है, जैसा एक बार एक बगीचे में हो गयी।

एक माली ने अपने एक मित्र को निमन्त्रण दे दिया कि गुलाब में बहुत खूबसूरत फूल आये हैं। आओ बगीचे में! लेकिन मित्र तो था सुनार। वह अपने सोने के कसने की कसौटी साथ ले आया। और जब गुलाब के फूल उसने देखे, तो उसने कहा, ऐसे मैं न मानूंगा। मुझे तुम धोखा न दे पाओगे। मैं कोई बच्चा नहीं हूँ। मैं सोने तक को परख लेता हूँ, इस फूल का क्या वश! इसको भी परख लूंगा। माली ने कहा, लेकिन फूल को परखोगे कैसे? उसने कहा, मैं सोने को कसने की कसौटी साथ ले आया हूँ। माली घबड़ाया कि गलती हो गयी

इस आदमी को निमन्त्रण देकर। लेकिन तब तक तो उस आदमी ने फूल को तोड़ कर पत्थर की कसौटी पर घिस डाला था। घिस कर फूल को नीचे फेंक दिया था और कहा कि सब झूठ है। कसौटी कहती है, कुछ भी नहीं है इसमें।

जैसा उस माली को लगा होगा, वैसे ही अगर कोई तर्क और गणित से इस सूत्र को समझने जाय, तो इस सूत्र के ऋषि को लगेगा। फूल सोने को कसने की कसौटी पर नहीं कसे जाते। और कसे जायें तो इसमें फूलों की गलती नहीं है, कसने वाले की नासमझी है।

यह सूत्र—इस ईशावास्य में कहे गये सभी सूत्र, और विशेषकर यह सूत्र आत्म अनुभव में खिला हुआ फूल है। इसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। और इस सूत्र में पूरी खबर है कि तर्क की कसौटी पर कसना मत। वह यह कह रहा है कि हम कुछ ऐसी बात कहने जा रहे हैं, जो अतर्क्य है। जो हो नहीं सकती है, लेकिन होती है। जो होनी नहीं चाहिए, फिर भी घटित होती है। जिसके घटने का कोई आधार नहीं मिलता, खोजने से कोई उपाय नही मिलता, फिर भी है। जीवन अतर्क्य है, इसका क्या अर्थ हुआ ! इसका अर्थ हुआ कि जो जीवन को नियम, गणित, तर्क, न्याय, विधि, व्यवस्था से सोचेंगे, वे जीवन के रहस्य से वंचित रह जायेंगे। एक फूल को सुनार ने कस लिया पत्थर पर। इसी फूल को अगर वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ले जायें और कहें कि बहुत सुन्दर है तो वह भी इस फूल के एक-एक टुकड़े को काट कर देखेगा कि सौन्दर्य कहाँ है? वह भी इस फूल के एक-एक तत्त्व को निकाल कर बिखरा लेगा। एक-एक केमिकल को अलग कर लेगा और कहेगा, सौन्दर्य कहाँ है ? इसमें रस है, खनिज हैं, केमिकल हैं, सब है, सौन्दर्य कहीं भी नहीं है। एक-एक बोतल में निकाल कर अलग-अलग चीजें रख देगा और कहेगा, यह सब चीजें हो गयी, फूल पूरा हो गया। सब बोतलों में सब चीजों के लेबल लगा दिये, लेकिन सौन्दर्य कही भी मिलता नही है। फूल का कोई कसूर नहीं है कि वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में सौन्दर्य न मिले। वैज्ञानिक का भी कसूर नहीं है, क्योंकि उसके पास जो प्रयोगशाला है, वह सौन्दर्य को मापने के लिए नही है। सौन्दर्य को मापने का आयाम दूसरा है। जीवन को जो लोग गणित की तरह सोचते हैं वे लोग जीवन को कभी नही माप पाते। क्योंकि **जीवन मूलतः एक रहस्य है।** कितना ही हम जान लें, हमारा सब जाना हुआ और गहरे अज्ञान पर खड़ा होता है। कितना ही हम जान लें, हमारा सब जाना हुआ और भी जानने को शेष है, उसकी तरफ इंगित मात्र करता है। जितना हम जानते हैं उतना ही पता चलता है कि आदमी का अज्ञान गहन है।

जीवन को हम खोल नहीं पाते हैं। खोलते हैं तो और उलझ जाता है।

जीवन को खोलने की सब कोशिश वैसी ही है, जैसा मैंने सुना है ईसप की एक कहानी में। कहा है, एक शतपदी जानवर गुजरता है एक रास्ते से। एक खरगोश ने देखा तो बहुत चकित हुआ। खरगोश शायद किसी तर्क की पाठशाला में शिक्षा पाया होगा। उसकी कठिनाई यह हुई कि यह शतपदी जानवर, सौ पैर वाला जानवर पहले कौन सा पैर उठाता होगा ? फिर कौन-सा उठाता होगा, फिर कौन सा उठाता होगा ? कैसे हिसाब रखता होगा कि कौन सा पैर उठ गया, कौन सा नहीं उठा ! सौ पैर हैं, लड़खड़ा न जाते होंगे ? दिक्कत में पड़ जाता होगा, चलता कैसे होगा ? रोका। कहा कि रुको ! एक जवाब देते जाओ। मैं जरा एक तर्क का विद्यार्थी हूँ। मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ आपको देखकर। चार पैर चलाते हैं हम, तब तो समझ में आता है, हिसाब रह जाता है। सौ पैर चलाते होओगे, हिसाब कैसे रखते हो ? शतपदी जानवर ने कहा, अब तक चलता रहा हूँ भलीभाँति, हिसाब रखने की कोई जरूरत ही नहीं पड़ी। अब तक कभी सोचा भी नहीं इस भाँति कि कौन सा पैर पहले उठता है, कौन सा पीछे उठता है। लेकिन तुम कहते हो तो अब मैं सोच कर तुम्हें बताता हूँ। खरगोश वहीं बैठा रहा। शतपदी ने पैर उठाने की कोशिश की, लेकिन लड़खड़ा कर गिर गया। सौ पैर, कौन-सा उठाये ! वह भी मुश्किल में पड़ गया। दयनीय मन से उसने खरगोश से कहा, मेरे मित्र, तुम्हारे तर्क ने मुझे मुश्किल में डाल दिया है। तुम कृपा करके अपने तर्क को अपने पास रखना। और शतपदी यहाँ से कोई गुजरे तो तुम यह प्रश्न मत पूछना। हम बड़े मजे से जी रहे थे। कभी पैरों ने कोई दिक्कत न दी थी। कभी पैरों ने कोई सवाल न उठाया और कोई तर्क खड़ा न किया था। और कभी हमने सोचा न था कि कौन सा पहले उठता है, कौन सा पीछे उठता है। पता नहीं, कौन पहले उठता था, कौन पीछे उठता था। इतना तय है कि हम अब तक चले हैं। अब तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया।

आदमी की सबसे बड़ी मुश्किल यही है कि वह शतपदी जानवर की हालत में है और सवाल किसी खरगोश ने नहीं पूछा, आदमी खुद ही पूछ लेता है। खुद ही पूछ-पूछ कर उलझता चला जाता है। खुद ही सवाल पूछ लेता है और खुद ही जवाब निर्मित कर लेता है। सवाल तो गलत होते ही हैं, जवाब उनसे भी गलत हो जाते हैं। हर जवाब नये सवाल उठा देता है। फिर सवालों की भीड़ और जवाबों की भीड़ और आदमी उलझता चला जाता है। और वह घड़ी आ जाती है, जब उसे कुछ भी पता नहीं रहता है कि क्या-क्या है—ह्वाट इज ह्वाट। हम सब उस हालत में हैं।

संत अगस्तीन से किसीने पूछा कि एक सवाल मेरे मन को बड़ा परेशान करता

हैं। जवाब दे दें तो मुझे बड़ी राहत मिले। सुना है, आप ज्ञानी हैं। अगस्तीन ने कहा, सुना होगा तुमने कि ज्ञानी हूँ, लेकिन जब से मैंने सुना है, तब से मैं जरा मुश्किल में पड़ गया हूँ। साधु ने पूछा कि आपको क्या मुश्किल है? मुश्किल तो हम अज्ञानियों की होती है। अगस्तीन ने कहा, मैं इसलिए मुश्किल में पड़ गया हूँ कि जब से मैं सुन रहा हूँ कि मैं ज्ञानी हूँ, तब से मैं बहुत खोजता हूँ अपने भीतर कि ज्ञान कहाँ है, लेकिन कहीं पाता नहीं। पहले तो भूल-चूक से मैं भी मानता था। अब? अब मानना कठिन है। फिर भी तुम्हारा सवाल क्या है? जब तुम इतनी दूर चल कर आ गये हो तो सवाल पूछ ही लो। भला मैं जवाब न दे सकूँ, तुम्हें कम-से-कम राहत तो रहेगी कि सवाल पूछ लिया। और चाहे मैं जवाब दे भी दूँ, तो भी किसीके देने से सवालों के जवाब कहीं किसीको मिलते हैं? लेकिन तुम पूछ तो लो ही। उस आदमी ने पूछा कि मैं यही जानना चाहता हूँ कि समय क्या है—ह्वाट इज टाइम? अगस्तीन ने कहा कि बस, वही सवाल पूछ लिया, जो मैं सोचता था और डरता था कि तुम पूछ न लो। कुछ ऐसे सवाल हैं कि जब तक तुम न पूछो, हमें पता होता है। और पूछा कि हम मुश्किल में पड़े। मुझे पक्की तरह पता है कि समय क्या है? लेकिन तुमने पूछा कि मुश्किल मे डाला।

आपसे भी कोई पूछे कि समय क्या है। भलीभाँति आप जानते हैं। वक्त पर ट्रेन पकड़ लेते हैं, बस पकड़ लेते हैं, दफ्तर पहुँच जाते हैं, दफ्तर से घर आ जाते हैं। समय का आपको भलीभाँति पता है। लेकिन कोई पूछे भर न आपसे कि समय क्या है, नहीं तो शतपदी जानवर की हालत हो जाये। तारीखें पता हैं, घड़ियाँ पास में हैं, कलेंडर लटके हैं, सब पता है, फिर भी समय क्या है इसका अभी तक कोई उत्तर नहीं दे सका है। और जितने उत्तर दिये गये हैं वह सब अन्धेरे में टटोलने जैसे हैं, जिनसे कुछ हल नहीं होता है।

पूछे कोई आत्मा क्या है? है आपके पास। जन्मे उस दिन से है। जो जानते हैं, वे कहते हैं, जन्मे उसके पहले से है। इतने दिन हो गये, आत्मा आपके पास है, अभी तक पता नहीं लगा पाये कि क्या है! कोई न पूछे तो सब ठीक है। कोई पूछे तो अड़चन खड़ी हो जाती है। प्रेम क्या है कोई पूछे। करते हैं सब। नहीं भी करते तो भी करते हुए जताते हैं। कितनी प्रेम की कहानियाँ हैं। सभी कहानियाँ प्रेम की हैं। और इसीलिए प्रेम की हैं, क्योंकि प्रेम आदमी अब तक कर नहीं पाया। कहानी लिख-लिख कर मन को समझाता है। सब कविताएँ प्रेम की हैं। जिस आदमी की भी जिन्दगी में प्रेम नहीं होता, वह प्रेम की कविता लिखने लगता है। कविता लिखना बहुत आसान है, प्रेम करना बड़ा कठिन है। कविता तो तुक बाँध लेने से बँध जाती है, प्रेम तो सब तुक तोड़ने से बनता है। कविता के तो छंद और

नियम है, प्रेम तो बिलकुल निरछन्द है—छन्दहीन। कहीं तुक होता है, कहीं अन्त होता है, कुछ पता नहीं। कोई मात्रा नहीं, कोई ठिकाना नहीं। कविता तो सीखी जा सकती है, बनायी जा सकती है। प्रेम को बनाने और सीखने का कोई उपाय नहीं। लेकिन प्रेम की हम चौबीस घंटे बात करते हैं और कोई पूछ ले कि प्रेम क्या है ? तो बस···! इस सदी के एक बहुत बड़े विचारक, और कहना चाहिए सबसे बड़े तार्किक आदमी जी० ई० मूर ने एक किताब लिखी है। इन पचास वर्षों में जिस आदमी ने मनुष्य-जाति के मन को सर्वाधिक तार्किक रूप से प्रभावित किया है, वह जी० ई० मूर है। उसने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, प्रिंसिपिया इथिका—नीति-शास्त्र के सिद्धान्त। बड़ी किताब है, बड़ी मेहनत की है। और एक ही सवाल पर मेहनत की है—ह्वाट इज गुड—शुभ क्या है, अच्छाई क्या है, भलाई क्या है ? और इस बड़े ग्रंथ में इतना श्रम किया है कि मैं मानता हूँ कि किसी दूसरे आदमी ने मनुष्य-जाति के पूरे इतिहास में किसी एक किताब पर इतना श्रम नहीं किया है। और इतनी मेहनत के बाद यह तर्कशास्त्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी का सबसे ज्यादा विचारशील व्यक्ति, इतनी बड़ी किताब में जो वर्षों की मेहनत के बाद एक-एक इंच सरक के लिखी गयी है, और एक-एक शब्द जिसमें तौल के लिखा गया है, उसके आखीर के नतीजे में कहता है गुड इज इन डिफाइनेबल। वह जो शुभ है, उसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। और आखीर में कहता है कि शुभ ऐसा ही है, जैसा कि कोई मुझसे पूछे कि ह्वाट इज यलो—पीला रंग क्या है ? तो मैं क्या कहूँ ? पीला रंग पीला है, यलो इज यलो ! बस, और क्या कहियेगा ? पीला रंग पीला है। लेकिन यह कोई कहना हुआ ! यह तो हमें भी पता है कि पीला रंग पीला है। हम यह पूछते हैं कि पीला रंग है क्या ? आप क्या करेंगे ? तोड़ कर ले आना एक फूल। कहना कि यह है। लेकिन जी० ई० मूर कहता है कि यह पीला फूल है, पीला रंग नहीं। एक पीली दीवाल है रँगी हुई। लेकिन वह पीली दीवाल है, पीला रंग नहीं। एक पीला कपड़ा है। लेकिन वह पीला कपड़ा है, पीला रंग नहीं है। हम यह पूछते हैं कि पीले फूल में, पीले कपड़े में, पीली दीवाल में जो पीलापन है, वह क्या है—ह्वाट इज यलोनेस ? अब आप क्या कहियेगा ? यही न कि यह रहा, अब इससे ज्यादा और बकवास न करो। मूर भी यही कहता है। मूर भी यही कहता है इतनी मेहनत के बाद कि ज्यादा-से-ज्यादा हम यह कह सकते हैं कि दिस इज यलोनेस। हम बस इशारा कर सकते हैं, व्याख्या नहीं। और अगर पीले रंग की व्याख्या नहीं हो सकती तो परमात्मा की करियेगा ? कोई जी० ई० मूर से जाकर कहे—अब तो वह मर गया बेचारा, जिन्दा होता तो मैं सोचता कि उससे कहूँ। या फिर कभी आगे यात्रा

मैं मिलना हो जाय तो उससे कहूँगा कि जब पीले रंग की भी तुम पाते हो कि व्याख्या नहीं हो सकती तो क्या परमात्मा की व्याख्या हो सकेगी ?

जीवन के क्षुद्रतम तथ्य भी अव्याख्येय हैं। जब मैं कहता हूँ, जीवन अतर्क्य है, तब मैं कह रहा हूँ कि जीवन अव्याख्येय है, इनडिफाइनेबल है। आप उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। जी सकते हैं, कह नहीं सकते कि क्या है। और जब भी कहने जायेंगे, तो ऐसी ही गलती हो जायेगी, जैसी इस सूत्र का ऋषि कह कर कर गया गलती में। कहता है, पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण शेष रह आता है। यह तो पहेली हुई। यह तो वैसी पहेली हुई, जैसा कि एक झेन फकीर रिनझाई खड़ी करता था। इन फकीरों को बड़ा मजा आता है पहेलियाँ खड़ी करने में। क्योंकि उनसे इशारे किये जा सकते हैं। जब भी कोई उसके पास आता सत्य की खोज करने, तो वह कहता; सत्य पीछे खोज लेना। मैं जरा एक मुश्किल में पड़ा हूँ। पहले तुम मेरी यह मुश्किल हल कर दो। तो कोई भी पूछता कि क्या मुश्किल है ? जो सत्य खोजने आया था, वह भी यह भूल जाता कि मैं खुद खोजने आया हूँ, मैं दूसरे की मुश्किल क्या खाक हल करूँगा। लेकिन जब रिनझाई कहता कि तुम जरा पीछे पूछ लेना। मेरी एक मुसीबत है, वह तुम हल कर दो। तो वह आदमी एकदम पूछता कि आपकी क्या मुश्किल है ?

शिष्य बनने आया आदमी भी गुरु बनने की कोशिश करता है। वह भूल ही जाता कि हम पूछने आये थे। कहना था कि हम पूछने आये हैं, हम तुम्हारी मुश्किल क्या हल करेंगे। हम खुद मुसीबत में पड़े हैं। लेकिन रिनझाई ने लिखा है कि जिन्दगी में हजारों लोगों से मैंने यह कहा और हर बार यही हुआ कि उस आदमी ने पूछा कि कौन-सी मुश्किल है, बोलिये ?

रिनझाई ने एक तरकीब बना रखी थी। मुश्किल ऐसी थी कि वह हल होने वाली नहीं है। असल में तो सभी मुश्किलें ऐसी हैं कि हल होने वाली नहीं हैं। कोई मुश्किल हल होने वाली नहीं है। क्योंकि मुश्किल कोई आदमी की बनायी हुई नहीं है। वह एक्जिस्टेंशियल है, अस्तित्व में है। आदमी की बनायी हुई हो तो हम हल कर लें। पहेलियाँ आदमी की बनायी हुई हों, तो हम हल कर लें। बच्चों की किताब होती है गणित की, तो ऊपर सवाल लिखा रहता है, पन्ना उल्टा के पीछे जवाब लिखा रहता है। जिन्दगी में ऐसा कहीं किताब उलटाने का उपाय नहीं कि उल्टा लो जिन्दगी की किताब पीछे और देख लो कि उत्तर क्या है। इसीलिए तो जिन्दगी में नकल नहीं चलती। जिन्दगी में नकल का कोई उपाय नहीं है। करियेगा कहाँ और किसकी करियेगा। उल्टा कर देखने की कोई स्थिति नहीं

है कि जिन्दगी की किताब को उलटा लो और देख ली कि उत्तर क्या है ? अज्ञान है, उत्तर कुछ है नहीं।

तो उसने एक सवाल बना रखा था। वह कहता कि तुम, मेरी तकलीफ हल कर दो तो मैं तुम्हारी हल कर दूंगा। पूछने वाला आदमी आश्वस्त होता, कि चलो ठीक है, एक आदमी तो मिला, जो कहता है, मैं तुम्हारी तकलीफ हल कर दूंगा। लेकिन उसे पता नहीं कि वह एक बड़ी कण्डीशन साथ में रख रहा है कि पहले तुम मेरी तकलीफ हल कर दो, तो मैं तुम्हारी हल कर दूंगा। तकलीफ यह थी, रिनझाई कहता कि मैंने एक बोतल में एक मुर्गी का अण्डा रख दिया था। अण्डा फूट गया। मुर्गी बड़ी होने लगी। मैं उसको बोतल के मुंह से खाना खिलाता रहा। अब मुर्गी बहुत बड़ी हो गयी है। बोतल का मुंह छोटा है। मुर्गी को बाहर निकालना है और बोतल को तोड़ना नहीं है। कुछ रास्ता बताओ। बोतल तोड़नी नहीं है, बोतल कीमती है। और मुर्गी बड़ी हो गयी है, फंस गयी है बोतल में बिलकुल। मुंह इतना छोटा है कि मुंह से निकल नहीं सकती। ध्यान रखना, वह हम सब कोशिश कर चुके, इसलिए यह मत कहना कि मुंह से निकाल लो। मुंह से निकलती नहीं है, बोतल तोड़नी नहीं है। और मुर्गी अगर ज्यादा देर रह गयी तो मर जायेगी। उसके जिम्मेदार तुम रहोगे। ज्यादातर आदमी तो घबरा जाते, कहते कि आप कैसी बातें कर रहे हैं! लेकिन अगर कोई आदमी कहता कि मैं कोशिश करूँगा, सोचता हूँ, विचारता हूँ, तो रिनझाई कहता कि बगल के कमरे में चले जाओ। ध्यान करो—मेडीटेट आन इट। मुर्गी बन्द है, जान संकट में है, देर मत लगाना। ध्यान तेजी से करना, गहरा करना। क्योंकि मुर्गी किसी भी क्षण मर सकती है।

उस बगल के कमरे की दूसरी तरफ भी उसने एक दरवाजा रख छोड़ा था। जब आधा घण्टे बाद वह दरवाजा खोलता तो दूसरे दरवाजे से आदमी भाग गया होता। लौट कर रिनझाई दूसरों से कहता—दी गूज इज आउट। मुर्गी भाग गयी। मुर्गी बोतल के बाहर निकल गयी। बोतल खाली पड़ी है।

सिर्फ एक आदमी ने रिनझाई को एक दफा उत्तर दिया। लेकिन वह आदमी वह नहीं था, जो रिनझाई से कुछ पूछने आया हो। एक दिन सुबह वह आदमी आकर बैठ गया रिनझाई के पास। रिनझाई ने कहा, कुछ पूछना है? उस आदमी ने कहा कि तुम्हें कुछ बताना है? हमें तो कुछ पूछना नहीं है। कोई कुछ बताने को उत्सुक हो, तो बता दे। रिनझाई जरा चौंका, सोचा, यह आदमी खतरनाक है। या तो मुर्गी मार डालेगा या बोतल तोड़ देगा। फिर भी कोई उपाय न था। रिनझाई की इतनी पुरानी आदत थी उस पहेली को पूछने की। वह रुक न

कथा पूछने से। उसने कहा, नहीं, कुछ बताना तो नहीं है। असल में हम खुद एक मुसीबत में हैं। उस अजनबी ने कहा, बोलो! कही अपनी कथा रिनझाई ने उससे पूरी। अब पूरी कह चुका तो उस आदमी ने उठ कर रिनझाई की गर्दन पकड़ ली। रिनझाई ने कहा, मुर्गी मेरे भीतर नहीं, बोतल के भीतर है। लेकिन उस आदमी ने कहा, मैं मुर्गी को अभी निकाले देता हूँ। और उस आदमी ने कहा, मुर्गी बोतल के बाहर है, बोलो! रिनझाई ने कहा, है।

जीवन कोई पहेली नहीं है। जो उसे पहेली बनाते हैं, वे मुश्किल में पड़ जाते हैं। जिन्दगी कोई प्रश्न नहीं है। जो प्रश्न बनाते हैं, उन्हें उत्तर खोजना पड़ता है। और सब उत्तर उलझाते चले जाते हैं। **जीवन तो है एक खुला रहस्य—ओपन सीक्रेट**। जीवन बिलकुल खुला है, आँख के सामने है, चारों तरफ। कहीं भी छिपा नहीं है। कोई पर्दा नहीं है। फिर भी रहस्य है। रहस्य और पहेली में फर्क होता है। पहेली का मतलब होता है, जो खुली नहीं है, लेकिन खुल सकती है। **रहस्य का मतलब होता है, जो खुला ही हुआ है और फिर भी खुला हुआ नहीं है**। रहस्य का मतलब है, जो बिलकुल खुला हुआ है और फिर भी इतना गहरा है कि तुम अनन्त-अनन्त यात्रा करो, फिर भी पाओगे कि सदा जानने को शेष रह गया है। **पूर्ण से पूर्ण बाहर निकल आये, तो भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाय तो भी पूर्ण उतना ही रहता है, जितना है**। इस रहस्यमयता की, इस मिस्टीरियसनेस की सूचना देने वाला यह सूत्र है। यह एक इशारा है। इशारा है इस बात का कि जो इस सूत्र को राजी हो जायेगा, वह जीवन में प्रवेश कर सकता है। जो इस सूत्र को कहेगा कि नहीं, यह नहीं हो सकता, वह दरवाजे के बाहर ही रह जायगा। वह दरवाजे के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता।

रहस्य है जीवन। रहस्य का मतलब है तर्कातीत। तर्क के नियम आदमी ने अपनी बुद्धि से खोजे हैं। तर्क के नियम कहीं प्रकृति में लिखे हुए नहीं हैं। प्रकृति तर्क के नियम सप्लाई नहीं करती। प्रकृति कोई तर्क का नियम नहीं देती। तर्क के नियम आदमी निर्मित करता है। कामचलाऊ हैं। लेकिन भूल जाते हैं हम कि कामचलाऊ हैं। हमारे सब नियम ऐसे ही हैं, जैसे हमारे खेल के नियम होते हैं—रूल्स आफ द गेम। शतरंज का खेल है—घोड़ा है, हाथी है, सब हैं। सबकी चालें बँधी हैं। भारी गम्भीरता से खिलाड़ी खेलते हैं। सच तो यह है कि शतरंज के खेल में जितने गम्भीर लोग दिखायी पड़ते हैं, उतने शायद असली जिन्दगी में भी दिखायी नहीं पड़ते। तलवारें खिंच जाती हैं। लकड़ी के घोड़े बिछाये हुए हैं। लकड़ी के हाथी बनाये हुए हैं। लकड़ी के प्यादे हैं, राजा हैं।

मगर जब खेल में लीन होते हैं, तो बिलकुल भूल जाते हैं कि नकलों का काम कर रहे हैं। कि कोई घोड़ा नहीं है, कोई हाथी नहीं है, कोई राजा नहीं है, कोई प्यादा नहीं है, सब माना हुआ है।

जिन्दगी के भी सब तर्क के नियम ठीक ऐसे ही हैं। सब माने हुए नियम हैं। कोई नियम नहीं है, जो प्रकृति ने हमें दिया हो, जो जीवन ने हमें दिया हो। सब हमने थोपे हैं। हमारे नियम वैसे ही हैं, जैसे सड़क पर चलने के, ट्रैफिक के नियम होते हैं। बायें चलो, कि दायें चलो। हिन्दुस्तान में लोग बायें चलते हैं, अमरीका में लोग दायें चलते हैं। उनका नियम है कि दायें चलो। अमरीका में बायें चलो तो पुलिस का आदमी पकड़ कर थाने ले जायगा। इधर दायें चलो, तो पुलिस का आदमी पकड़ कर थाने ले जायगा। बड़े अजीब लोग हैं। लेकिन एक बात पक्की है कि कहीं न कहीं चलना पड़ेगा, दायें चलो कि बायें चलो। कोई भी नियम बनाओ। लेकिन एक नियम बनाना पड़ेगा, क्योंकि रास्ते पर भीड़ है और चलना है। लेकिन धीरे-धीरे, बायें चलते-चलते ऐसा लगने लगता है कि बायें चलने में कोई अल्टीमेटनेस है, कोई आत्यंतिकता है। कि बायें चलने में कोई बड़ी गहरी व्यवस्था है। कोई व्यवस्था नहीं है। सब हमारी थोपी हुई व्यवस्था है।

हमारे सब तर्क के नियम भी हमारी व्यवस्था है। काम चलाने के लिए बिलकुल जरूरी है। लेकिन धीरे-धीरे हम इतने फँस जाते है उनमें कि उनको पूरी जिन्दगी के रहस्य पर फैलाने की कोशिश करते हैं। कोशिश करते हैं इस बात की कि जिन्दगी हमारे नियम मान कर चले। और जिस दिन कोई आदमी जिन्दगी को अपने नियम मनवाने लगता है, उसी दिन पागल हो जाता है। पागल-पन का एक ही लक्षण है। स्वस्थ मनुष्य मैं उसे कहता हूँ, जो जिन्दगी के रहस्य को मान कर चलता है। और पागल आदमी उसको कहता हूँ, जो अपने नियमों को जिन्दगी पर थोपने की कोशिश कर रहा है। फिर कठिनाई खड़ी होनी शुरू होती है। और हमने सब थोपे हुए हैं हमारे नियम।

तर्क के एक-दो नियमों को हम समझ लें तो इस सूत्र को समझने में आसानी हो जायेगी। तर्क के कुछ बुनियादी नियमों में से एक है कि अ, अ है और ब, ब नहीं हो सकता—ए इज ए, ए कैननाट बी बी। ठीक है। बिलकुल ठीक है। अ, अ है, अ, ब नहीं हो सकता। लेकिन जिन्दगी में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अपने से भिन्न में न बदल जाती हो। और जिन्दगी में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अपने से विपरीत में भी न बदल जाती हो। जिन्दगी में सब चीजें तरल हैं, जिन्दगी में सब चीजें बदलती हैं। रात दिन बन जाती है, फिर दिन रात हो जाता है। बचपन

जवानी बन जाता है, जवानी बुढ़ापा हो जाती है। जिन्दगी मौत बन जाती है। ज़हर अमृत हो जाता है कभी। सब औषधियाँ ज़हर हैं। बीमार के लिए अमृत बन जाती हैं। जिन्दगी में तरलता है, नियमों में होती है सख्ती। क्योंकि नियम जिन्दा तो होते नहीं। इस कमरे में हम इतने लोग बैठे हैं। अगर घण्टेभर बाद मैं आऊँ और मैं यह आशा करूँ कि आप मुझे वहीं और वैसे ही बैठे मिलेंगे, जहाँ और जैसे छोड़ गया था। तो या तो मैं पागल हूँ, जो यह आशा कर रहा हूँ। या आप पागल होंगे अगर लौट कर मैं आपको वहीं बैठा पाऊँ। कुछ गड़बड़ जरूर है। या मुर्दा आदमी बैठे होंगे। जिन्दा आदमी तो बदल गये होंगे।

एक गाँव में ऐसी एक बार दिक्कत हो गयी। एक तर्कशास्त्री—और तर्कशास्त्री से जैसी दिक्कतें होती हैं उनके हिसाब लगाने बड़े मुश्किल हैं—गया था सुबह-सुबह नाई की दूकान पर बाल बनवाने। बाल बनवा लिये। पास में रुपया पूरा था। आठ आने दाम होते थे। नाई ने कहा कि बाकी पैसे कल ले जाना। तर्कशास्त्री ने सोचा कि कल! अगर यह आदमी कल तक बदल गया तो प्रमाण क्या है? स्वभावत: तर्कशास्त्री प्रमाण चाहता है। सोचा, अगर यह आदमी कल अपना धन्धा ही बदल ले, समझ लो कि मिठाई की दूकान खोल ले, नाईबाड़ा बन्द कर दे। तो अगर मैं किसीसे कहूँ भी कि मैंने इस आदमी से बाल बनवाये थे तो लोग हँसेंगे, कहेंगे कि यह मिठाई वाला है! तो कुछ ऐसी तरकीब करूँ कि यह आदमी न बदल पाये। उसने बहुत खोजबीन की। देखा कि एक भैंस नाईबाड़े के सामने बैठी है। उसने सोचा कि ठीक है। भैंस को समझाना बहुत मुश्किल है। भैंस काफी थिर चीज है। तर्क के नियमों जैसी। जम कर बैठती है। सड़क के कानून नहीं मानती, कोई नियम नहीं मानती। इसको नाई शायद ही समझा पाये। तर्कशास्त्री नहीं समझा पाये तो नाई क्या समझा पायेगा। ठीक है, पक्का देख कर कि भैंस सामने बैठी है, चला गया। दूसरे दिन आया। देखा, अपनी भैंस खोजी, भैंस बैठी थी। सामने देखा, बोला कि हो गयी वही शरारत, जो होनी थी। सामने मिठाई की दूकान थी। दौड़ कर मिठाई वाले की गर्दन पकड़ ली और कहा कि शक तो मुझे कल ही हो गया था, इसलिए इन्तजाम मैं पक्का करके गया था। हद कर दी तूने भी आठ आने के पीछे, जाति तक बदल डाली!

तर्कशास्त्री को, बेचारे को, पता नहीं कि भैंस तर्क के नियम नहीं मानती, फिक्स्ड नहीं है, रातभर में चल गयी, मिठाई वाले के सामने बैठ गयी। तर्क के नियम तो मुर्दा हैं। मरे हुए हैं। जिन्दगी जीवंत धारा है। जो उनको तर्क के नियमों के ऊपर फिक्स कर जिन्दगी को पकड़ने की कोशिश करता है, उसके हाथ में मरी हुई चीजें आती हैं। वही, तर्क के जाल को तोड़ कर जो जिन्दगी में कूदता है, वही जिन्दगी के

सत्य को जान पाता है। इसलिए वह सूत्र कहता है, तर्क के सब पाश तोड़ दो। इस सूत्र का इशारा मैं कह रहा हूँ—अभिप्राय, अर्थ नहीं। अर्थ तो मैंने पहले दिन आपसे कहा। वह अभिप्राय है कि तर्क के सब नियम तोड़ दो। तर्क के नियम मानोगे तो जिन्दगी में जाना मुश्किल होगा।

प्लेटो यूनान का बहुत बड़ा तर्कशास्त्री हुआ। कहना चाहिए पिता। बड़ी एकेडेमी थी उसकी, जहाँ वह लोगों को तर्क सिखाता था। डायोजिनीज नाम का एक फकीर—बहुत मस्त फकीर, कम ही लोग वैसे हुए हैं, महावीर जैसा आदमी, नग्न ही रहता था—वह भी एक दिन घूमता हुआ एकेडेमी में पहुँच गया। वहाँ क्लास चलती थी। प्लेटो समझा रहा था। प्लेटो बड़ा तर्कशास्त्री था। हमारे मुल्क में प्लेटो के लिए जो नाम प्रचलित है, वह है अफलातून। इसलिए अगर कोई आदमी बहुत तर्क-वर्क की बात करने लगे तो लोग कहते हैं कि बड़े अफलातून हो गये। अफलातून प्लेटो का नाम है। प्लेटून से अफलातून बन गया। बड़े अफलातून हो गए आप। प्लेटो इतना बड़ा तार्किक था कि अगर कोई भी तर्क करे—गाँव में भी तो लोग कहते हैं कि बड़े अफलातून हो गये। कहने वाले को भी पता नहीं कि अफलातून किसका नाम है। वह तो एथेंस में हुआ ढाई हजार साल पहले। डायोजिनीज पहुँच गया एक दिन घूमता हुआ प्लेटो की एकेडेमी में, जहाँ वह तर्कशास्त्र पढ़ाता था। वह पढ़ा रहा था। एक विद्यार्थी ने खड़े होकर प्लेटो से पूछा कि आदमी की परिभाषा क्या है—हाऊ यू डिफाइन मैन? आदमी की आप क्या व्याख्या करते हैं? तो प्लेटो ने कहा कि आदमी बिना पंखों वाला दो पैर का जानवर है। टू लेग्ड एनिमल विदाउट फीदर। व्याख्या तो हो गयी। पंख नहीं हैं, दो पैर वाला जानवर है। डायोजिनीज पीछे खड़ा सुन रहा था। वह खिलखिला कर हँसा। प्लेटो ने पूछा कि आप क्यों हँस रहे हैं? उसने कहा, अभी मैं इस परिभाषा का उत्तर भेजता हूँ। वह बाहर गया, उसने एक मुर्गे को पकड़ा। उसके सारे पंख नोचकर अलग फेंक दिये। मुर्गे को भेज दिया और कहा कि दिस इज योर डेफिनीशन आफ मैन—टू लेग्ड एनिमल विदाउठ फीदर। पंख नहीं हैं, दो पैर का जानवर है। प्लेटो से कहा उसने, अपनी परिभाषा बदलो। और अब तुम दूसरी परिभाषा बना लो तो मुझे भेज देना। मैं उसका भी उत्तर भेज दूंगा।

कहते हैं, प्लेटो ने फिर परिभाषा नहीं बनायी। झंझट का आदमी, मुर्गे के पंख तोड़ कर भेज दिये, और पता नहीं क्या करे? डायोजिनीज कई बार उसके दरवाजे पर दस्तक देता कि प्लेटो, कोई परिभाषा बनी? प्लेटो कहता, भाई, अभी नहीं बना पाया। आखिर एक दिन प्लेटो थक गया और डायोजिनीज से कहा, मुझे माफ करो, गलती हो गयी कि मैंने वह परिभाषा की। तुम कब तक

मेरा पीछा करोगे ! डायोजिनीज ने कहा, मैं यही सुनना चाहता था कि तुम गलती स्वीकार कर लो। आदमी की क्या, पत्थर के टुकड़े की भी परिभाषा नहीं हो सकती। जीवन अव्याख्येय है, इनडिफाइनेबल है। किसी चीज की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। यही चाहता था कि इतना तुम स्वीकार कर लो तो मैं जाऊँ। नाहक मुझे भी परेशान होना पड़ रहा है तुम्हारी व्याख्या के लिए।

तर्क के नियम तो होते हैं थिर (Fixed) और जीवन होता है तरल, बहता हुआ। एक तरंग दूसरी तरंग में बदल जाती है। जब तक तुम व्याख्या करो, तब तक कुछ और हो गया। जिस आदमी को तुमने क्रोधी कहा, जब तक तुमने क्रोधी कहा, वह क्षमा कर रहा है। फिर क्या करोगे ? सच तो यह है कि जब तक तुमने कहा यह आदमी क्रोधी है तब तक क्रोध जा चुका होगा। इस जिन्दगी में टिकता क्या है ? तब तक क्रोध उतार पर होगा। तुम्हारी व्याख्या गलत हो जायेगी। **व्याख्या सब अतीत की होती है और जिन्दगी सदा वर्तमान है।** जिन्दगी सदा बदल जाती है। सदा बदल रही है। प्रतिपल बदल रहा है सब। और व्याख्याएँ तो ठहर जाती हैं जम कर। व्याख्याओं में कोई ग्रोथ तो होती नहीं। कोई बदलाहट तो होती नहीं। व्याख्याएँ तो ऐसी हैं, जैसे हम फोटोग्राफ ले लेते हैं। जैसे मेरा किसीने फोटोग्राफ ले लिया तो मैं तो बूढ़ा होता जाऊँगा, फोटोग्राफ वैसा का वैसा ही बना रहेगा। जिन्दगी तो जिन्दा आदमी जैसी है, बदलती जा रही है। और व्याख्या जड़ बन जाती है। वह रुक जाती है।

यह सूत्र कहता है, नहीं कोई व्याख्या है जीवन की, नहीं कोई तर्क है जीवन का। जीवन एक रहस्य है। तर्तूलियन एक ईसाई फकीर हुआ। किसीने तर्तूलियन को पूछा कि तुम ईश्वर को क्यों मानते हो ? कारण क्या है तुम्हारे मानने का ? तर्तूलियन ने कहा, कारण ! जब मैंने जिन्दगी में देखा कि कोई कारण किसी चीज के लिए नहीं है, तब मैंने सोचा कि ईश्वर को मानने में अब कोई हर्जा नहीं रहा। **अकारण जब जिन्दगी है पूरी तो ईश्वर को भी अकारण माना जा सकता है।** और अगर तुम नहीं मानते, और पूछते ही हो मुझसे तो मैं ईश्वर को इसलिए मानता हूँ कि ईश्वर बिलकुल तर्कशून्य है,—एब्सर्ड है। जो शब्द उसने उपयोग किया, वह है एब्सर्ड। उसने कहा कि ईश्वर बिलकुल एब्सर्ड है। इसलिए मैं भरोसा करता हूँ कि वह ठीक होगा। क्योंकि मैंने सब नियम देखे छान-बीन कर, गलत पाये। सब तर्क के मैंने हिसाब देखे और गलत पाये। जितनी व्याख्याएँ खोजीं, गलत पायीं। जिन-जिन बातों को मैंने बुद्धि से समझा ठीक है, आखिर में गलत निकलीं। अब मैंने बुद्धि छोड़ दी। अब मैं निर्बुद्धि होकर मानता हूँ।

श्रद्धा का यही अर्थ है। यह सूत्र श्रद्धा का सूत्र है। श्रद्धा का अर्थ है जम्पिंग इन

[illegible]। श्रद्धा का अर्थ है अज्ञात में छलांग। श्रद्धा का अर्थ है समस्त नियमों, समस्त व्याख्याओं, समस्त परिभाषाओं को, समस्त धारणाओं को छोड़ कर अज्ञात में, इमपोन्डरेबल में, असीम में छलांग। बुद्धि को छोड़ कर निर्बुद्धि में छलांग। ध्यान रहे, जीवन का सत्य जिन्होंने बुद्धि से खोजा, वे तो हैं फिलासफर, दार्शनिक। वे कुछ नहीं खोज पाये आज तक। हजारों किताबें लिखी हैं दार्शनिकों ने, लेकिन कोरे शब्दों का जाल। कुशल हैं वे शब्दों में। वे जाल भी फैलाते हैं तो कुशलता से। और इतना बड़ा फैलाते हैं कि आपको मुश्किल हो जाता है उसके बाहर निकलना। लेकिन कुछ भी उन्हें पता नहीं है—कुछ भी। जिन्होंने जीवन के सत्य को जाना वे दूसरे लोग हैं—वे हैं सन्त, वे हैं ऋषि। वे वे लोग हैं, जिन्होंने कहा कि शब्द में हम नहीं उतरते, हम तो अस्तित्व में ही उतरते हैं। क्यों हम जायें पता लगाने कि गंगा क्या है। जब गंगा बह रही है तो हम गंगा में ही क्यों न डूब कर जान लें कि गंगा क्या है। शास्त्र में लिखा होगा कि गंगा क्या है। ग्रंथालय में किताबें रखी होंगी, जिनमें लिखा होगा कि गंगा क्या है। लेकिन हम गंगा को ग्रंथालय में खोजने क्यों जायें? जब गंगा ही मौजूद है तो हम गंगा में ही उतर कर स्नान क्यों न कर लें। हम गंगा को गंगा में ही क्यों न जानें।

दो रास्ते हैं जानने के—अगर मुझे प्रेम के सम्बन्ध में जानना हो तो मैं पुस्तकालय में भी जा सकता हूं। वहां प्रेम के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा हुआ रखा है। वह सब मैं जान ले सकता हूं। एक रास्ता और है कि मैं प्रेम में ही उतरूं। निश्चित ही पहला रास्ता सुगम है। इसलिए कमजोर लोग पुस्तकालय का रास्ता पकड़ लेते हैं। सुगम है किताब में प्रेम को पढ़ना, वह कोई बड़ी कठिन बात नहीं है। बच्चे भी पढ़ सकते हैं। लेकिन प्रेम को जानना तो बड़ी आग से गुजरना है—बड़ी तपश्चर्या से, बड़ी अग्नि-परीक्षा से। प्रेम को जानना एक बात है और प्रेम के सम्बन्ध में जानना बिलकुल दूसरी बात है। इन दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। सत्य को जानना एक बात है, सत्य के सम्बन्ध में जानना बिलकुल दूसरी बात है। सत्य के सम्बन्ध में जो भी जाना जाता है, सब उधार है, सब बासा है। सत्य को जिन्हें जानना है, उन्हें अपनी बुद्धि से छलांग लगानी पड़ेगी।

एक मित्र दो दिन पहले मेरे पास आये। उन्होंने कहा कि मैं जो भी चीज सुनता हूं, उस पर ही मुझे शक होता है, सन्देह होता है। आप भी जो कहते हैं, उस पर मुझे सन्देह होता है। आप आगे भी जो कहेंगे, मैं अभी से कह देता हूं कि मुझे उस पर सन्देह होगा। फिर भी मैं कुछ प्रश्न लाया हुआ हूं, उनके आप उत्तर दें। मैंने कहा कि फिर उत्तर लेकर क्या करेंगे। क्योंकि तुम कहते हो

कि जो भी मैं कहूँगा, उस पर तुम्हें सन्देह होगा। तुम अपने सन्देह से स्वीकार किये नहीं तो मुझे क्यों नाहक परेशान करते हो ? तुम अपने सन्देह में जियो। मुझसे पूछने क्यों आये हो ? अगर सन्देह ही करना है, तो किसीसे पूछने मत जाओ। क्योंकि दूसरे से पूछोगे, तो दूसरा अपना जानना कहेगा, वह तुम्हारा जानना बन नहीं सकता, उस पर तुम्हें सन्देह होगा। जिन्दगी चारों तरफ फैली है—फूल खिले हैं, पक्षी नाच रहे हैं। आकाश में बादल उड़ रहे हैं, सूरज निकला है। तुम्हारे भीतर प्राण धड़क रहे हैं। जीवन का अनन्त विस्तार है। कूदो उसमें, जाओ, वहाँ जानो। मुझसे पूछने क्यों आये हो ? और जब तुम कहते हो, पूछ कर मैं सन्देह तो करूँगा ही। तो पूछना व्यर्थ है। और एक बात कहना चाहूँ उनसे, कि सन्देह करते रहोगे, बहुत अच्छा है। लेकिन वह दिन कब आयेगा, जब अपने सन्देह पर भी सन्देह करोगे ? जब यह सन्देह आयेगा कि यह सन्देह कहीं ले जायगा कि नहीं। जिस आदमी को सन्देह ही करना है, तो फिर पूरा कर ले—डाउट दी डाउट इटसेल्फ। तब आखीर मे अपने सन्देह पर भी सन्देह करो कि वह जो मैं सन्देह कर रहा हूँ, इससे कुछ मिलेगा ? छोड़ो, मिलेगा कि नहीं। इतने दिन सन्देह किया है, उससे कुछ मिला ? अगर इतने दिन सन्देह करके कुछ नहीं मिला और सन्देह पर सन्देह पैदा नही होता, तो फिर सन्देह पूरा नही कर रहे हो।

ध्यान रहे, श्रद्धा दो तरह से आती है। या तो सन्देह ही मत करो, जो कि अति कठिन है। या फिर सन्देह पर भी सन्देह करो। दो ही रास्ते हैं। या तो सन्देह ही मत करो, कूद जाओ। और या फिर सन्देह ही करते हो, तो गहरा सन्देह करो कि सन्देह पर भी सन्देह आ जाय। सन्देह सन्देह को काट दे और तुम सन्देह से खाली हो जाओ। लेकिन किसी भी तरह—चाहे कोई सन्देह न करके, या कोई सन्देह बहुत करके जिस दिन भी सन्देह के बाहर जाता है, उसी दिन बुद्धि के बाहर जाता है। बुद्धि सन्देह का सूत्र है। ऐसा नहीं है कि आपकी बुद्धि सन्देह करती है। बल्कि ऐसा कि आपकी बुद्धि सन्देह है—और इन्टलेक्ट इज द डाउट। जो सरल हों, वे इस सूत्र को समझ कर सन्देह न करें। जो जटिल हों, वे इस सूत्र को समझ कर पूरा सन्देह करें—टोटल डाउट। दोनों स्थितियो में श्रद्धा उपलब्ध हो जायेगी। दोनों स्थितियो में छलांग लग जायेगी और श्रद्धा का जन्म हो जायगा।

यह सूत्र श्रद्धा का सूत्र है। इसे वे समझेंगे, जो श्रद्धा को समझेंगे। जो तर्क को समझेंगे, वे इसे नहीं समझ पायेंगे, क्योंकि तर्क तो इसमें कहीं बैठेगा नहीं। पूर्ण से पूर्ण निकल जाता है, पीछे पूर्ण बच जाता है। तर्क के लिए यह नहीं हो

सकता । यह कैसे होगा ? तर्क नहीं मानेगा कि यह हो सकता है । हाँ, श्रद्धा मान लेगी । श्रद्धा कूद सकती है । श्रद्धा अति साहसी है । श्रद्धा ट्रस्ट है, अस्तित्व के ऊपर भरोसा है । कि जिस अस्तित्व ने मुझे जन्म दिया, जिस अस्तित्व ने मुझे बड़ा किया, जिस अस्तित्व ने मुझे शक्ति दी, सोच-विचार दिया, प्रेम दिया, हृदय दिया, उस अस्तित्व पर थोड़ा भरोसा मैं भी दे सकता हूं या नहीं । जिस अस्तित्व ने मुझे जीवन दिया, उसको मैं श्रद्धा भी नहीं दे सकता ? जिसने मुझे प्राण दिये, जिसने मुझे होश दिया, जिसने मुझे चेतना दी, उसको मैं थोड़ा-सा मैत्रीपूर्ण भरोसा भी नहीं दे सकता ? एक कॉमन ट्रस्ट भी नहीं दे सकता ? तो फिर कृतघ्नता की सीमा आ गयी । अनग्रेटफुलनेस की सीमा आ गयी । फिर अकृतज्ञ होने की हद हो गयी ।

यह सूत्र श्रद्धा की मांग करता है । इशारा करता है कि श्रद्धा से ही जीवन का द्वार खुलेगा । श्रद्धा से ही जीवन के शिखर पर पहुंचना होगा । यह इसका अभिप्राय है । अन्तिम रूप से एक बात और समझ लें कि पूर्ण की क्यों बात है । शुरू में पूर्ण की बात, अन्त में पूर्ण की बात, पूर्ण की यह बात क्यों है ? जिन्दगी में तो सब अपूर्ण मालूम पड़ता है । अच्छा होता कि अपूर्ण की बात करते, तो यह तथ्य होता—यथार्थवादी होता । जीवन में तो कहीं कुछ पूर्ण मिलता नहीं । न कोई व्यक्ति पूर्ण दिखायी पड़ता है, न कोई प्रेम पूर्ण दिखायी पड़ता है । न कोई शक्ति पूर्ण दिखायी पड़ती है, न कोई आकार पूर्ण दिखायी पड़ता है । जीवन में तो सब अपूर्ण है । और ईशावास्य के ऋषि को क्या सूझा कि पूर्ण से चर्चा शुरू करता है और पूर्ण पर ही चर्चा पूरी करता है ! इसलिए जो यथार्थवादी हैं, वह कहेंगे—अनरियलिस्टिक—यह कोई यथार्थवादी बात नहीं है । यह काल्पनिक आकाश में उड़ने वाले लोगों की बातें हैं । कहां है पूर्ण ? नहीं, लेकिन यह इशारा है । यह इशारा इस बात का है कि जहां भी आपको अपूर्ण दिखायी पड़ता हो, अपूर्णता आपकी दृष्टि में होगी, अपूर्ण कहीं भी नहीं है । अपूर्ण कहीं है ही नहीं । और अपूर्ण हमें सब जगह दिखायी पड़ता है । असल में अपूर्णता हमारी दृष्टि में है ।

हमारी हालत ऐसी है, जैसे कोई आकाश को एक खिड़की से देखे—अपने घर की खिड़की से । हम सभी देखते हैं । घर की खिड़की से कोई आकाश को देखे तो आकाश भी खिड़की के आकार में कटा हुआ मालूम होगा । स्वभावतः खिड़की का ढांचा आकाश का ढांचा हो जायगा । स्वभावतः खिड़की की सीमा आकाश की सीमा बन जायेगी । और अगर किसी खिड़की के बाहर निकल कर, [illegible] के बाहर निकल कर कभी खुले आकाश को न देखा हो, तो अगर यह कहा जाय कि आकाश असीम है, तो कुछ [illegible] है ? [illegible] नहीं

है। ऐसा आकाश चौखटा दिखायी पड़ा है। अब भी अपनी खिड़की से देखा तभी चौखटे में कसा हुआ दिखायी पड़ा। लेकिन यह ख्याल आपको आना मुश्किल होगा कि आकाश पर कोई चौखटा नहीं है। चौखटा आपकी खिड़की पर है। आकाश के ऊपर कोई फ्रेम नहीं है। फ्रेम आपका दिया हुआ है। आकाश तो बिलकुल निराकार है। लेकिन नहीं, मकान के बाहर भी जाकर आकाश निराकार कहीं दिखायी पड़ता है। चौखटा जरा बड़ा हो जाता है, बस—पूरी पृथ्वी का हो जाता है। आकाश निराकार फिर भी नहीं दिखायी पड़ता। चौखटा बड़ा हो जाता है, पृथ्वी का हो जाता है, इसलिए आकाश चारों तरफ पृथ्वी को घेरे हुए गोल दिखायी पड़ता है—गुम्बज की भाँति। मन्दिरों के गुम्बज उसी आधार पर बनाये गये हैं। अब भी आप खिड़की के भीतर ही खड़े हैं। खिड़की बड़ी हो गयी, पृथ्वी की हो गयी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जायें, बढ़ें आगे, आकाश कहीं पृथ्वी को छूता नहीं। घूमें पृथ्वी के चारों ओर, आकाश कहीं पृथ्वी को छूता नहीं। कहीं कोई गोल चौखटा नहीं है। कोई क्षितिज, कोई हॉरीजन नहीं है। क्षितिज बिलकुल वैसा ही झूठ है, जैसे कि आपकी खिड़की का चौखटा आकाश का चौखटा नहीं है और झूठ है। छोड़ें पृथ्वी को भी। अन्तरिक्ष यान में ऊपर उठ जायें। तब भी आप जो देखेंगे, वह भी एक स्थिति से दर्शन होगा—फ्राम ए स्टेज। एक जगह से देखेंगे आप। और वह जगह ही उसकी सीमा बन जायेगी। वह जगह कितनी ही बड़ी हो, उसकी सीमा बन जायेगी।

फिर कहाँ जायें, जहाँ से निराकार का दर्शन हो, पूर्ण का दर्शन हो?

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, वैसी एक ही जगह है—अपने भीतर, जहाँ कोई खिड़की नहीं है। जहाँ कोई चौखटा नहीं है। छोड़ें सभी इन्द्रियों को, क्योंकि जहाँ इन्द्रियाँ रहेंगी, वहाँ चौखटा रहेगा। इन्द्रियाँ ही चौखटा निर्मित करती हैं। इन्द्रियाँ खिड़कियाँ हैं। इन खिड़कियों से हम देखेंगे कहीं भी, आकार निर्मित होगा। लेकिन आँख बन्द कर लो। भीतर चले जाओ। आँख को छोड़ो, रहित हो जाओ आँख से। कान को छोड़ो, रहित हो जाओ कान से। छोड़ो हाथ-पैर, रहित हो जाओ शरीर से। भीतर चले जाओ, वहाँ सब निराकार है। वहाँ पूर्ण का अनुभव होगा।

यह ऋषि ने जो पूर्ण की बात कही है, भीतर के पूर्ण को जान कर ही पता चलता है कि वही है। और जिसे भीतर का पूर्ण पता चल गया, वह कहीं भी चला जाय, कैसी ही खिड़कियों के भीतर चला जाय, उसे पूर्ण का ही दर्शन होगा। जिसने बाहर निकल कर आकाश एक दफा देख लिया, वह फिर कैसी भी छोटी खिड़की के पीछे खड़ा हो जाय, वह भलीभाँति जानेगा कि जो आकाश चौखटे

में दिखायी पड़ रहा है, वह चौखटा मेरी खिड़की का है, आकाश का नहीं। एक बार जिसने भीतर के पूर्ण को देख लिया, उसे सब जगह पूर्ण दिखायी पड़ने लगता है। कितने ही चौखटों में हो घिरा, कितने ही कारागृहों में बन्द। वह जानता है, कारागृह ऊपर से बैठे हुए हैं, भीतर से निराकार मौजूद है। इसलिए ऋषि पूर्ण से बात शुरू करता है और पूर्ण पर ही समाप्त करता है। लेकिन हम तो अपूर्ण में ही जीते हैं, अपूर्ण में ही शुरू करते, अपूर्ण में ही समाप्त करते हैं। हमारा इस सूत्र से ताल-मेल कहाँ बैठे। हम तो पीठ करके खड़े हैं, कसीम के बोकड़े की तरह। उपनिषद् के ऋषि खड़े हैं, उनसे हम पीठ लगाये खड़े हैं। उनके शब्द हमें सुनायी पड़ जाते हैं। उनके शब्द हम कण्ठस्थ कर लेते हैं। रोज सुबह उठ कर सूत्र पढ़ लेते हैं। मगर पीठ ऋषि से लगी रहे, तो जो अर्थ हम निकालते हैं, वह व्यर्थ हो जाते हैं।

अन्तिम बात आपसे यह कहना चाहता हूँ कि यह पूर्ण की बात ठीक ही कही है। यही है सच, यही है सत्य। **पूर्ण ही है सब ओर। सभी कुछ पूर्ण है।** अपूर्ण के होने का उपाय नहीं है। अपूर्ण होगा कैसे, अपूर्ण करेगा कौन? वही है अकेला, कोई दूसरा नहीं है, जो अपूर्ण कर सके। वही है अकेला, सीमित करेगा कौन? सीमा तो सदा दूसरे से बनती है। आपके घर की सीमा आप सोचते हैं कि आपके घर से बनती है, तो समझ लेना, गलत सोचते हैं। आपके घर की सीमा आपके पड़ोसी के घर से बनती है। अकेले आपके घर से नहीं बनती। सीमा सदा दूसरे से बनती है। और **परमात्मा है सदा अकेला। अस्तित्व है सदा एक। जीवन की धारा है एक।** दूसरा कोई भी नहीं है, सीमा बनायेगा कौन? कौन करेगा अपूर्ण? नहीं, असीम है अस्तित्व, पूर्ण है अस्तित्व—एब्सलूट, निरपेक्ष। लेकिन उसे हम जान पायेंगे तभी, जब भीतर इस पूर्ण की झलक मिल जाय। **एक बूँद को भी जिसने अपने भीतर जान लिया हो, वह अनन्त-अनन्त सागरों के रहस्य को पा जाता है।** पूर्ण से निकलता है पूर्ण। पूर्ण में ही लीन हो जाता है। बीच में आता है अपूर्ण, हमारी बुद्धि के चौखटों, इन्द्रियों के चौखटों से निर्मित होकर। छोड़ें इन चौखटों को। हटें थोड़ा उनके पार। पीछे सरकें, ट्रांसिट करें, अतिक्रमण करें, और पूर्ण में प्रतिष्ठा हो जाती है। और जिसकी है पूर्ण में प्रतिष्ठा, वही समझ पायेगा अभिप्राय ईशावास्य का।

अब हम अन्त में भीतर की यात्रा पर निकलें। दो मिनट रुक जायें। दो-तीन बातें, अन्तिम दिन हैं, इसलिए ध्यान के लिए आपसे कह दूँ। एक तो छह दिन के प्रयोग ने उस जगह आपको ला दिया है कि आज मैं इस प्रयोग में एक छोटी-सी बात और जोड़ने को कहता हूँ। उसके जोड़ते ही बहुत विस्फोट होगा। उसके

लिए तैयार रहें। यह छोटी-सी बात यह है—आप जब मेरी तरफ देखेंगे, तो लगातार तो देखना ही है, पलक नहीं झपकनी है, साथ ही हू-हू की आवाज हुंकार की तरह करेंगे। यह हुंकार आपके भीतर सोयी हुई कुण्डलिनी पर गहरी चोट करेगी। सूफियों ने 'अल्ला हू' का बड़ा गहरा प्रयोग किया है। अल्लाहू से शुरू करेंगे वह, फिर धीरे-धीरे अल्ला छूट जायगा और हू हू हू रह जायगा। जोर से हू कहें, ख्याल करें, जैसे ही आप हू कहेंगे, वैसे ही आपकी नाभि सिकुड़ जायेगी। नाभि के नीचे जोर से चोट करें—हू। पूरी नाभि सिकोड़ कर इसकी चोट करें। वहीं कुण्डलिनी का वास है। उस पर जोर से धक्का पड़ेगा। अब हम इस हालत में हैं कि करीब-करीब ९५ प्रतिशत मित्र, जो हू की चोट करेंगे, उनके भीतर से ऊर्जा तेजी से लपट की तरह ऊपर की ओर उठेगी। जब लपट की तरह ऊपर की ओर उठेगी ज्योति, तब मैं आपको हाथ से इशारा करूँगा। मेरे इशारे के साथ बिलकुल पागल हो जाना। जब मैं नीचे से ऊपर की तरफ हाथ ले जाऊँ, तब अपने भीतर अनुभव करना कि ऊर्जा उठती है। आग की लपट की तरह वह ऊपर जा रही है। लगे कि सारे प्राण ऊपर उठ रहे हैं, ऊर्ध्वगमन हो रहा है, तब जोर से चिल्लाना हू—नाचना, कूदना और पूरी शक्ति लगाना।

आचार्य श्री रजनीश की महत्वपूर्ण कृतियाँ

१. संभोग से समाधि की ओर : पृष्ठ १८९ : प्रथम संस्करण दिल्ली १९७२ : सजिल्द : रंगीन कवर सहित : [illegible].००

२. महावीर मेरी दृष्टि में
आठ सौ पृष्ठों में वैज्ञानिक, सरल एवं उपयोगी ढंग से लिखी गई यह प्रथम पुस्तक है जिसमें जैन धर्म के सम्पूर्ण सिद्धान्त वस्तु-तथ विधि से समझाये गये हैं।
पृष्ठ ७९० : द्वितीय संस्करण दिल्ली १९७३ : सजिल्द : ३०.००

३. [illegible] : पृष्ठ २३६ : प्रथम संस्करण १९७२ : ७.००

४. मिट्टी के दीये : पृष्ठ १५० : तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण १९७३ ५.००

५. मैं कौन हूँ : पृष्ठ १०१ : तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण १९७३ : ३.००

६. प्रेम है द्वार प्रभु का (तेरह प्रवचनों का संकलन)
पृष्ठ २५६ : द्वितीय संस्करण १९७२ : ९.००

७. सम्भावनाओं की आहट (मनुष्य को स्वयं के अस्तित्व एवं आत्मबोध का परिचय)
पृष्ठ १६२ : द्वितीय संस्करण १९७३ : ६.००

८. कामयोग, धर्म और गाँधी—सं. डा. रामचन्द्र प्रसाद : २२४ पृष्ठ : द्वितीय संशोधित संस्करण १९७२ : ४.००

९. समुन्द समाना बूँद में—सं. डा. रामचन्द्र प्रसाद : पृष्ठ २०८ : प्रथम संस्करण १९७२ : ७.००

१०. घाट भुलाना बाट बिनु—सं. डा. रामचन्द्र प्रसाद : पृष्ठ २२६ : प्रथम संस्करण १९७२ : ७.००

११. आचार्य रजनीश समन्वय, विश्लेषण एवं संसिद्धि—डा० रामचन्द्र प्रसाद : द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रेस में

१२. मैं मृत्यु सिखाता हूँ—मृत्यु और जीवन की संगति का सुन्दरतम ढंग से बोध किया गया है : पृष्ठ ६०० : प्रथम संस्करण १९७३ : सजिल्द : २०.००

BOOKS IN ENGLISH

Books by Rajneesh

13. Path of Self Realization 4.00
14. Seeds of Revolutionary Thoughts 4.50
15. Philosophy of Non-Violence 0.80
16. Who am I ? In Press
17. Earthen Lamps 4.50
18. Wings of Love & Random Thoughts 3.50
19. The Mysteries of Life and Death 4.00

Books on Rajneesh's Teaching

20. Lifting the Veil (Kundaliniyoga) —Dr. R. C. Prasad 10.00
21. The Mystic of Feeling: A Study in the Rajneesh's Religion of Experience —Dr. R. C. Prasad 20.00